बौद्ध साहित्य में भारतीय समाज

बौद्ध साहित्य में भारतीय समाज



डॉ० परमानन्द सिंह
उपाचार्य, इतिहास विभाग,
महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

प्रकाशक :

© हलधर प्रकाशन

४७, अध्यापक आवास, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ

वाराणसी – २२१ ००२. फोन : ३५१६८४

Publisher :

© HALDHAR PRAKASHAN

47, Teacher's Colony, M. G. Kashi Vidyapith

Varanasi-221 002. Ph. : 351684

प्राप्तिस्थान :

बौद्धभारती

पो०बॉ० १०४९, वाराणसी–२२१ ००१. फोन : ३३३०९४

Distributor :

BAUDDHA BHARATI

P. O. Box No. 1049, Varanasi-221 001

Ph. : 333094

प्रथम संस्करण, १९९६

First Edition, 1996

मूल्य : ३००.००

Price : 300.00

मुद्रक :

साधना प्रेस

जे १३/९३ ए–५, कॉटन मिल कालोनी, वाराणसी–२२१ ००२.

Printed By :

SADHANA PRESS

J 13/93 A-5, Cotton Mill Colony, Varanasi-221 002.

समर्पण

उन पूज्य गुरुजनों
एवं
कल्याणमित्रों को सादर सस्नेह,
जिनके सत्परामर्श से
मेरी बौद्धसाहित्य के विषय में
जब-तब लिखी हुई
दो-दो चार-चार पंक्तियाँ
आज इस बृहदाकार ग्रन्थ के रूप में
परिणत हो सकीं।

—*लेखक*

पुरोवाक्

संस्कृत भाषा के प्रसिद्ध काव्य 'गीतगोविन्द' में महाकवि जयदेव ने, भारतीय देवमन्दिरों में धार्मिक श्रद्धा एवं विश्वास के आलम्बन भगवान् विष्णु के दश अवतारों वाले वर्णन–प्रसङ्ग में नवम विष्णु–अवतार के रूप में अवतरित भगवान् बुद्ध की स्तुति करते हुए, लिखा है–

''निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातं, सदयहृदयदर्शितपशुघातम्।
केशव! धृतबुद्धशरीर! जय जगदीश हरे! ॥''

(''ओ करुणापूर्ण हृदय! आप वेदप्रतिपादित यज्ञीय कर्मकाण्डविधि से असहमत होते हुए उस की निन्दा करते हैं, जिसमें कि अकारण पशुवध का विधान है। हे केशव! आपने बुद्ध के रूप में अवतार लेकर समाज में प्रचलित उक्त धार्मिक विधि का प्रबल विरोध कर धर्मभीरु जनसमूह को सम्यक् मार्ग पर आरूढ़ किया; अतः हे हरिपदबोध्य लोकनाथ! आप की जय हो, जय हो!'')

इससे प्रमाणित होता है कि विद्वज्जनों की मान्यता के अनुसार भगवान् बुद्ध ने भारत में अपना कोई नवीन या स्वतन्त्र धर्म प्रतिष्ठापित नहीं किया था, अपितु यह तो उन से भी अधिक प्राचीन सनातन धर्म की ही एक शाखा थी। या उस धर्म से टूटी (पृथक्) हुई एक विद्रोही चिन्तनपद्धति भी इसे कह सकते हैं।

भगवान् बुद्ध ने पूर्वसञ्चित राशि (थाती) के रूप में जिस धर्म को प्राप्त किया था, उस में से अध्यात्म एवं शीलाचार की मौलिक बातों को अङ्गीकार करते हुए भी उसमें प्रचलित अनेक धर्माचरणों (पाषण्डों) का सशक्त साहस के साथ विरोध किया। वैदिक यज्ञीय कर्मकाण्डविधि के वे पूर्ण विरोधी थे। उनकी स्पष्ट मान्यता थी कि मानव को उस सुख के प्रति सर्वथा निःस्पृह रहना चाहिये, जो दूसरों को दुःख देकर प्राप्त किया जाता हो।

यह भी वास्तविकता ही है कि उपनिषदों द्वारा जो आध्यात्मिक धर्मचिन्तनपद्धति समर्थित हुई है, उसमें यद्यपि यज्ञ–यागादि कर्मकाण्डों को अपेक्षाकृत कम महत्त्व दिया गया है, परन्तु उपनिषदों ने भी इन कर्मकाण्डों का उतना सार्थक, प्रबल एवं स्पष्ट विरोध नहीं किया जितना भगवान् बुद्ध ने अपने भावप्रवण प्रवचनों में किया है।

भगवान् बुद्ध के धार्मिक अभियान का तो प्रमुख लक्ष्य ही यह था कि धार्मिक आचारों में सुधार लाते हुए धर्म के मौलिक सिद्धान्तों पर श्रद्धामय आचरण किया जाय।

इसी श्रद्धामय भित्ति का आलम्बन कर शाक्यसिंह गौतम ने छह वर्षों की सतत साधना के बाद, 'सम्यक्सम्बुद्ध' बनकर भारत के मध्यमण्डल (कोसी–कुरुक्षेत्र और हिमालय एवं विन्ध्याचल) क्षेत्र में निरन्तर चारिका करते हुए एक अपूर्व एवं लोकोत्तर धर्म–दुन्दुभि बजायी, सद्धर्म के प्रचार प्रसार हेतु अनुपम प्रवचन किये। उनके शिष्यों एवं सङ्घ के रूप में दीक्षित भिक्षुओं ने इन प्रवचनों को अक्षरशः कण्ठस्थ रख कर इन्हें स्थायिता प्रदान की। इतना ही नहीं, भगवान् के महापरिनिर्वाण के समनन्तर महाकाश्यप आदि ५०० बौद्ध भिक्षुओं ने राजगृह में एकत्र होकर इन बुद्धोपदेशों का त्रिपिटक के रूप में सङ्गायन भी कर लिया, जो पालि भाषा में निबद्ध है। सौभाग्य से यह 'त्रिपिटक' आज

भी अपने उसी रूप में उपलब्ध है। जिसमें बुद्धाभिमत अभिधर्म दर्शन के साथ साथ यथाप्रसङ्ग तत्कालीन इतिहास, भूगोल, राजनीति एवं सामाजिक व्यवस्था आदि भी स्पष्टतः वर्णित हैं।

'बौद्ध साहित्य में भारतीय समाज' नामक यह इतिहास–ग्रन्थ उक्त त्रिपिटक एवं उसकी अट्ठकथाओं के प्रामाणिक और पुष्ट साक्ष्यों के आधार पर भविष्णु इतिहासविद् डॉ० परमानन्द सिंह ने लिखा है। आप वर्तमान में महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी के इतिहास विभाग में उपाचार्य पद पर प्रतिष्ठित हैं।

ग्रन्थ को आद्यन्त पढ़ने के बाद यह मानना पड़ता है कि डॉ० सिंह ने यह ग्रन्थ लिखते समय एक तटस्थ इतिहासकार की तरह बहुत ही ईमानदारी (विश्वसनीयता) के साथ त्रिपिटक आदि सन्दर्भ–ग्रन्थों से साक्ष्य देकर तत्कालीन इतिहास के सम्बन्ध में नवीन निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं।

अतः हम यह निःसङ्कोच कहना चाहते हैं कि हिन्दी भाषा में इस विषय पर अद्यावधि अन्य किसी भी लेखक का इतना विशाल एवं प्रामाणिक ग्रन्थ प्राप्त नहीं है, जिसमें साङ्गोपाङ्ग विश्लेषण के साथ इस विषय से सम्बद्ध सम्पूर्ण सामग्री एकत्र की गयी हो।

डॉ० परमानन्द सिंह ने हिन्दी माध्यम से यह अपूर्व ग्रन्थ लिखकर हिन्दी भाषा एवं इतिहासजगत् का बहुत उपकार किया है। हम सभी हिन्दीभाषाभाषी इस पुण्य कार्य के लिये डॉ० परमानन्द सिंह के अत्यधिक आभारी हैं।

अनागत काल में भी, हम डॉ० सिंह की इतिहासजगत् में अभ्युन्नति चाहते हुए, इन से यही आशा रखते हैं कि ये अपनी विलक्षण प्रतिभा का समुचित उपयोग करते हुए हिन्दी भाषा के प्राङ्गण को ऐसे ही विशिष्ट ग्रन्थप्रदीपों से समुद्द्योतित करते रहेंगे।

धर्मचक्रप्रवर्तनदिवस, २५४० बु०
वाराणसी

—स्वामी द्वारिकादासशास्त्री
अध्यक्ष, बौद्धभारती

भूमिका

इस ग्रन्थप्रणयन का विषय है—'बौद्ध साहित्य में भारतीय समाज'। इस विषय का चुनाव करते समय मेरा लक्ष्य यह था कि भारतीय समाज के विकास की सरणि का क्रमबद्ध इतिहास प्रस्तुत हो जाय। बौद्ध काल के पूर्व वैदिकोत्तर काल (उपनिषद्, रामायण एवं महाभारत काल) तथा उससे भी पूर्व वैदिक एवं सैन्धव सभ्यता काल के सामाजिक इतिहास के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों के विवेचनात्मक इतिहास ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं; किन्तु ग्रन्थों में भारतीय समाज के विकास का साङ्गोपाङ्ग चित्रण नहीं हुआ है। पूर्ववर्ती इतिहासकारों ने सिन्धु घाटी सभ्यता एवं वैदिक सभ्यता को समकालीन नहीं माना है, जिसके कारण भारतीय समाज के विकास की धारा खण्डित दिखायी पड़ती है।

बौद्ध साहित्य में चित्रित समाज वस्तुतः सैन्धव सभ्यता एवं वैदिक सभ्यता के विकासमान स्वरूप का ही एक रूप था। इस तथ्य को आलोच्य ग्रन्थों के आधार पर प्रमाणित करना इस ग्रन्थ का लक्ष्य है। जिस तरह भारत के आदि इतिहास को समझने के लिये गौतम बुद्ध के जीवनवृत्त से सम्बद्ध साहित्य को मूलभूत आधार माना जाता है, उसी तरह उसके पूर्ववर्ती समाज के स्वरूप को समझने के लिये भी बौद्ध साहित्य ही प्रामाणिक आधार है। अतः भारत के सामाजिक इतिहास की भूमिका के रूप में इस ग्रन्थ का विषय अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

यह ग्रन्थ आठ अध्यायों में विभक्त किया गया है।

प्रथम अध्याय का विषय है—'बौद्ध साहित्य का सर्वेक्षण'। **बौद्ध** साहित्य ही हमारा आलोच्य साहित्य है जिसके अन्तर्गत चित्रित भारतीय समाज के स्वरूप का अन्वेषण करना इस ग्रन्थ का उद्देश्य है। बौद्ध साहित्य का कालविस्तार बहुत व्यापक रहा है। बौद्ध धर्म की प्रथम सङ्गीति से हर्ष के समय तक बौद्ध साहित्य की रचना अनवरत रूप से होती रही। यह विशाल वाङ्मय पालि और संस्कृत दोनों भाषाओं में निबद्ध हुआ। अतः इस सम्पूर्ण वाङ्मय का संक्षिप्त सर्वेक्षण प्रथम अध्याय में किया गया है। इसमें सर्वप्रथम बुद्ध के पूर्ववर्ती भारतीय साहित्य का संक्षिप्त परिचय भी दिया गया है, क्योंकि वही बौद्ध साहित्य की पूर्वपीठिका है। इसमें चारों वेदों के अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रन्थों, आरण्यकों, सूत्र ग्रन्थों आदि का भी सर्वेक्षण किया गया है।

उत्तर वैदिक काल में उपनिषदों में जिस ज्ञानकाण्ड का प्रतिपादन किया गया उसी का परवर्ती विकास बौद्ध धर्म है। इस लिये वैदिक और उत्तर वैदिक ब्राह्मण विचारधारा वाले साहित्य का सर्वेक्षण कर लेने के बाद बुद्ध के जीवनकाल में तथा तदनन्तर बुद्ध के उपदेशों का जो मौखिक रूप वर्तमान था, उसका सङ्कलन त्रिपिटक की तीन संङ्गीतियों में किया गया। अतः इस अध्याय में उन तीनों संङ्गीतियों का विस्तृत विवरण भी दिया गया है। बौद्ध साहित्य का अधिक अंश त्रिपिटक में ही निबद्ध है, अतः प्रथम अध्याय में त्रिपिटक वाङ्मय का विस्तृत परिचय दिया गया है। त्रिपिटक के बाद पालि तथा संस्कृत भाषा में बौद्ध धर्म और दर्शन सम्बन्धी प्रभूत साहित्य लिखा गया। साथ ही अनेक काव्यों एवं नाटकों की भी रचना हुई। यह सम्पूर्ण साहित्य इतना विशाल है कि उसका **नामोल्लेख** और सामान्य परिचय देना भी एक ग्रन्थ की सीमा में सम्भव नहीं है।

अतः उनमें से प्रसिद्ध एवं प्रतिनिधिभूत ग्रन्थों को ही आलोच्य साहित्य मानकर इस अध्याय में उन्हीं का वर्णन दिया गया है।

द्वितीय अध्याय में बौद्ध साहित्य में वर्णित सामाजिक स्थितियों की पूर्वपीठिका के रूप में बुद्धपूर्व भारतीय समाज के ऐतिहासिक विकासक्रम का विहङ्गावलोकन किया गया है। इस अध्याय का विषय है--'बुद्धपूर्व भारतीय समाज का ऐतिहासिक विकासक्रम'। इसमें भारत में मानव समाज के उद्भव एवं विकास का अध्ययन नृतत्त्वशास्त्र एवं समाजशास्त्र के आधार पर किया गया है। नृतत्त्वशास्त्र एवं पुरातत्त्वसम्बन्धी अन्वेषणों से यह स्पष्ट है कि भारत में मानव जाति का विकास आदिम युग से होता आ रहा था। तथा ईसा पूर्व ४००० से लेकर गौतम बुद्ध के समय तक सम्पूर्ण भारतीय उपमहाद्वीप में मानव सभ्यता का अत्यधिक विकास हुआ था। इस विकास का अध्ययन तीन चरणों में प्रस्तुत किया गया है। प्रथम चरण में मानव समाज के प्रस्तरयुगीन इतिहास का सर्वेक्षण किया गया है। द्वितीय चरण में दस हजार ई० पू० से लेकर चार हजार ई० पू० तक के बीच भारत के विभिन्न भागों में मानवीय सम्यता के अवशेषों की उपलब्धियों का सर्वेक्षण किया गया है। इस कालावधि में विभिन्न जातियों का मिश्रण प्रारम्भ हो गया था और भारतीय मानव वन्यावस्था को पार कर कृषियुग में प्रवेश करने लगा था। सभ्यता के विकास के तृतीय चरण में सिन्धु घाटी सभ्यता और वैदिक समाज की सभ्यता का पुरातात्त्विक साक्ष्यों के आधार पर तुलनात्मक विवेचन किया गया है और यह सप्रमाण सिद्ध किया गया है कि सैन्धव सभ्यता एवं वैदिक सभ्यता के निर्माता एक ही जाति के लोग थे और यह जाति पश्चिमोत्तर भारत से लेकर भूमध्यसागर तक फैली हुई थी। ४००० ई० पू० से लेकर ५०० ई० पू० तक भारतीय मानव समाज में सभ्यता का जो विकास हुआ उसका ऐतिहासिक विवेचन पुरातात्त्विक एवं साहित्यिक आधार पर किया गया है। इस तरह इस अध्याय में भारतीय इतिहास के प्रारम्भिक युग के सम्बन्ध में सर्वथा मौलिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है, जिसे भारत के आद्य इतिहास का सर्वेक्षण कहा जा सकता है।

तृतीय अध्याय का विषय है--'बौद्ध साहित्य में वर्णित समाज में वर्ण एवं जाति'। इसमें सर्वप्रथम वैदिकयुगीन समाज की वर्णव्यवस्था का स्वरूप दरसाया गया है। तत्पश्चात् बौद्ध साहित्य में व्यक्त वर्ण एवं जाति सम्बन्धी विचारों का विवेचन किया गया है। तथा यह देखने का प्रयास किया गया है कि बौद्ध साहित्य की रचना (५००० ई० पू० से ८०० ई० पू०) के काल में भारतीय समाज में वर्णव्यवस्था का विकास इस रूप में हुआ। इस अध्याय में बौद्ध धर्म के प्रभाव से तत्कालीन समाज में वर्णव्यवस्था की शिथिलता एवं पेशों के आधार पर जातियों के विकास का विवेचन किया गया है।

चतुर्थ अध्याय का विषय है--'बौद्ध साहित्य में चित्रित समाज में नारी'। भारत में अन्य देशों के समान नारी प्रारम्भ से ही बन्धनग्रस्त नहीं थी। यद्यपि बौद्धकालीन समाज में नारियों की स्थिति बहुत गौण थी, किन्तु उस समय की नारी मध्यकालीन भारतीय नारी से अधिक स्वतन्त्र थी। भारत में सैन्धव वैदिक सभ्यता के काल में नारियों को जो महत्त्व प्राप्त था उसका विवेचन इस अध्याय के विषय के भूमिका के रूप में सक्षेप में किया गया है। ज्यों ज्यों भारतीय समाज ब्राह्मण धर्म के सङ्कीर्ण वृत्त (घेरे) में बन्द होता गया त्यों त्यों नारी भी बन्धनग्रस्त होती गयी। वैदिक काल की नारियाँ मन्त्रद्रष्टा ऋषि होती थी और समाज में उन्हें पुरुषों के साथ समानता का पद प्राप्त था। वे परिवार की स्वामिनी मानी जाती थी। उपनिषत्काल में नारियाँ ब्रह्मज्ञान की अधिकारिणी होती थीं। कालान्तर में

उनके अधिकार कम हो गये और वे वेदाध्ययन की अधिकारिणी नहीं रह गयीं। बुद्ध के समय से लेकर ८वीं शताब्दी तक भारतीय नारी उत्तरोत्तर बन्धनग्रस्त होती गयी। बौद्ध साहित्य में ऐसी नारियों का भी वर्णन किया गया है जो प्रव्रज्या ग्रहण करके निर्वाणसाधना में अपना जीवन व्यतीत करती थीं। उनमें से कुछ नारियाँ काव्यरचना भी करती थीं, किन्तु गृहस्थों के परिवार में उनका स्थान अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं रह गया था। इसीलिये गौतम बुद्ध को नारियों के सम्बन्ध में विशेष उपदेश देना पड़ा। इस अध्याय में नारी के इन्हीं स्वरूपों का विवेचन बौद्ध साहित्य के आधार पर विस्तार से किया गया है।

पञ्चम अध्याय में 'बौद्ध साहित्य में चित्रित समाज की आर्थिक स्थिति' पर विचार किया गया है। इस काल का भारतीय समाज आर्थिक दृष्टि से सैन्धव–वैदिक सभ्यता से बहुत आगे बढ़ चुका था। सैन्धव–वैदिक काल में कृषि व्यवस्था उतनी समुन्नति नहीं थी जितनी बौद्ध काल में हो गयी थी। कृषिसम्बन्धी उत्पादन का प्रभाव वाणिज्य पर भी पड़ा। इस काल में जीवनोपयोगी वस्तुओं का उत्पादन विशाल स्तर पर होने लगा। इसलिये विभिन्न व्यवसायों से सम्बद्ध वर्गों के भिन्न भिन्न सङ्घ बन गये थे। सैन्धव–वैदिक काल में वाणिज्य मुख्यतया पणियों के हाथ में था जो पृथक् पृथक् नगर बसाकर रहते थे किन्तु बौद्धकाल में विभिन्न ग्रामों और नगरों में व्यापार करने वाले वणिकों का विस्तार हो गया जिन्हें 'श्रेष्ठी' भी कहा जाता था। ये वणिक् जल और स्थल मार्ग से सार्थवाह (समूह) बनाकर व्यापार करते थे। उन्होंने दक्षिण–पूर्व एशिया के देशों में जाकर व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किया। इस तरह बौद्ध साहित्य में इन विषयों का जो वर्णन किया गया है उससे तत्कालीन समाज की आर्थिक स्थिति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

षष्ठ अध्याय में 'बौद्ध साहित्य में चित्रित समाज की सांस्कृतिक स्थिति' का विवेचन किया गया है। सांस्कृतिक जीवन के अन्तर्गत विवाह आदि संस्कारों, उनसे सम्बद्ध रीति परम्पराओं और तत्कालीन समाज के पारिवारिक जीवन के विविध पक्षों का सम्यक् विवेचन किया गया है। तत्कालीन सांस्कृतिक जीवन की पूर्व पीठिका के रूप में सैन्धव–वैदिक काल के सामाजिक जीवन का भी संक्षिप्त अनुशीलन किया गया है। इस अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि सैन्धव–वैदिक काल में समाज की जो सांस्कृतिक अवस्था थी उसी का विकसित रूप बौद्ध साहित्य में वर्णित समाज में भी वर्तमान था।

सप्तम अध्याय का विषय 'बौद्ध साहित्य में चित्रित समाज की राजनीतिक स्थिति' है। गौतम बुद्ध के समय से ८वीं शताब्दी तक का काल इतिहास से बहुत कुछ ज्ञात है, किन्तु तत्कालीन शासनव्यवस्था एवं राजधर्म के सम्बन्ध में हमें बौद्ध साहित्य से पर्याप्त विवरण प्राप्त होता है। इस काल में राजा के कर्तव्यों की जो अवधारणा मान्य थी वह वैदिक काल से चली आ रही अवधारणा के अनुरूप थी। इसीलिये इस अध्याय के प्रारम्भ में भारत के आद्य इतिहासकाल ''सैन्घव–वैदिक काल'' में राजतन्त्र के विकास और शासन व्यवस्था के सम्बन्ध में वैदिक साहित्य एवं पुरातत्त्व के साक्ष्य के आधार पर संक्षिप्त रूप से विचार किया गया है और बताया गया है कि वैदिक काल की तरह बौद्ध साहित्य काल में राजा जनता का रक्षक और पोषक होता था; यद्यपि इस काल में स्वेच्छाचारी राजा भी होने लगे थे। स्वयं गौतम बुद्ध ने राजा के कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में अनेक स्थलों पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। इस तरह इस अध्याय में बौद्ध साहित्य के आधार पर तत्कलीन राजनीतिक शासनव्यवस्थासम्बन्धी पक्ष पर प्रकाश डाला गया है।

अष्टम अध्याय के अन्तर्गत ''बौद्ध साहित्य में वर्णित समाज की धार्मिक स्थिति''

का अनुशीलन किया गया है। इस अध्याय में 'धर्म' शब्द की व्याख्या करते हुए बताया गया है कि धर्म के तीन स्वरूप होते हैं—सामान्य धर्म, साम्प्रदायिक धर्म एवं लोकधर्म। भारत में सामान्य धर्म को ही वास्तविक धर्म माना गया था और धर्म के साम्प्रदायिक रूप को सम्प्रदाय, मत या पन्थ की संज्ञा दी गयी थी जिन्हें अपनाने की सबको स्वतन्त्रता रहती थी। इस कारण भारत में कभी साम्प्रदायिक सङ्कीर्णता नहीं उत्पन्न हुई। यहां धार्मिक सहिष्णुता पूर्णरूप में वर्तमान थी। एक ही कुल या परिवार के कुछ लोग ब्राह्मण मतावलम्बी थे तो कुछ लोग जैन या बौद्ध मतावलम्बी होते थे। इन सम्प्रदाय के अनुयायी उस तरह जन्मना नहीं होते थे जैसे आजकल हिन्दू, मुसलमान एवं ईसाई आदि होते हैं। उनमें आपस में खान–पान, विवाह आदि का सम्बन्ध भी होता रहता था। विभिन्न मतावलम्बियों में खण्डन–मण्डन भी होता था, किन्तु वे हिंसा के स्तर पर नहीं उतरते थे। यह स्थिति बौद्ध साहित्य में वर्णित समाज में सम्यक् रूप में दिखायी पड़ती है। त्रिपिटक से यह पता चलता है कि गौतम बुद्ध के समय में समाज में विभिन्न मतावलम्बियों के पृथक पृथक् सम्प्रदाय थे जिनमें से कुछ सङ्घबद्ध भी थे। तत्कालीन समाज में सामान्य धर्म के नियम सभी सम्प्रदायों में समान रूप से मान्य थे। बौद्ध साहित्य में इन नियमों और आचारों की विशद व्याख्या की गयी है। इसी तरह तत्कालीन सम्प्रदायों का भी पर्याप्त उल्लेख किया गया है। बौद्ध साहित्य में उन रूढ़ियों और अन्धविश्वासों का भी बहुत अधिक वर्णन हुआ है जिन्हें लोकधर्म कहा जा सकता है। इस अध्याय में बौद्ध साहित्य के साक्ष्य के आधार पर तत्कालीन समाज में प्रचलित धर्म के इन तीनों स्वरूपों का सप्रमाण विवेचन किया गया है जिससे तत्कालीन भारत के समाजिक इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

इस प्रकार इस ग्रन्थ में ईसा पूर्व ५०० से ८०० ईस्वी तक के भारतीय इतिहास के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और धार्मिक पक्षों पर सम्यक् प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है, फिर भी ऐसा लगता है कि ग्रन्थ में अधोलिखित इन चार बातों पर अपेक्षाकृत कुछ कम ही प्रकाश डाला गया है; जबकि ये चारों ही बातें बौद्ध धर्म की स्थिरता एवं प्रामाणिकता में 'नींव का पत्थर' कही जा सकती हैं। वे हैं— १.धार्मिक शासक, २. धार्मिक शिक्षा, ३. धर्मोपदेष्टा विद्वान् तथा ४. धर्मयात्राएँ। अतः हम यहाँ इन बातों पर क्रमशः कुछ और अधिक विस्तार से लिखना चाहेंगे, ताकि पाठकों के सम्मुख इन बातों का वास्तविक महत्त्व प्रकट हो सके।

* * * * *

सर्वप्रथम हम बौद्धमतानुयायी धार्मिक शासकों पर विचार करेंगे।

१. सम्राट् अशोक—यों तो, भगवान् बुद्ध के जीवनकाल में भी बहुत से राजा हुए थे जिन्होंने बौद्ध धर्म को मान्यता दी एवं राज्याश्रय प्रदान किया, जैसे—राजगृह का राजा बिम्बिसार, अवन्ति का राजा प्रद्योत, साकेत का राजा प्रसेनजित् कौसल। परन्तु भारत के सुदीर्घकालीन इतिहास पर दृष्टि डालें तो बौद्ध धर्म को दृढ़तापूर्वक सार्वदेशिक मान्यता एवं राज्याश्रय देने वाले भारतीय शासकों में सर्वप्रथम सम्राट् अशोक का नाम आता है। जिनका कार्यकाल इतिहासज्ञ भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के २०० वर्ष बाद मानते हैं।

वस्तुतः देखा जाय तो, समग्र भारतीय इतिहास में, बौद्ध धर्म को सबसे अधिक राज्याश्रय पाटलिपुत्र के सम्राट् अशोक ने ही दिया था।

सम्राट् अशोक अपनी युवावस्था में, अत्यधिक क्रोधी स्वभाव के कारण, 'चण्ड अशोक' कहलाते थे। इनके पिता (बिन्दुसार) ने उनको युवास्था में ही विदिशा नगरी का राज्यपाल नियुक्त कर दिया था। वहाँ रहते हुए इन्होंने वहाँ के एक धनी व्यापारी की पुत्री से विवाह कर लिया। उसी व्यापारी की पुत्री से इनको महेन्द्र नामक पुत्र एवं सङ्घमित्रा नामक पुत्री मिली।

जब उन्हें ज्ञात हुआ कि उनके पिता बिन्दुसार अत्यधिक रोगग्रस्त हैं, तब वे तत्काल पाटलिपुत्र पहुँचे और उन्होंने अपने (एक भाई को छोड़कर अन्य) सभी (९९) भाइयों का वध कर डाला। इस कुकृत्य के कारण, पाटलिपुत्र की जनता, प्रारम्भ में इनसे चार वर्ष तक बहुत अप्रसन्न रही। शनैः शनैः जनता का क्रोध शान्त होने के बाद (चार वर्ष बाद) ही इनका राज्याभिषेक हो पाया।

सम्राट् अशोक के शिलालेख (१३) से पता चलता है कि इन्होंने कलिङ्ग प्रदेश पर आक्रमण किया था जिसमें हजारों सैनिकों की निर्मम हत्या की गयी। इस घटना का इन के हृदय पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा। और इन्हें, इस कारण, अपरिमित ग्लानि हुई। अतः इन्होंने प्राणपण से निश्चय किया कि अब कोई अन्य सैनिक अभियान नहीं करेंगे; अपितु, इसके स्थान पर, धर्मविजय की तरफ मन लगायेंगे।

इसी निश्चय के परिणामस्वरूप उन्होंने अपने समस्त साम्राज्य में शिलालेख उत्कीर्ण कराये; जिनमें भगवान् बुद्ध के वचनों (पालिसुत्तों) का प्रमाण देकर जनता को सदाचार एवं धर्म का दृढ़ता से पालन करने का आदेश दिया गया। सम्राट् अशोक चाहते थे कि भगवान् बुद्ध के वचन, जो कि 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' थे, जनसाधारण तक पहुँचें। सम्राट् अशोक अपने राज्यकाल के बीसवें वर्ष में लुम्बिनी वन गये थे। इस यात्रा की स्मृति में उन्होंने वहाँ की जनता को सभी करों से मुक्त कर दिया था।

सम्राट् अशोक को बौद्धसङ्घ में एकता अत्यधिक प्रिय थी। वे चाहते थे कि जो भी बौद्ध धर्म की एकता तोड़ना चाहे उसे जातिबहिष्कृत कर दिया जाय। यह बात सारनाथ में प्राप्त शिलालेख से स्पष्ट प्रमाणित होती है।

इतने पर भी (बौद्ध धर्म के प्रति अतीव श्रद्धान्वित होते हुए भी), वे अन्य धर्मों के प्रति अत्यधिक सहिष्णु थे। अतएव बौद्धों के अतिरिक्त श्रमण, ब्राह्मण, आजीवक, जैन आदि अन्य सम्प्रदायों के प्रति भी उनका सम्मानजनक व्यवहार था। इतिहास हमें बताता है कि आजीवकों के लिये उन्होंने गुफाएँ दान कीं। किसी भी प्राणी की हिंसा उन्होंने निषिद्ध मानी। उनका मन्तव्य था कि जीने के लिये जीविकाहेतु जीव पर आधृत होना उचित नहीं। इसी करुणाहृदयता के कारण उन्होंने कुछ बौद्ध पर्वदिनों में पशुओं को बधिया करना या उनके पैरों में नाल ठोकना तक निषिद्ध कर दिया था।

सम्राट् अशोक ने धर्मप्रचार के लिये अनेक धर्मप्रचारक नियुक्त किये थे। वे स्वयं भी समय समय पर धार्मिक यात्राएँ करते थे। स्थान स्थान पर, इसी उद्देश्य से, उन्होंने धार्मिक शिलालेख उत्कीर्ण कराये। फल–छाया वाले वृक्ष लगवाये; कूए और तालाब खुदवाये; चिकित्सालय, धर्मशालाएँ एवं बौद्ध विहार[1] बनवाये। न केवल स्वदेश (भारत) में ही, अपितु यवन, कम्बोज, पाण्ड्य, चोळ, आन्ध्र, पुलिन्द, श्रीलङ्का आदि देशों में भी समय समय पर उन्होंने धर्मप्रचारक भेजे। साथ ही इन्होंने मोग्गलिपुत्र तिष्य की अध्यक्षता में

१. महावंस में सम्राट् अशोक द्वारा निर्मापित बौद्धविहारों की सङ्ख्या ८४,००० (चौरासी हजार) दी गयी है।

धर्मसङ्गीति कराकर त्रिपिटक (बौद्ध साहित्य) को स्थिरता एवं प्रामाणिकता प्रदान की। अपने पुत्र महेन्द्र एवं पुत्री सङ्घमित्रा को बौद्ध धर्म के प्रचार–प्रसार हेतु सङ्घ को समर्पित कर देना तो समाज में उस सम्राट् का लोकोत्तर ऐतिहासिक कार्य माना ही जाता है।

इस तरह बौद्ध धर्म के प्रचार–प्रसार में सम्राट् अशोक का योगदान महत्त्वपूर्ण रहा है।

२. बौद्ध विद्वान् राजा मिनान्दर (मिलिन्द)—सम्राट् अशोक के बाद बौद्ध धर्म की ज्योति को मिलिन्द (मिनान्दर), कनिष्क, हर्ष और पालवंशीय शासकों (७५०–११५० ई०) के प्रयत्नों ने प्रज्वलित रखा। इण्डो–ग्रीक राजा मिनान्दर बौद्ध धर्म का एक महान् संरक्षक और सहायक था। मौर्य साम्राज्य की शक्ति के ह्रास के बाद की दो शताब्दियों में ग्रीक आक्रमणकारियों ने उत्तर–पश्चिमी भारत तथा अफगानिस्तान पर आधिपत्य स्थापित कर लिया। इस युग में प्रायः तीस शासक हुए, जिनमें से केवल मिनान्दर ही भारतीय मस्तिष्क पर अपना स्थायी प्रभाव छोड़ सका है। स्पष्टतः यह सद्धर्म (बौद्ध धर्म) के साथ उसके सम्बन्ध के कारण ही है।

इस राजा मिनान्दर का वर्णन पालि ग्रन्थ "मिलिन्दपञ्ह" में वर्णन है। 'मिलिन्द' ग्रीक शब्द मिनाण्डोस का भारतीय रूपान्तर है। जिन मुख्य स्रोतों से राजा मिनान्दर के सम्बन्ध में सूचना सङ्कलित की जा सकती है, वे हैं— "मिलिन्दपञ्ह", स्ट्रेबो, प्लूटार्क और जस्टिन जैसे ग्रीक इतिहासकारों के वर्णन और स्वयं राजा मिनान्दर के सिक्कों पर "बेसिलियस सोटेरोस मिनाण्ड्रोस" लेख। ये सिक्के उत्तरप्रदेश के पश्चिमी जिलों तथा काबुल और सिन्धु नदी की घाटियों में बाईस विभिन्न स्थानों पर पाये गये हैं।

राजा मिनान्दर की तिथि के सम्बन्ध में विद्वानों में बहुत मतभेद नहीं है। "मिलिन्द–पञ्ह" में यह कहा गया है— "परिनिब्बानतो पञ्चवस्ससते अतिक्कन्ते।" इसका तात्पर्य यह है कि, राजा मिलिन्द भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के ५०० वर्ष बाद हुआ। इस प्रकार यह मानना युक्तिसङ्गत जान पड़ता है कि ग्रीक राजा मिनान्दर ने प्रथम शताब्दी ईस्वी पूर्व या उसके आसपास शासन किया। अन्य तथ्यों द्वारा भी इस बात का समर्थन होता है।

"मिलिन्दपञ्ह" में राजा मिनान्दर (मिलिन्द) का वर्णन योनकों (यवनकों–यवनों) के राजा के रूप में किया गया है। "योनकानं राजा मिलिन्दो।" पालि शब्द "योनक" या "योन" (सं० यवन) प्राचीन पारसी भाषा के "यौन" शब्द के समान है, जिसका मौलिक अर्थ "आयोनिया का निवासी ग्रीक" था, परन्तु बाद में जिसका प्रयोग ग्रीक मात्र के लिये होने लगा। मज्झिमनिकाय के एक प्रसङ्ग से स्पष्ट है कि योन और कम्बोज लोगों के प्रदेश भारतीयों को छठीं शताब्दी ईसवी पूर्व ज्ञात थे।[1] इस सुत्त में कहा गया है कि भारतीय समाज के चार वर्णों के स्थान पर इन लोगों के प्रदेश में केवल दो ही वर्ण थे— आर्य और दास। यह एक सुविज्ञात तथ्य है कि पाटलिपुत्र में हुई तृतीय बौद्ध सङ्गीति के बाद धर्म–प्रचारकों को दूरस्थ योन (यवन) देश के अन्तर्गत सीरिया के शासक एण्टियोकस द्वितीय, मेसिडोनिया के शासक एण्टिगोनस गोनेटस आदि के राज्यों में भी भेजा गया था। सम्राट् अशोक के द्वितीय तथा त्रयोदश शिलालेखों में इस बात का उल्लेख है। यह भी कहा गया है कि ग्रीक भिक्षु धर्मरक्षित—योन धम्मरक्खित—को अपरान्त प्रदेश में धर्मप्रचारार्थ भेजा

१. द्र०— *मज्झिमनिकाय का अस्सलायनसुत्त।*

गया था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मिनान्दर के पूर्व भी भगवान् बुद्ध के सदुपदेश ग्रीक मनीषा को प्रभावित करने लगे थे।

''मिलिन्दपञ्ह'' में बताया गया है कि मिलिन्द राजा का जन्म अलसन्द (अलेक्जेण्ड्रिया–आधुनिक कन्धार) के दीप (द्वीप–दोआब) में कलसि नामक ग्राम (कलसिगामो) में हुआ था।[1] उसकी राजधानी सागल नगरी थी, जिसे आधुनिक स्यालकोट बताया जाता है। मिनान्दर के राज्य में पेशावर, उत्तरी काबुल घाटी, पञ्जाब, सिन्ध, काठियावाड़ और उत्तरप्रदेश के पश्चिमी भाग सम्मिलित थे।

मिनान्दर एक बहुत विद्वान् और प्रतिभाशाली तार्किक था। वह अनेक ज्ञान–शाखाओं में निष्णात और विशेषतः तर्क विद्या में पारङ्गत था। बौद्ध धर्म के सच्चे सार को वह समझना चाहता था। इसमें अनेक कठिनाइयों और गुत्थीदार समस्याएँ उसके सामने आयीं। अपने चित्त के समाधान के लिये वह अनेक धर्मगुरुओं के पास गया, परन्तु कोई उसकी कठिनाइयों को दूर नहीं कर सका। वह इससे अत्यन्त निराश हो गया। अपनी इसी निराशा की अवस्था में वह कहता है–''अरे, यह जम्बुद्वीप (भारतवर्ष) तुच्छ है! व्यर्थ ही इसका इतना नाम है। कोई भी श्रमण या ब्राह्मण यहाँ ऐसा नहीं है जो मेरे साथ बातचीत कर सके और मेरी शंकाओं को दूर कर सके।''[2]

यह एक सौभाग्यपूर्ण संयोग ही था कि एक दिन राजा मिलिन्द ने एक बौद्ध–भिक्षु को देखा। इनका नाम नागसेन था और वे उस समय भिक्षा के लिए जा रहे थे। साधु के शान्त और संयत व्यक्तित्व का मौन किन्तु शक्तिशाली प्रभाव राजा के मन पर पड़ा। दूसरे दिन पाँच सौ यवनकों को साथ लेकर वह सागल के सङ्खेय्यपरिवेण नामक बौद्धविहार में उन दोनों में संलाप हुआ, जो राजा की प्रार्थना पर बाद में राजभवन में भी यथाविधि होता रहा। संलाप से पूर्व इस असाधारण भिक्षु ने राजा से स्पष्टतः कह दिया कि वे इसी शर्त पर संलाप करने को प्रस्तुत होंगे कि शास्त्रार्थ 'पण्डितवाद' की पद्धति पर हो, 'राजवाद' की पद्धति पर नहीं। राजा ने इसे स्वीकार किया और भिक्षु के प्रति आदर प्रदर्शित किया। तदनन्तर उसने एक के बाद एक अपने सन्देहों और कठिनाइयों को भिक्षु के सामने रक्खा। सुयोग्य भिक्षु ने उन सबका समाधान किया। इससे राजा को परम सन्तोष हुआ। राजा मिलिन्द और भिक्षु नागसेन के इसी संलाप पर ''मिलिन्दपञ्ह'' ग्रन्थ रचा गया है। यह ग्रन्थ स्थविरवाद बौद्ध धर्म के अनुपिटक साहित्य में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है। और आचार्य बुद्धघोष ने अपने ग्रन्थों में भी इसे प्रमाणस्वरूप उद्धृत किया है।

यहाँ इस ग्रन्थ की विषयवस्तु के विस्तार में जाना शक्य न होगा। संक्षेप में यह कहना ही पर्याप्त होगा कि गम्भीरतम आध्यात्मिक समस्या राजा मिलिन्द के सामने यह थी कि वह यह नहीं समझ पा रहा था कि किस प्रकार पुनर्जन्म ग्रहण करने वाली किसी आत्मा को न मानकर भगवान् बुद्ध पुनर्जन्म में विश्वास कर सके थे? इस समस्या को स्थविर नागसेन ने इस ग्रन्थ में अत्यन्त प्रभावशाली रूप में सदा के लिये समाहित कर दिया। संलाप के अन्त में, राजा ने भिक्षु नागसेन के प्रति कृतज्ञता प्रकट की। उसने त्रिरत्न की शरण प्राप्त की और स्थविर नागसेन से प्रार्थना की कि उस दिन से वह उन्हें

१. द्र०–मिलिन्द, पूर्वयोगकथा।

२. द्र०–मिलिन्द, पूर्वयोगकथा।

जीवनपर्यन्त उपासक के रूप में स्वीकार करें। "उपासकं मं, भन्ते नागसेन, धारेहि अज्जतग्गे पाणुपेतं सरणं गतं ति।"[1] बौद्ध धर्म में दीक्षित होकर राजा मिलिन्द ने "मिलिन्दविहार" नामक एक विहार का निर्माण करवाया और उसे स्थविर नागसेन को समर्पित कर दिया। भिक्षु-सङ्घ को भी उसने उदारतापूर्वक दान दिया। "मिलिन्दपञ्ह" के अनुसार राजा मिनान्दर अपने पुत्र को राज्य देने के बाद भिक्षु हो गये और उसी अवस्था में उनकी मृत्यु हुई। उन्होंने अर्हत्व भी प्राप्त किया[2] जो स्थविरवाद बौद्धधर्म के अनुसार पवित्र जीवन का अन्तिम लक्ष्य है।

मिनान्दर की मृत्यु एक शिविर में हुई और उसके फूलों (भस्मावशेष) के लिये कई भारतीय नगरों में झगड़ा हुआ, जिसके परिणामस्वरूप उनका विभाजन हुआ और प्रत्येक नगर में विशाल स्तूपों का निर्माण किया गया। हम जानते हैं कि भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद भी ऐसी ही घटना हुई थी।

इसके अतिरिक्त यह भी एक प्रबल तथ्य है कि मिनान्दर के सिक्कों में धर्मचक्र अङ्कित है। यह इस बात का निश्चित चिह्न है कि वह एक श्रद्धालु बौद्ध था। शिनकोट अभिलेख से यह बात निःसन्देह प्रमाणित हो जाती है कि इस ग्रीक राजा ने हिन्दुकुश और सिन्ध के बीच के प्रदेश में बौद्ध धर्म का प्रचार किया था।

३. **कनिष्क**—सम्राट् अशोक एवं मिलिन्द के बाद भारतीय इतिहास में एक तीसरा नाम भी आता है जो भारत के शासकों तथा बौद्ध परम्परा में उनके समान ही तेजस्वी एवं गौरवमय था। यह नाम है कनिष्क का, जिसने अशोक के कार्य को पूर्ण किया और सम्पूर्ण एशिया में बौद्ध धर्म के विजयपूर्ण प्रसार में सहायता दी।

कनिष्क यूह्-ची जाति की कुषाण (क्यूई-शवाँग) शाखा में उत्पन्न हुआ था। यूह्-ची जाति मूलतः चीनी तुर्किस्तान (आधुनिक सिंक्याँग) में निवास करने वाली थी। प्रथम कुषाण-नायक, जिसने भारत में आधिपत्य स्थापित किया, कडफिसीज प्रथम (कुजुल-कस) था। यह बौद्ध था। तक्षशिला के समीप उत्खनन उसके कुछ सिक्के मिले हैं, जिन पर खरोष्ठी लिपि में लिखा हुआ है—"कुजुल-कसस कुसण-यवुगस धर्मठिदस" अर्थात् धर्म में स्थित, कुषाण सरदार कुजुल-कस का।" यहाँ धर्म से तात्पर्य बौद्ध धर्म से ही है, यह इस बात से प्रकट होता है कि इसी शासक के जो कुछ अन्य सिक्के मिले हैं, उन पर "धर्म-ठित" के स्थान पर लिखा हुआ है—"सच्च-धर्म-ठित" अर्थात् "सत्य धर्म में स्थित", जिस से स्पष्टतः तात्पर्य सद्धर्म या बौद्ध धर्म से ही है। इस प्रकार के तेजस्वी पूर्वज की परम्परा में कनिष्क ने प्रथम शताब्दी ईस्वी के अन्तिम चतुर्थांश में भारत पर शासन किया।

कनिष्क का शासन (७८-१०१ ईस्वी) बौद्ध धर्म तथा साहित्य के इतिहास में एक युगपरिवर्तन की सूचना देता है। इसने महायान बौद्ध धर्म का उदय देखा। पार्श्व, अश्वघोष और वसुमित्र आदि द्वारा प्रवर्तित महान् साहित्यिक कार्य का श्रीगणेश इसी समय हुआ। पालि के स्थान पर संस्कृत की प्रतिष्ठा इसी युग में हुई। कला के क्षेत्र में प्रसिद्ध गान्धारकला का आविर्भाव इसी समय हुआ और बुद्ध और बोधिसत्त्वों की मूर्तियाँ बनने लगीं। कनिष्क के शासनकाल में और उसके प्रयत्नों के परिणामस्वरूप ही प्रथम बार बौद्ध

---

१. *मिलिन्द, निगमन।*
२. *मिलिन्द, निगमन।*

धर्म का सफलतापूर्वक प्रचार मध्य एशिया और पूर्व एशिया में किया गया। मध्य एशिया से लेकर भारत के मध्यदेश तक फैले कनिष्क के विस्तृत साम्राज्य में धर्मप्रचार का कार्य उसके शासनकाल में सतत रूप से चलता रहा, जिसके परिणामस्वरूप सच्चे अर्थों में एशिया की एक संश्लिष्ट संस्कृति का जन्म हुआ जो जीवन के उच्चतम उद्देश्यों पर आधृत थी, जिनके लिये ही बौद्ध धर्म खड़ा हुआ था।

कनिष्क ने जिस प्रकार बौद्ध धर्म ग्रहण किया, उसकी कहानी प्रायः अशोक के समान ही है। कहा जाता है कि यूह्-ची सम्राट् का अपने जीवन के पूर्व भाग में बौद्ध धर्म के प्रति कुछ भी आदर भाव नहीं था। उसका कर्म के सिद्धान्त में विश्वास नहीं था और वह बौद्ध धर्म को घृणा की दृष्टि से देखता था।[1] काशगर, यारकन्द और खोतान की विजय करते समय उसने जो रक्तपात किया उसके पश्चात्तापस्वरूप ही बौद्ध धर्म की शान्तिदायिनी शिक्षाओं की ओर उसका झुकाव हुआ, बाद में जिनका उसने उत्साहपूर्वक प्रचार किया।

बौद्धसङ्गीति— इस सम्राट् ने बौद्ध धर्म की सबसे प्रमुख सेवा यह की कि उसने एक बौद्ध सङ्गीति का आयोजन किया। जो कुछ विद्वानों के मतानुसार काश्मीर के कुण्डलवनविहार नामक विहार में हुई और कुछ के मतानुसार जालन्धर में। इस सम्बन्ध में सबसे अधिक प्रमाणपुरुष माने जाने वाले युआन च्वांग यह मानते हैं कि यह सभा काश्मीर में ही हुई। बौद्ध सङ्गीतियों के इतिहास में यह सभा चतुर्थ थी और इसका मुख्य उद्देश्य सर्वास्तिवाद एवं बौद्ध धर्म के अनुसार बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का सङ्कलन और उन पर भाष्य लिखना था। कनिष्क ने यह सभा पार्श्व नामक एक वृद्ध और विद्वान् भिक्षु के आदेशानुसार बुलवायी। वसुमित्र इस सभा के सभापति चुने गये और आचार्य अश्वघोष, जिन्हें सम्पादनकार्य में सहायता देने के लिये साकेत से बुलवाया गया, उपसभापति बने। इस सभा में पाँच सौ भिक्षुओं ने भाग लिया और जिन भाष्यों का उन्होंने सम्पादन किया वे **विभाषाशास्त्र** कहलाते हैं, जो बौद्ध धर्म के तीन पिटकों पर लिखे गये थे।

युआन च्वांग का कहना है कि इस सभा ने सूत्रों की व्याख्या करते हुए उपदेश–शास्त्र के रूप में एक लाख गाथाओं की रचना की। इसी प्रकार विनय की व्याख्या करते हुए एक लाख गाथाएँ लिखीं गयीं जो विनयविभाषाशास्त्र कहलायीं। अभिधर्म की व्याख्या करते हुए इसी प्रकार एक लाख गाथाएँ लिखी गयीं, जो अभिधर्मविभाषाशास्त्र कहलायी। ऐसा माना जाता है कि **महाविभाषा**, जो आज भी चीनी भाषा में पायी जाती है, इस सभा द्वारा तैयार किये हुए भाष्यों का प्रतिनिधित्व करती हैं। इस सभा द्वारा तैयार किये हुए भाष्य ताम्र–पत्रों पर उतारे गये और पत्थर की सन्दूकों में बन्द कर सुरक्षापूर्वक एक स्तूप में रख दिये गये, जिसे कनिष्क ने इसी प्रयोजन के लिये विशेष रूप से बनवाया था। सभा की समाप्ति पर, कनिष्क ने, अशोक के उदाहरण का अनुसरण करते हुए, काश्मीर का राज्य बौद्ध सङ्घ को दान कर दिया।

कनिष्क के अन्य कार्य— कनिष्क ने अनेक विहार और चैत्य बनवाए।[2] उसने कनिष्कपुर नामक एक नगर भी बसाया, जिसे आधुनिक काश्मीर का कनिसपुर नामक स्थान बताया जाता है। कनिष्क ने अपने नाम पर एक विशाल स्तूप भी बनवाया। इस स्तूप

---

१. आन युआन च्वांग्स ट्रेवेल्स इन इण्डिया, टी० वाटसकृत (दी. डब्ल्यू० रायस डेविड्स तथा एस० डब्ल्यू० बुशल, लन्दन, द्वारा सम्पादित १९०४–५) प्रथम भाग, पृष्ठ २०८।

२. द्र०— कल्हण की 'राजतरङ्गिणी'।

के पश्चिम में उसने एक बड़ा विहार बनवाया जो 'कनिष्क महाविहार' कहलाता था। ये दोनों भवन पुरुषपुर (आधुनिक पेशावर) में बनवाये गये थे। कनिष्कस्तूप ४०० फुट ऊँचा था और उसका आधार १५० फुट ऊँचा था। फाहियान, सुंगयुग और युआन च्वांग जैसे चीनी यात्रियों ने इस स्तूप की बहुत प्रशंसा की है। 'कनिष्क महाविहार' सातवीं शताब्दी में एक 'पुराने विहार' के रूप में विद्यमान था, जबकि युआन च्वांग ने उसे देखा। प्रसिद्ध इतिहासकार अल्बरूनी ने पुरुषपुर (पेशावर) में कनिष्क द्वारा निर्मित एक 'कनिक चैत्य' (कनिष्क चैत्य) का उल्लेख किया है। स्पष्टतः वह 'कनिष्कमहाविहार' ही था।

कुषाण वंश के शासकों ने एक उदार आध्यात्मिक संस्कृति का परिचय दिया है। यह इस बात से प्रकट होता है कि इस वंश के शासक भिन्न भिन्न धर्मों के अनुयायी थे। प्रथम कुषाण सरदार कडफिसीज प्रथम, जैसा हम पहले कह चुके हैं, एक श्रद्धालु बौद्ध उपासक था। उसका पुत्र कडफिसीज द्वितीय शैव था। कनिष्क, जो कडफिसीज द्वितीय का उत्तराधिकारी था, न केवल बौद्ध था, अपितु बौद्ध धर्म का उत्साही प्रचारक भी– यह हम अभी पीछे वर्णन कर ही चुके हैं। यह कुछ कम ध्यान देने योग्य बात नहीं है कि कनिष्क का उत्तराधिकारी वाशिष्क भागवत धर्म का अनुयायी हुआ।

अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुता– धर्म के विषय में संस्कृति में जो सदा उदारता रही है, उसका इसे एक निदर्शन माना जा सकता है। यद्यपि कनिष्क स्वयं एक निष्ठावान् बौद्ध था, फिर भी अन्य धर्मसाधनाओं का वह आदर करता था, जैसा कि उसके सिक्कों से ज्ञात होता है। कनिष्क के सिक्कों पर सकयमो बोदो (शाक्यमुनि बुद्ध) के अलावा ओएशो (शिव), पारसी अग्नि देवता, अथशो (अतश) तथा ग्रीक सूर्य देवता हेलियोस भी अङ्कित हैं। धर्म के विषय में यही उदारता कनिष्क से प्रायः छह शताब्दी बाद आने वाले बौद्ध शासक हर्ष ने दिखलायी, जिसने शिव और सूर्य की पूजा के सम्बन्ध में भी आदर–भाव प्रकट किया।

४. सम्राट् हर्षवर्द्धन– ये एक महान् विजेता थे। छत्तीस वर्ष तक निरन्तर युद्ध करने के पश्चात् ही वे समग्र भारत को एक राजनीतिक और सांस्कृति सूत्र में बाँध सके, जिसकी उस समय बहुत आवश्यकता थी। विद्या के वे बहुत प्रेमी और संरक्षक थे। प्रसिद्ध संस्कृतकवि बाणभट्ट उनकी राजसभा की शोभा थे। स्वयं सम्राट् हर्ष एक अच्छे लेखक भी थे। उन्होंने तीन संस्कृत नाटक लिखे हैं, जिनके नाम हैं– नागानन्द, रत्नावली और प्रियदर्शिका। कुछ विद्वान् इन्हें हर्ष की रचना मानने में आपत्ति भी करते हैं। नागानन्द नाटक में जीमूतवाहन बोधिसत्त्व द्वारा एक नाग के लिये किये गये आत्मबलिदान का वर्णन है।

हर्ष ने जीवन के प्रारम्भिक काल में अपने परिवार में महान् दुःख देखा। उसकी माता यशोमती ने पति के स्वर्गवास के बाद सरस्वती नदी के तट पर स्वयं को जीवित अवस्था में जला दिया। हर्ष के बड़े भाई राज्यवर्द्धन को गौड़ देश के राजा शशाङ्क ने मार डाला। हर्ष की भगिनी राज्यश्री की अभाग्यपूर्ण कथा सर्वविदित ही है। उसके पति गृहवर्मा को मालवा के राजा ने मार दिया और वह एक सौभाग्यपूर्ण दैवी घटना ही थी कि जब वह दुःखाभिभूत होकर चिता जला कर उसमें बैठने वाली ही थी, उसी समय हर्ष ने वहाँ जाकर उसे बचाया। जीवन के इन वियोगों और दुर्भाग्यों का हर्ष के संवेदनशील मन पर अनिवार्य प्रभाव पड़ा। यही कारण था कि अपने अग्रज राज्यवर्द्धन की मृत्यु के बाद उसने थानेश्वर के सिंहासन पर बैठना अस्वीकार किया। इसी प्रकार जब गृहवर्मा की मृत्यु के

बाद उसके किसी उत्तराधिकारी के अभाव में हर्षवर्द्धन से कन्नौज का राज्य स्वीकार करने के लिये कहा गया तो उसे भी उसने अस्वीकृत कर दिया। वह भिक्षु–जीवन व्यतीत करना चाहता था। परन्तु युग की आवश्यकताओं से पराभूत होकर वह यह नहीं कर सका। युआन च्वांग ने लिखा है कि राज्यवर्द्धन की मृत्यु के बाद जब अमात्यगण हर्ष से सिंहासन पर बैठने के लिये आग्रह कर रहे थे, तो वह धर्मसङ्कट में पड़ गया। किङ्कर्त्तव्यविमूढ़ होकर वह गङ्गा के तट पर अवलोकितेश्वर बोधिसत्व की मूर्ति के समीप गया। उसे लगा कि भगवान् अवलोकितेश्वर की यह इच्छा है कि वह बौद्ध धर्म की सेवार्थ राज्य के काम को संभाले और अपने को 'राजा' कह कर न पुकारे। अतः निष्काम कर्म की भावना से हर्ष ने देश का शासन सँभाला, परन्तु उसने अपने नाम के साथ 'महाराज' शब्द का प्रयोग नहीं किया। वह केवल 'राजपुत्र' या 'शीलादित्य' कहलाता था।

हर्ष के पिता महाराज प्रभाकरवर्द्धन सूर्यपूजक थे। हर्ष के बड़े भाई और बहिन श्रद्धालु बौद्ध उपासक थे। स्वयं हर्ष अत्यन्त श्रद्धावान् बौद्ध उपासक था, परन्तु अपने पूर्वजों की परम्परा के प्रति आदर दिखाते हुए वह शिव और सूर्य की भी पूजा करता था। नालन्दा विश्वविद्यालय का वह एक संरक्षक था और उसने वहाँ एक विहार और एक कांस्य मन्दिर भी बनवाया था।[1] उसने कई हजार स्तूप गङ्गा के तट पर बनवाये।[2] यह कहा जाता है कि प्रारम्भिक जीवन में सम्राट् हर्ष हीनयान बौद्ध धर्म के साम्मितीय सम्प्रदाय का अनुयायी था, परन्तु बाद में युआनच्वांग के प्रभाव स्वरूप उसका महायान की ओर झुकाव हुआ। सातवीं शताब्दी ईसवी के भारतीय धार्मिक जीवन की एक विशेषता यह भी है कि इस समय पौराणिक हिन्दू धर्म का उदय हुआ, जिसके परिणामस्वरूप मूर्तिपूजा पर कुछ अधिक बल दिया जाने लगा और जातिवाद के बन्धन कठोर कर दिये गये। इस कारण इस युग के बौद्धों और ब्राह्मणों में कुछ कटुता उत्पन्न हो गयी। परन्तु सब धर्म सम्प्रदायों को विना किसी भेदभाव के राजकीय संरक्षण दिया जाता था। युआन च्वांग लिखते हैं कि "राजकीय निवासों में १००० बौद्ध भिक्षुओं और ५०० ब्राह्मणों को प्रतिदिन भोजन दिया जाता था।"[3]

हर्ष के शासन की सबसे महत्वपूर्ण घटना चीनी यात्री युआन च्वांग की भारतयात्रा है। सन् ६३० से लेकर ६४४ ई० तक उसने इस देश में यात्रा की। हर्ष की पहली भेंट उससे राजमहल के समीप कजङ्गल नामक स्थान में हुई जब कि हर्ष उड़ीसा की विजय के बाद लौट रहा था। अत्यन्त पूज्य बुद्धि और आतिथ्य के साथ हर्ष ने युआन च्वांग का स्वागत किया। वह उसे कन्नौज (कान्यकुब्ज) ले गया, जहाँ उसके सम्मान में एक विशाल सभा का आयोजन किया। इस सभा में हर्ष के सभी सामन्त राजाओं ने भाग लिया, जिनमें कामरूप का नरेश भास्करवर्मा (जिसे कुमार भी कहा गया है) भी सम्मिलित था। इनके अतिरिक्त चार हजार बौद्ध भिक्षु भी इस सभा में सम्मिलित हुए, जिनमें एक हजार तो केवल नालन्दा विश्वविद्यालय से आए थे। तीन हजार जैन और ब्राह्मण विद्वानों ने भी इस सभा में भाग लिया था। युआन च्वांग को इस सभा का अध्यक्ष चुना गया। भगवान् बुद्ध की एक स्वर्णप्रतिमा, जो आकार में राजा के बराबर थी, एक सौ फुट ऊँची अट्टालिका में प्रतिष्ठापित की गयी। त्रिरत्न–बुद्ध, धर्म, सङ्घ–की पूजा समारोह के साथ की गयी। इस

---

१. आन युआन च्वांग्स ट्रेवेल्स इन इण्डिया, भाग दूसरा, पृष्ठ १७१।

२. वही, भाग पहला, पृष्ठ ३४४।

३. वही, प्रथम भाग, पृष्ठ ३४४।

सभा की कार्यवाही २१ दिन तक चलती रही। इस समय कुछ लोगों ने हर्ष को मारने का प्रयत्न भी किया, परन्तु वह विफल कर दिया गया।

इस सभा की कार्यवाही के बाद हर्ष अपने सम्माननीय अतिथि को गङ्गा–यमुना के सङ्गम (प्रयाग) पर ले गया। राजा स्वनियमानुसार प्रति पाँचवें वर्ष यहाँ आकर एक सभा करता था और इस प्रकार की यह छठी सभा थी। युआन च्वांग ने विस्तारपूर्वक उन समारोहों का वर्णन किया है जो वहाँ उस समय हुए। हर्ष के सभी अधीनस्थ राजाओं और सभी धर्म एवं सम्प्रदायों के विद्वानों ने ७५ दिन तक चलने वाली उस सभा में भाग लिया। प्रथम दिन बुद्ध भगवान् की पूजा हुई। दूसरे और तीसरे दिन क्रमशः सूर्य और शिव की प्रतिमाओं की पूजा हुई। हर्ष ने अपना सर्वस्व दान कर दिया। युआन च्वांग ने लिखा है कि जब हर्ष अपना सब कुछ दे चुका तो उसने अपनी बहिन राज्यश्री से एक जीर्ण वस्त्र की भिक्षा प्राप्त की और उसे पहन कर उसने 'दसों दिशाओं के बुद्धों' की पूजा की।

प्रयाग के समारोहों को देखने के बाद युआन च्वांग सम्राट् हर्ष के साथ दस दिन तक और रहा और उसके बाद उसने स्थल मार्ग से अपने देश के लिये प्रस्थान कर दिया। सम्राट् हर्ष ने सेना की एक टुकड़ी के साथ भास्करवर्मा को युआनच्वांग के साथ भेजा कि वह सुरक्षापूर्वक सीमान्त तक सम्माननीय अतिथि को पहुँचा आये। चीनी यात्री के भारत से प्रस्थान के साथ एक बौद्ध शासक के रूप में हर्ष के इस संक्षिप्त विवरण को हम समाप्त कर सकते हैं।

* * * * *

बौद्ध साहित्य में धार्मिक शिक्षा, शिक्षक एवं शिक्षणालय

शिक्षण राज्य द्वारा दिया जाय या शिक्षण राज्य का एक कर्त्तव्य या विहित कर्म है— ये पूर्णतः आधुनिक विचार हैं। प्राचीन काल में, भारत में यह कार्य विविध धर्मग्रन्थों और संस्थाओं का था कि वे अपनी शिक्षापद्धतियाँ बनायें और चलायें। इनमें ब्राह्मणपद्धति सबसे प्राचीन है। यह शिक्षणपरम्परा वैदिक काल से आज तक चली आ रही है। इसमें एक गुरु और उसके थोड़े से शिष्यों का दल मुख्य था। इसे 'गुरुगृह' (गुरुकुल) कहते थे। बौद्ध पद्धति की परम्परा विहारों (आचार्यकुलों) की है। उसकी पूर्ति भिक्षुजीवन से सम्बद्ध है।

दोनों का अन्तर स्पष्ट है। इससे दो प्रकार की विकासरेखाएँ निकलीं। १. ब्राह्मण–पद्धति में गार्हस्थ्य के वातावरण की आवश्यकता होने से गुरुगृह विस्तृत बन कर बड़े विश्वविद्यालयों का रूप न ले सके। २. बौद्ध पद्धति में शिक्षण कई शिक्षकों के साङ्घिक स्वामित्व की संस्था बन गया। इसीलिये बौद्ध पद्धति में बड़े बड़े विहार, विश्वविद्यालय निर्मित हो सके, जिनमें हजारों अध्यापक और विद्यार्थी एक साथ रह सकते थे। बौद्ध धर्म के विकास की अन्तिम तीन चार शतियों में ये विश्वविद्यालय समग्र एशिया में विख्यात हो गये और इस महाद्वीप के विविध भागों से विद्यार्थी आकृष्ट होकर उनमें आने लगे। बाद के विश्वविद्यालय जैसे—नालन्दा, वलभी, विक्रमशिला (विक्रमशीला), जगद्दल और ओदन्तपुरी, जिनमें डेढ़ हजार वर्षों तक जिस शिक्षा का विकास होता आ रहा था उसकी अन्तिम अवस्था व्यक्त करते हैं। इसका इतिहास हमें शदियों में विकीर्ण और कभी कभी मिलने वाले कुछ प्राचीन बौद्ध धर्मग्रन्थों से मिलता है, या फिर कई शताब्दियों का

अन्तराल पार करके, चीनी और तिब्बती स्रोतों से। कभी, बड़ी कठिनाई से कहीं किसी हस्तलिखित ग्रन्थ का तिथिक्रमोल्लेख, विशेषतः चीनी और तिब्बती लिपि में, कुछ विवरण दे जाता है और यह रहस्य अंशतः प्रकाशित होता है। अतः, बौद्ध शिक्षण का पूरा इतिहास दे सकना तो सम्भव नहीं, परन्तु कुछ स्थूल विकासरेखाएँ खींची जा सकती हैं।

वस्तुतः बौद्ध शिक्षण का इतिहास बौद्ध मठों, विहारों और भिक्षुसङ्घों के इतिहास का ही एक पक्ष है। इसमें इन विहारों में बौद्धिक जीवन की, इस की क्रमशः प्रगतिपरक समृद्धि की, इसके शतियों तक विस्तृत और उदार प्रभाव की, इसके विकसित होने और फैलने की प्रक्रिया व्यक्त होती है। भिक्षु के लिये प्रशिक्षण की पद्धति से आरम्भ होकर, नई बौद्धिक आवश्यकताओं और रुचियों के अनुसार उसका क्षेत्र और उद्देश्य बढ़ता गया। उसे नये मानसिक क्षितिज प्राप्त होते गये। अन्ततः बौद्ध विहार ऐसे विशिष्ट स्थान बन गये जो केवल मठबद्ध मनन और धर्मचिन्तन के स्थान ही नहीं, अपितु वे संस्कृति और ज्ञान के पीठ भी हो गये। आगे चलकर उनमें से कुछ विश्वविद्यालय हो गये। परन्तु यह इतिहास, जो वेदोत्तर प्राचीन भारत के सारे कालखण्ड में फैला है, सहसा ईसा की बारहवीं शती में आकर रुक जाता है, पूर्णतः स्तब्ध हो जाता है। इस लम्बी कहानी की समाप्ति पूर्वी भारत (बंगाल और विहार) में **बख्त्यार खिलजी** के विजय–अभियानों के साथ होती है।

शिक्षा का आरम्भ

भिक्षुप्रशिक्षण— प्रायः ईसापूर्व चौथी शती में जब बौद्धों ने मठों में सन्यस्त जीवन बिताने का निश्चय किया, तब यह प्रश्न उठा कि जो नया दीक्षित है और जिसने मठ में प्रवेश किया है, उसे क्या शिक्षण दिया जाय? इसे 'निस्सयपद्धति' कहते थे। इसका अक्षरशः अर्थ है—'शिक्षक पर निर्भर रहना।' यह निस्सयकाल शिक्षा ग्रहण करने का काल था और पूर्ण भिक्षु बनने के पहले की स्थिति का द्योतक था। ब्राह्मणग्रन्थों में इसे 'ब्रह्मचर्य' कहा गया है। यह एक ऐसी पद्धति थी कि जिसमें साम्प्रदायिक मठजीवन में बुद्धपूर्व गुरुगृहपद्धति का ही अनुकरण था। विद्वान् योग्य व्यक्ति जो मठ में प्रवेश करता, पाँच वर्ष तक निस्सय में रहता था, जब कि दूसरा कोई व्यक्ति आजीवन निस्सय में रहता था। नव दीक्षित को एक आध्यात्मिक निर्देशक मिलता था, जिसे 'उपज्झाय' कहते थे, और एक व्यवस्थित पाठ पढ़ाने वाला भी जिसे 'आचार्य' कहा जाता था, जो कम से कम दस वर्ष तक भिक्षु रहा होता था।

शिक्षा के उपकरण— जिस काल–खण्ड की हम चर्चा कर रहे हैं, उसमें आधुनिक अर्थ में साक्षरता नहीं हुआ करती थी, और समग्र अध्ययन मौखिक परम्परा से श्रवण और स्मरण या सुनने और दुहराने–रटने से होता था। विनयपिटक में भिक्षु को कौन कौन सी वस्तुएँ अपने साथ में रखनी चाहिये, इनका जो उल्लेख है, उसमें कहीं भी किसी हस्तलिखित ग्रन्थ या लेखनसामग्री का उल्लेख नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि तब लिखने पढ़ने की पद्धति नहीं थी। वस्तुतः पुस्तकलेखनपद्धति, राजकीय कार्यों के लिये छोटे ताम्रपत्र या धातुपट्ट के लेखों को यदि छोड़ दें तो, बहुत बाद में व्यवहार में लायी गयी। सम्भवतः ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी से पहले नहीं। भिक्षु आचार्य अपनी छोटी सी कक्षा बहुत अनौपचारिक ढंग से चलाते थे। मथुरा के प्राच्यवस्तुसंग्रहालय में एक बहुत घिसी हुई जो मूर्ति मिली है उससे कुछ अनुमान किया जा सकता है। इसमें खुले आकाश के नीचे जमीन पर कुछ विद्यार्थी विविध मुद्राओं में बैठे हैं, और उनके सामने गुरु बैठा है जिसके बाएँ हाथ में उसके सिर पर तिरछा उठाया हुआ छाता है।

आचार्य की शिक्षाएँ भी उस समय के भिक्षुजीवन के लिये आवश्यक ज्ञान से सम्बद्ध रही होंगी। विनय और गाथाएँ, जातक, प्रार्थनाएँ, मूल तत्त्व और दर्शन– यह शिक्षा बार–बार मूल पाठ के सामूहिक रूप से उच्चारण या 'संगीत' यानी एक साथ मिलकर गाने से सुदृढ़ की जाती थी। इन सबका उद्देश्य था मूल पाठों को कंठस्थ करना।

जो लिखे हुए धर्मग्रन्थ नहीं थे और जो नवदीक्षित के शिक्षण का प्रमुख अङ्ग थे, उनके धम्म और विनय– ये दो अङ्ग प्रधान थे। अच्छे विहार में दोनों विषयों के विशेष ज्ञाता होते थे। उन्हें सुत्तन्तिक और विनयधर कहते थे। फिर कुछ विशेष खण्डों के विशेषज्ञ भी होते थे, यथा–मातिकाधर, जो 'मातिकाएँ' (मन्त्रादि) जानते थे।

बौद्ध धर्मग्रन्थों में एक छोटा सा प्रसङ्ग आता है जिससे यह पता चलता है कि आंशिक शिक्षा कितनी निष्ठा से और ईमानदारी से ग्रहण की जाती थी। पवारणविहारों में एक गम्भीर विधि थी। यह वस्सावास के अन्त में होती थी। एक बार यह विधि पूरी नहीं हो सकी, चूँकि पूर्व रात्रि का अधिकतम समय, विना नींद लिये हुए, भिक्षुओं ने धम्मपाठ में बिताया था, सुत्तन्तिकों ने सुत्तन्त पढ़े थे, विनयधरों ने विनय पर शास्त्रार्थ किया था और धम्मकथिकों ने धम्म की चर्चा की थी।[1]

यहाँ 'धम्मकथिक' शब्द दो अर्थ में प्रयुक्त किया गया है : पहला 'धम्म' तो अपने व्यापक अर्थ में आया है, जैसे–'धर्मचक्रप्रवर्त्तन' में और दूसरा अधिक विशिष्ट अर्थ में। 'कथा' शब्द, धर्म के सिद्धान्तों पर विशेष व्याख्यान या वादविवाद के अर्थ में प्रयुक्त होता था, यथा– कथावस्तु, अभिधम्मकथा आदि।

आरम्भिक काल में भिक्षु के प्रशिक्षण में इन कथाओं का बड़ा महत्त्व था। इन्हीं से आगे एक पद्धति विकसित हुई। उसी को 'अभिधम्म' कहते हैं। अभिधम्मपिटक में इन कथाओं का सार कथित है। यह सब कुछ मन का एकाङ्गी व्यापार नहीं था, अपितु एक ओर शिक्षक के लिये ऐसा होना आवश्यक था कि जो ''विद्यार्थी को धर्म और विनय की सब बातें समझाये, धर्म के अनुसार शास्त्रार्थ करे और कराये, मिथ्या सिद्धान्त कौन से हैं–यह बताये'', दूसरी ओर, विद्यार्थी के लिये भी कहा गया है कि वह वादविवाद पटु हो, और शिक्षक यदि कोई विरुद्ध सिद्धान्त ग्रहण करे या औरों को ग्रहण कराये तो उसका विरोध करे।

विनयपिटक में, आरम्भिक शिक्षा जैसी होती थी उसकी रूपरेखा दी गयी है। यह शिक्षा केवल बौद्ध दीक्षा ग्रहण करने वालों के लिये थी। यह परम्परा से चली आ रही मठ–विहार तक सीमित शिक्षणपद्धति बहुत मर्यादित थी।

वादविवाद, शास्त्रार्थ, खण्डन–मण्डन की अत्यधिक स्वतन्त्रता प्रत्येक भिक्षु को इन विहारों में दी जाती थी। प्रत्येक व्यक्ति स्वयं सब विषयों में, चाहे वे धम्म के हों या विनय के सोचे, विचारे, तर्क करे, किसी निश्चय पर पहुँचे। सङ्घ के सामने औपचारिक रूप से अपने मतभेद रखने की पद्धति के विनय बने हुए थे। परन्तु सङ्घ का अन्तिम निर्णय भी, जो कि सङ्घ में मतदान (शलाका) की पद्धति से निश्चित किया जाता था, व्यक्तिगत मत–विश्वास को कुण्ठित नहीं करता था। जो लोग भिन्न मत रखते थे, उन्हें अपना दल बनाने की अनुमति दी जाती थी। मठ और विहार के जीवन में इस प्रकार की सुविधा विचारस्वातन्त्र्य बढ़ाने में और उसे तीक्ष्णतम बनाने में जहाँ सहायक हुई, वहाँ इस सुविधा से उन सब

---

१. द्र०– विनयपिटक, महावग्ग, वस्सूपनायिकाखन्धक।

विभिन्न सम्प्रदायों और पन्थों का बीजवपन हुआ, जो कि बौद्ध इतिहास का एक प्रमुख अङ्ग बन गये। इस प्रकार, बौद्ध धर्म में अगणित पन्थ और उपपन्थ, जिनका आरम्भिक रूप एक नवीन विचारधारा या भिक्षु–मत के एक नवीन आन्दोलन से था, एक साथ समाहित हो गये।

विद्यापीठों के रूप में विहार

बौद्धिक विनय– ऊपर जो भिक्षु की दीक्षापूर्व मानसिक तैयारी की रूपरेखा दी गयी है, उसमें इस बात पर बल दिया गया है कि वह बौद्धिक दृष्टि से तीक्ष्ण बने। ज्यों ज्यों बौद्ध मठ और विहार केवल आध्यात्मिक संस्कृति के रक्षागृह न रहकर, विद्या के केन्द्र बनते गये, यह आग्रह बढ़ता गया। फाहियान और युआन च्वांग जहाँ अपने यात्रा–वृत्तान्तों में कई विहारों में जाने का वर्णन देते हैं, वहीं यह भी लिखते जाते हैं कि अमुक अमुक मठ या विहार में अमुक विद्वान् भिक्षु ने अमुक विशिष्ट ग्रन्थ की रचना की। यह इस बात का सङ्केत है कि विहारों के स्वरूप में और नया परिवर्तन आया। यह घटना सम्भवतः ईसा की प्रथम शती या उससे कुछ पहले घटित हुई।

इस विकास के क्या कारण हुए? यह देखने के लिये हमें दूर नहीं जाना है। बौद्ध धर्म अन्य धर्मियों का धर्मपरिवर्तन करा कर अपने अनुयायियों की संख्यावृद्धि चाहता था। दूसरे, बौद्ध विहारों का अस्तित्व राजाश्रित या लोकाश्रित था, और इसके लिये मठ–विहारों में रहने वाले भिक्षुसङ्घ को उस आश्रय के योग्य बनना आवश्यक था।

शास्त्रार्थपद्धति–यह योग्यता सिद्ध करने का एक प्राचीन परम्परासम्मत मार्ग था शास्त्रार्थ, पण्डित–सभाएँ या विविध पन्थों के बीच में शास्त्रीय वाद। कभी ये शास्त्रार्थ एक ही धर्म के कई पन्थों में होते या दो परस्पर विरोधी धर्मों के प्रतिनिधियों के बीच होते थे। ऐसे शास्त्रार्थों के कई प्रसिद्ध ऐतिहासिक उदाहरण हैं, प्राचीन और नवीन, वैदिक काल में, अशोक के समय में (ईसा पूर्व तीसरी शती), हर्षकाल में (ईसा की सातवीं शती) और बाद में भी। इसी कारण बौद्ध शिक्षणपद्धति में भी तर्क और न्याय की सूक्ष्मता में पारङ्गतता प्राप्त करने की प्रतिस्पर्द्धा जगी। उदाहरणार्थ 'सप्तदशभूमिशास्त्र' नामक ग्रन्थ के पन्द्रहवें खण्ड में मैत्रेय सात अध्यायों में वाद–विवाद कला का वर्णन करते हैं। यह बौद्ध संस्कृत–ग्रन्थ सम्भवतः ४०० ईस्वी का होगा। भारतीय तर्कशास्त्र के इतिहास में माध्यमिक न्याय का प्रतिनिधित्व पूर्णतः बौद्ध विद्वान् भिक्षुओं द्वारा किया जाता है, जिनकी कृतियाँ भारत में तो नष्ट हो गयीं, परन्तु वे तिब्बत में प्राप्त हुईं और आरम्भ में कुछ विद्वानों ने इन्हें खोज निकाला।

विद्यापीठ– दूरगामी सांस्कृतिक परिणाम वाली एक महत्त्वपूर्ण बात यह हुई थी कि पुराने मठ–शिक्षण नष्ट होकर ये विहार शनैः शनैः विद्यापीठों में परिवर्तित हुए। भिक्षु का अध्ययन केवल बौद्ध धर्म के ग्रन्थों के पठन–पाठन से पूर्ण नहीं होता था। भिक्षुओं को और भी विषय पढ़ाये जाते थे। अन्य धर्मों के सिद्धान्त तथा अन्य दर्शन की पद्धतियाँ (जो बौद्ध विचारों के अन्तर्गत थे), और कुछ विहारों में तो व्यावहारिक महत्त्व के विषय, जैसे खेती और वास्तुविद्या भी सिखाये जाते थे। ये विद्याएँ विहारों के निर्माण और निर्वहन के लिये आवश्यक थीं। ईसापूर्व प्रथम शती के बाद, जब पुस्तक–लेखनपद्धति प्रचलित हुई, ग्रन्थों का संग्रह और उनकी सुरक्षा भी विहारों में होने लगी। बाद में नालन्दा और विक्रमशिला जैसे विश्वविद्यालयों के हस्तलिखित ग्रन्थों के विशाल संग्रहालय इसी प्रकार से बने।

जीवनपद्धति– परन्तु ये विद्यापीठ अपना संन्यस्त रूप बराबर बनाये हुए थे।

वहाँ रहने वाले विद्यार्थियों को मठ और विहारों के विरक्त जीवन के सब नियम पालने पड़ते थे। चीनी यात्रियों के वर्णन से ज्ञात होता है कि इन विद्यालयों में विविध बौद्ध पन्थों के भिक्षुओं के प्रदेश तक ही विद्यार्थियों की संख्या सीमित नहीं थी, अपितु कई अदीक्षित बौद्धविद्याजिज्ञासु बौद्धेतर मुमुक्षु भी वहाँ प्रवेश पा सकते थे। उन्हें 'माणव' और 'ब्रह्मचारी' कहते थे। उस समय एक मठ में रहने और सीखने के एक साथ लाभ के लिये किसी प्रकार के द्रव्यविनिमय का प्रश्न ही नहीं उठ सकता था।

व्यवस्था और अनुदान– राजा लोग और जनसाधारण एक आध्यात्मिक कर्त्तव्य के नाते इन मठों को अनुदान देते थे। बौद्ध धर्म का विकास चाहने वाले राजा किसी एक ग्राम या ग्रामसङ्घ का सम्पूर्ण कर अनुदान के रूप में समीप के विहार को दे देते। विहार की भूमि और भवन किसी व्यापारिक व्यक्ति या साधारण अमीर भक्तों के दान के रूप में होती। इस प्रकार से कई विहार और भिक्षुगृह समृद्ध बनते गये, उनके सुन्दर भवन और सभागृह बने। उनमें सर्वसाधनसम्पन्न धान्य–भण्डार और बहुत सी स्थावर सम्पत्ति भी संगृहीत हुई। कतिपय मठों का एक ही प्राचीर के बीच सङ्घ बन गया और उनकी एक ही संस्था हो गयी।

चीनी यात्रियों का साक्ष्य– १. फाहियान अपने वर्णन में लिखता है कि "राजा और वैश्यों के अग्रणी भिक्षुओं के लिये जो विहार बनाते उनमें खेत, घर, बगीचे, फलों के उद्यान, पशु इत्यादि वहाँ समीपस्थ जनता के सहयोग से, दान में देते। राजा की ओर से विहारों को जो दानपत्र दिये जाते, ...वे धातु की पट्टियों पर खोदे जाते और वे एक राजा से दूसरे राजा को वंश परम्परा से मिलते। किसी का साहस नहीं था कि उन्हें वह निरस्त कर सकता।.... जब एक राजा एक भिक्षुसङ्घ को कोई दान देता था, तो वह अपना मुकुट उतार कर आदर व्यक्त करता, अपने सम्बन्धियों और मन्त्रियों को लेकर, इन भिक्षुओं को अपने हाथों से खिलाता। ....जनता के परिवार इन भिक्षुसङ्घों को सब आवश्यक वस्तुएँ विपुल मात्रा में देते थे, ताकि कोई कमी या अपूर्णता न रह जाय।"

२. कई मठ, सातवीं शती के अन्त में इतने अमीर हो गये थे कि चीनी यात्री इ–त्सिंग जब उस शताब्दी के अन्त में वहाँ आया, तब उसने उनकी निन्दा सी की है। वह लिखता है–"यह मठ के लिये उचित नहीं कि वहाँ आवश्यकता से अधिक द्रव्य हो, अन्न–भाण्डारों में लगा हुआ अन्न हो, अगणित स्त्री–पुरुष नौकर–चाकर हों और धन इतना सञ्चित हो कि कोष में उसका कोई उपयोग ही न हो।"

फाहियान पाँचवीं शती के पूर्वार्द्ध में पाटलिपुत्र के दो विहारों में गया था। ये दोनों उस कालखण्ड में देश के विभिन्न भागों में जो विहार बन रहे थे, उनके आदर्श थे। उनमें से एक 'बहुत विशाल और सुन्दर' महायानविहार था, दूसरा हीनयानी था। दोनों में मिलाकर छह सौ सात सौ भिक्षु रहते थे। वह इन दोनों विहारों के वर्णन में लिखता है– "वहाँ के आचार–व्यवहार के नियम और विद्यार्थियों के लिये वहाँ की व्यवस्था देखने योग्य है। सब जगह के सबसे अच्छे और योग्य, श्रमण, विद्यार्थी और सत्यजिज्ञासु वहाँ आते थे।"

उनकी शिक्षापद्धति ने फाहियान को भी आकृष्ट किया था, यद्यपि वह एक धार्मिक तीर्थयात्री ही अधिक था।

३. उसके बाद विद्याप्रेमी और विद्वान् युआन च्वांग भारत में आया। इन दो शतियों के बीच में विहारों का शिक्षणपक्ष बहुत विकसित हो गया था। देश के विभिन्न प्रदेशों

से विद्वान् लोग वहाँ पुस्तकें लिखने के लिये, अध्ययन करने, सीखने के लिये आते थे। इन विद्यापीठों की कीर्ति दूर के बौद्ध देशों में फैली थी। इसी कारण से विद्वान् तीर्थयात्री, विशेषतः चीनी, वहाँ खिंचे चले आये और उन्होंने इन महाविहारों के प्रत्यक्ष दर्शन पर आधृत वृत्तान्त लिखे। ये महाविहार भारत में ऐसे केन्द्रों की तरह थे, जो कि अन्य देशों में बौद्ध संस्कृति और ज्ञान फैलाने वाले प्रकाश वाहकों का कार्य करते थे।

सम्पूर्ण उत्तरी और दक्षिणी चीन देश, ५०० ईस्वी तक बौद्ध-धर्म अपना चुका था। उस समय बौद्ध व्रताचार सर्वत्र पाले जाते थे, मन्दिर और मठ प्रत्येक प्रदेश में बनाये गये, भिक्षु-भिक्षुणियों की सङ्ख्या बहुत थी और उन्हें बहुत आदर दिया जाता था।[1] इस समय चीन में बौद्ध धर्म मूल रूप में विकृत हो चुका था। उस युग के चीन के बौद्ध भिक्षु मानते थे कि चीनी बौद्ध धर्म को सुधारने और शुद्ध करने के लिये बौद्ध धर्म के मूल देश की ओर जाना चाहिये, मूल ग्रन्थों को संगृहीत करना चाहिये और वास्तविक व्रताचार सीखने चाहिये। तीर्थयात्रा का उद्देश्य तो था ही, परन्तु विशेषतः इस उद्देश्य से प्रेरित होकर चीनी तीर्थयात्रियों की एक परम्परा सी चल पड़ी, हजारों मील रेतीले रेगिस्तान और पर्वत प्रदेश लांघ कर वे यहाँ आये।

एक आधुनिक चीनी इतिहासकार, प्रो० लिआंग-ची-चाओ के अनुसार, ५वीं, ६ठीं, ७वीं और आठवीं शती में कम से कम १६२ तीर्थयात्री चीन से भारत में आये, ऐसा चीनी स्रोतों से पता चलता है। इनमें से केवल तीन व्यक्तियों के ऐतिहासिक अभिलेखों का चीनविद्याविशारदों ने पूरी गवेषणा की है और उनके अनुवाद किए हैं। वे तीन हैं- १. फाहियान ४०५ से ४११ ईस्वी के भारत का, २. युआन-च्वांग ६२९ से ६४६ ईस्वी के भारत का और ३. इ-त्सिंग ६७१ से ६९५ ईस्वी के भारत का वर्णन देते हैं।

१. नालन्दा विश्वविद्यालय- युआन च्वांग विद्वान् महायानी भिक्षु था। भारत आगमन पर उसने विविध विश्वविद्यालयों में बौद्ध और ब्राह्मण दर्शनों का अध्ययन किया। उसने विशेष रूप से इन दो संस्थाओं का उल्लेख किया है- पूर्व में नालन्दा का और पश्चिम में वलभी का। वलभी हीनयानी विद्यालय था। अतः उस ओर उसका इतना ध्यान नहीं गया, परन्तु नालन्दा का अत्यधिक विस्तृत वर्णन उसने दिया है, जिसे उसके शिष्य और जीवनी-लेखक ह्वुई ली ने अधिक सम्पूर्ण रूप दिया है।

नालन्दा में युआन च्वांग ने, उस संस्था के प्रमुख आचार्य शीलभद्र से पाँच वर्ष तक योगदर्शन का अध्ययन किया। यह एक बहुत बड़ा विश्वविद्यालय था, वहाँ अध्ययन की कई शालाएँ थीं, व्याख्यान के लिये प्रकोष्ठ थे, ग्रन्थालय थे, व्याख्यानों के लिये प्रवेश और उपस्थिति के नियम थे, अनुशासन के और विद्यार्थियों के व्यवहार के नियम थे, शिक्षण व्यवस्था के विधि-निषेधात्मक नियम थे, नियमों की अवहेलना का पूर्ण दण्ड-विधान था। वह संस्था कितनी विशाल थी- यह इसी से जाना जा सकता है कि युआनच्वांग के अनुसार वहाँ डेढ़ हजार अध्यापक और दस हजार विद्यार्थी थे।

इ-त्सिंग के समय में यह संख्या घटकर ३००० तक हो गई थी।

यह कहा जाता है कि व्याख्यानों और वादविवादों के लिये सौ आसन्दियाँ (पीठ) प्रतिदिन लगायी जाती थीं। बौद्ध और ब्राह्मण दर्शनों का अध्ययन किया जाता था। इसमें

---

१. फिट्जेजेराल्ड, शार्ट कल्चरल हिस्ट्री ऑफ चाइना, पृष्ठ २७६।

आध्यात्मिक और ऐहिक दोनों प्रकार के विषय आते थे, और विद्यार्थियों को विषय चुनने पड़ते थे।[1]

''नालन्दा विश्वविद्यालय के भिक्षु और अन्य निवासियों की सङ्ख्या सदा १०,००० रहती थी, और वे सब महायान की शिक्षा पाते थे। अट्ठारह निकायों के ग्रन्थ पढ़े जाते थे जिनमें वेद–वेदाङ्ग थे, हेतुविद्या, शब्दविद्या, चिकित्सालय, अथर्ववेद या मन्त्रविद्या, साङ्ख्ययोग आदि विद्याएँ थीं, साथ ही वे अन्य प्रकीर्ण ग्रन्थों का भी सूक्ष्म अध्ययन करते थे। एक हजार व्यक्ति वहाँ ऐसे थे जो बीस सूत्र ग्रन्थ और शास्त्र समझ सकते थे। ५०० ऐसे अध्यापक थे, जो ऐसे तीस ग्रन्थ सिखा सकते थे और कदाचित् दस ऐसे थे, जो पचास ग्रन्थ समझा सकते हैं। अकेले शीलभद्र ऐसे हैं जिन्होंने सभी ग्रन्थ पूरी तरह पढ़े हैं और सब ग्रन्थों को समझा सकते हैं।''

भारतीय विद्यालयों में जो शिक्षणपद्धति प्रचलित थी उसके विषय में और जो बातें ज्ञात हुई हैं उनके अनुसार विद्यार्थी के अध्ययन का एक मुख्य अनिवार्य विषय था संस्कृत व्याकरण। इ–त्सिंग लिखते हैं–''पुराने अनुवादक (संस्कृत से चीनी में) संस्कृत भाषा के नियम हमें नहीं बताते..... अब मुझे पूरा विश्वास है कि संस्कृत व्याकरण के सम्पूर्ण अध्ययन से, अब इस अनुवाद में जो भी कठिनाइयाँ आयँगी, दूर हो जायँगी।''[2] बाद में वह, संस्कृत व्याकरण का व्यवस्थित रूप से कैसे अध्ययन होता था, इसका वर्णन देता है।

यशोमित्र की टीका स्फुटार्था से स्पष्ट है कि उस समय व्याकरण–ग्रन्थ पढ़े जाते थे, उनमें मुख्य ये थे– पाणिनिसूत्र, धातुपाठ, अष्टधातु, उणादिसूत्र, काशिका वृत्ति, चूर्णि (सम्भवतः पातञ्जल महाभाष्य), भर्त्तृहरि का शास्त्र वाक्यपदीय और भागवृत्ति। वे आगे लिखते हैं कि तरुण विद्यार्थी हेतुविद्या और अभिधर्मकोश सीखते हैं। न्यायद्वार, तर्कशास्त्र की शिक्षा से उनकी अनुमान शक्ति विकसित होती है, और जातकमाला पढ़ने से उनकी कल्पना और विचारशक्ति बढ़ती है। भिक्षु न केवल सब विनय सीखते हैं, अपितु समस्त सूत्रों एवं शास्त्रों का भी अनुसन्धान करते हैं।

वह लिखता है कि–''भारत में दो परम्पराएँ ऐसी हैं जिनके द्वारा मनुष्य ऊँची बौद्धिक शक्ति प्राप्त कर सकता है। एक, बारम्बार कण्ठस्थ करने से बुद्धि बढ़ती है, दूसरे वर्णमाला के अक्षरों से विचार निश्चित हो जाते हैं। इस पद्धति से दस दिन में विद्वान् को ऐसा लगने लगता है कि उसके विचार फब्वारे की तरह उठ रहे हैं और एक बार सुनी हुई बात दुबारा बताने की आवश्यकता न होते हुए, सतत स्मरण रह जाती है। यह केवल सुनी–सुनायी गल्प नहीं है, परन्तु मुझे स्वयं ऐसे लोग मिले हैं।''

दीक्षान्तसमारोह– पाठ्यक्रम की समाप्ति पर दीक्षान्तसमारोह होता था। उसमें विद्यार्थी की सामाजिक स्थिति और गुणों को देखते हुए उपाधियाँ दी जाती थीं।

घटिकायन्त्र– नित्य का कार्यक्रम घटिकायन्त्र के सहारे नियमित किया जाता था। एक बड़े से पानी के कटोरे में एक छोटी छेद वाली कटोरी रखी जाती थी। वह एक प्रहर के चौथे हिस्से में पूरी भर जाती; तब एक नगाड़े से एक प्रहर की सूचना दी जाती थी। विद्यार्थी और शिक्षक का एक कार्यदिवस आठ घण्टों का होता था।

---

१. द्र०–हुई लुई, युवानच्वांग की जीवनी, पृष्ठ ११२।

२. इत्सिंग, बौद्ध धर्म के वृत्तान्त, अध्याय ३४।

नालन्दा अपने 'वाद-विवादों की शाखाओं' के लिये प्रसिद्ध था। वस्तुतः उससे और प्राचीन, प्रतिष्ठित परम्परा का स्मरण हो आता है—कथाओं की परम्परा का। इन शालाओं में न केवल भारत के सब प्रदेशों से, अपितु सुदूर पूर्व और तिब्बत से भी पढ़ने वाले आते थे। ''पढ़ने में और वाद-विवाद करने में दिन यों बीत जाता था कि दिन के घण्टे उन्हें कम जान पड़ते थे।''[१] नालन्दा तथा अन्य विश्वविद्यालयों में किए गये ये वाद-विवाद ब्राह्मणधर्मीय या बौद्ध विचारों और संस्कृति के समन्वय में इतने सहायक सिद्ध हुए कि प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक इतिहास का अन्तिम काल अतीव रहस्यमय बन गया।

ग्रन्थालय— तिब्बती स्रोत हमें बताते हैं कि नालन्दा के ग्रन्थालयों में हस्तलिखित ग्रन्थों की विशाल सम्पदा थी। लामा तारानाथ और १७वीं, १८वीं शती के अन्य तिब्बती लेखक, जिन्होंने बौद्ध धर्म के इतिहास लिखे हैं, इस सम्पदा के विषय में लिखते हैं कि विश्वविद्यालय के प्राङ्गण का बहुत बड़ा वृत्त इन ग्रन्थालयों के लिये पृथक् रखा गया था और उस पर विशाल अनेक तल वाले भवन थे। उनमें से तीन के सुन्दर नाम थे—रत्नोदधि, रत्नसागर, रत्नरञ्जक। पहला ग्रन्थालय नौ तल का था। तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार एक क्रोधी तुरुष्क द्वारा जानबूझ कर आग लगा दी गयी और ग्रन्थालय का यह विशाल भवन भस्मसात् हो गया।

कई शताब्दियों पूर्व नालन्दा की स्थापना हो चुकी थी। परन्तु विश्वविद्यालय के कारण वह अपनी चरम कीर्ति पर पहुँचा। छठीं शती में, फाहियान और युआनच्वांग के काल के बीच में और सम्भवतः विक्रमशिला विश्वविद्यालय की बढ़ती हुई कीर्ति के सामने इसकी कीर्ति कुछ मन्द पड़ गयीं हो, फिर भी तीन शताब्दियों तक नालन्दा का नाम चमकता रहा। ११९७ ई. में विहार पर जो मुस्लिम आक्रमण हुआ उसे वह न सह सका। उस समय के इतिहासकार मिनहाज ने लिखा है कि इस आक्रमण में सिर घुटे हुए पुजारियों की सार्वजनिक हत्या की गयी।[२]

स्थापत्य की दृष्टि से ७वीं शती के भारत में नालन्दा कदाचित् सबसे बड़ा और सबसे सुन्दर विहार था। युआन च्वांग का ही नहीं, परन्तु बाद की शती के राजा यशोवर्मन के एक वर्णनात्मक शिलालेख का साक्ष्य है कि नालन्दा में ''विहारों की पंक्तियाँ थीं और गगनचुम्बी शिखरों की मालिकाएँ भी।''[३]

''बाहर के सब चौक, जिनमें पुजारियों के कमरे हैं, चार मंजिल वाले हैं। प्रत्येक तल (मंजिल) का एक महासर्प जैसा बाहर का चक्करदार पुच्छल हिस्सा है और रंगीन बेलें, मोतियों जैसे चमकने वाले लाख खम्भे, जिन पर बहुत सुन्दर नक्काशी का काम किया हुआ था, बहुत से अच्छी तरह सजाए हुए जीने और छज्जे इत्यादि थे। छतों पर ऐसे कवेलू थे जो प्रकाश की किरणों को हजार रङ्गों में परिवर्तित करते थे। ये सब उस दृश्य की सुन्दरता को बढ़ाते हैं। भारत में सङ्घाराम इतने हैं कि उनकी गणना नहीं, परन्तु इनमें सबसे अधिक सौन्दर्य और ऊँचाई में प्रसिद्ध यही है।''.... ''इस संस्था का, जो कई राजवंशों का निर्माण कार्य है, स्थापत्य सम्पूर्ण है और सचमुच सुन्दर है।[४]'' जहाँ स्थापत्य का यह महान् आदर्श स्थित है वहाँ की प्राकृतिक स्थिति भी उस सौन्दर्य से मिलती जुलती

---

१. युवान च्वांग।

२. तबकत-इ नसिरी, पृष्ठ ५५२।

३. हुई ली एवं युवानच्वांग।

४. हुई ली।

ही है। भूमिं पर अनेक सरोवर हैं जिनमें नीलोत्पल विपुल मात्रा में हैं और उनके सुन्दर नीले रङ्ग के साथ कनक पुष्प सब ओर से अपना गहरा लाल रङ्ग मिलाते हैं। आम्रकुओं की घनी छाया सब ओर भूमि पर छितरी हुई है। नालन्दा के इस सारे स्वाभाविक और मानव निर्मित सौन्दर्य में से केवल खण्डहरों के अब कुछ बचा नहीं है। यत्र तत्र मिट्टी के ढेर हैं, खण्डित पत्थरों की प्रतिमाएँ हैं। पुरातत्वविद् अपने फावड़े और कुदालें लेकर वहाँ आज भी व्यस्त हैं।

स्थान— राजगृह (बिहार राज्य) से कुछ मील दूरी पर बड़गाँव देहात ही प्राचीन नालन्दा था। पुरातत्त्वविदों ने वहाँ खुदाई की और जो कुछ मिला वह एक पास के संग्रहालय में रखा गया है। इन वस्तुओं में विश्वविद्यालय की मुद्रा मिली है, जो पत्थर पर खुदी है। उस पर धर्मचक्र है। उसके दोनों ओर एक एक मृगशावक हैं। उस पर यह लिखा है 'नालन्दा महाविहार महाभिक्षुसङ्घ'। इस मुद्रा से यह सिद्ध है कि यह विश्वविद्यालय अपने आप में पूर्ण एक ऐसी संस्था थी जिसमें अगणित विहार थे। ये विहार विविध सदियों में बनाए गये थे और इस प्रकार यह महाविहार बना था।

२. बलभी विश्वविद्यालय— युआन–च्वांग और इ–त्सिंग दोनों ही एक अन्य प्रमुख महाविहार का भी वर्णन करते हैं। वह पश्चिमी भारत के बलभी का महाविहार था। ई–त्सिंग लिखता है कि इन विश्वविद्यालयों में विद्यार्थी दो–तीन वर्ष तक अपना अध्ययन पूर्ण करने के लिये रहते थे। उस शती में बलभी हीनयानियों की सबसे बड़ी संस्था थी और नालन्दा महायानियों की।

३. विक्रमशीला विश्वविद्यालय— ऊपर बताये विश्वविद्यालयों के अतिरिक्त, अन्य कई बौद्ध विश्वविद्यालय भी थे जो मुस्लिमों के बिहार–बंगाल के विजयकाल तक चलते रहे। तिब्बती स्रोतों से उनका पता चलता है। तारानाथ के 'भारतीय बौद्ध धर्म के इतिहास' के वर्णन से और अन्य ऐतिहासिक हस्तलिखित रचनाओं में तिथि के जो उल्लेख हैं, उनसे जान पड़ता है कि विक्रमशीला इन विश्वविद्यालयों में सबसे बड़ा और प्रसिद्ध था। गङ्गा के दाहिने किनारे पर 'जहाँ पवित्र नदी उत्तर को बहती है', विक्रमशीला एक छोटी सी पहाड़ी पर था। यह स्थान अभी तक निश्चित रूप से नहीं पाया गया। कदाचित् जल के निरन्तर प्रवाह से वह बह गया हो। अपने सबसे चरम काल में इसे बंगाल के बौद्ध पाल राजाओं का आश्रय प्राप्त था, यह बहुत बड़ा विद्यालय रहा होगा। इसके छह द्वार थे। प्रत्येक द्वार पर एक विश्वविद्यालय स्तर का विद्वान् रक्षक होता था, जो द्वारपण्डित कहलाता था। इसमें पण्डित की अन्तिम उपाधि दी जाती थी।

तिब्बती अभिलेखों के अनुसार दीपङ्कर श्रीज्ञान (९८०–१०५३ ई०) के नाम से सम्बद्ध होने के कारण विक्रमशीला की कीर्ति थी। ओदन्तपुरी में अपना अध्ययन पूर्ण कर, ये विद्वान् आचार्य १०३४–३८ ईस्वी में विक्रमशीला विश्वविद्यालय के मुख्य बने। बाद में तिब्बत के राजा के निमन्त्रण पर वे तिब्बत गये और बौद्ध धर्म के सुधार का आन्दोलन उन्होंने प्रारम्भ किया। तब बौद्ध धर्म तिब्बत का राजधर्म था।

४. जगद्दल विश्वविद्यालय— बंगाल के बौद्ध पाल राजा बहुत विद्याप्रेमी थे। राजा रामपाल (१०८४–११३० ई०) ने एक नई राजधानी गङ्गा और उसकी एक सहायक नदी करतोया के सङ्गम पर बनायी। उसका नाम रामावती रखा। वहाँ उसने जगद्दल नाम बौद्ध विश्वविद्यालय स्थापित किया। वह कठिनता से डेढ़ शताब्दी रहा होगा कि विहार के मुस्लिम आक्रमण में वह भी नष्ट हो गया। परन्तु इस छोटे से समय में उसमें

अनेक विद्वान् हुए जिनके नाम आज हमें केवल ग्रन्थों में तिथि और लेखकोल्लेख मात्र से ज्ञात होते हैं। ये उल्लेख संस्कृत और तिब्बती दोनों भाषाओं में हैं।

५. ओदन्तपुरी विश्वविद्यालय— जहाँ एक समय में एक हजार भिक्षु रहते थे, यह पालवंश से पहले विद्यमान था, परन्तु पाल राजाओं के समय उसे विश्वविद्यालय का रूप मिला। पाल राजाओं ने बहुत उदारतापूर्वक उसे दान दिया। यह कहा जाता है कि तिब्बत में जो पहला बौद्ध विद्यालय बना वह इसी विश्वविद्यालय के आदर्श पर था।

नालन्दा की परम्परा इन परवर्ती बौद्ध विश्वविद्यालयों ने आगे बढ़ायी, मुस्लिमविजय–काल तक। बाद में इन विश्वविद्यालयों से भाग कर कई विद्वान् तिब्बत पहुँचे, जहाँ उन्होंने अपने ग्रन्थ लिखे। बौद्ध धर्म के तिब्बती विश्वकोश में उनका समावेश है, कुछ मूल तिब्बती में हैं तो कुछ संस्कृत के अनुवादमात्र। तिब्बती लिपि भी दीपङ्कर श्रीज्ञान ने भारतीय लिपि से ही निर्मित की, और इस कारण, इन प्रवासी विद्वानों को तिब्बती भाषा सीखने में कठिनाई नहीं आयी। उसी में उन्होंने ग्रन्थ रचना भी की।

पालि बौद्ध साहित्य के विद्वान्

यह एक आश्चर्य की बात है कि भारतीय साहित्य में पालि के अतुलनीय महत्त्व और मूल्य का सम्यक् अवधारण आज भारत में नहीं किया जाता, जैसा कि होना चाहिये। यह अनुभव नहीं किया जाता कि पालि भाषा और साहित्य ने न केवल हमारी आधुनिक भारतीय भाषाओं को प्रभावित किया है, अपितु उनका प्रभाव सिंहल, बर्मा और स्याम देश की भाषाओं के विकास पर भी पड़ा है। यह नितान्त स्वाभाविक है कि इस भाषा का गहन अनुशीलन हमारे पड़ोसियों के साथ हमारे सांस्कृतिक सम्बन्धों को शक्तिशाली बनाने में सहायक सिद्ध होगा।

इसलिये हमें पालि के अध्ययन में अधिक रुचि उत्पन्न करना चाहिये। क्योंकि यह सम्पूर्ण साहित्य भगवान् बुद्ध के व्यक्तित्व के चारों ओर चक्कर लगाता है, इसलिये इस तथ्य ने इसे बौद्ध धर्म के विद्यार्थियों के लिये और अधिक मूल्यवान् बना दिया है। न्यूमैन ने अपने मज्झिमनिकाय के अनुवाद की प्रस्तावना में लिखा है— ''जो पालि जानता है, उसे बाहर के प्रकाश की आवश्यकता नहीं है।''

भगवान् बुद्ध के गहन उपदेशों को समझने में हमारी सहायता करने वाले पालि लेखकों और बौद्ध धर्म के व्याख्याकारों में चार तेजस्वी विद्वानों का नाम प्रमुख रूप से हमारे सामने आते हैं। वे हैं— १. नागसेन, २. बुद्धदत्त, ३. बुद्धघोष और ४. धम्मपाल।

१. नागसेन— ''मिलिन्दपञ्ह'' के सङ्कलनकर्त्ता महास्थविर नागसेन माने जाते हैं। यह पालि त्रिपिटक के बाद सम्भवतः सब से अधिक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है।

''मिलिन्दपञ्ह'' की रचना के सम्बन्ध में जो बात निश्चयपूर्वक कही जा सकती है, वह यह है कि इस ग्रन्थ का प्रणयन मिनान्दर के समय में या उसके बाद, परन्तु बुद्धघोष के समय से पूर्व हुआ; क्योंकि बुद्धघोष ने इस ''मिलिन्दपञ्ह'' को अनेक बार प्रमाणस्वरूप उद्धृत किया है। इसका अर्थ यह है कि ''मिलिन्दपञ्ह'' की रचना १५० ई०पू० और ४०० ई० के बीच किसी समय हुई।

यदि यह स्वीकार भी कर लिया जाय कि ''मिलिन्दपञ्ह'' का ऐतिहासिक आधार भी कुछ न कुछ है, फिर भी इस पर तो विचार करना ही पड़ेगा कि किसने इस ग्रन्थ का प्रणयन किया? इसका रचनाकाल क्या है? क्या इसमें परिवर्द्धन और क्षेपक किये गये? और यदि हाँ, तो कब?

कुछ विद्वान् यह कहते हैं कि ''मिलिन्दपञ्ह'' एक एकात्मताबद्ध रचना नहीं है। इसके विभिन्न अध्याय विभिन्न शैलियों में लिखे गये हैं। अतः यह सम्भव हो सकता है कि कुछ अध्याय बाद में जोड़े गये हों। परन्तु उत्तरकालीन परिवर्द्धनों और क्षेपकों के लिये पूरी सम्भावना मानते हुए भी हमारे लिये इस मान्यता को सर्वथा दूर हटा देना उचित न होगा कि नागसेन, या जो कोई भी इस ग्रन्थ का लेखक रहा हो, उसने ''मिलिन्दपञ्ह'' को उसी रूप में लिखा, जिसमें वह आज हमारे सामने है; क्योंकि यह असम्भव नहीं है कि चीनी अनुवादकों ने ही अपने किसी पूर्वाग्रह के कारण अनुवाद को प्रथम तीन अध्यायों तक सीमित रखना उचित समझा हो।

यह ''मिलिन्दपञ्ह'' सात अध्यायों में है। इनमें से प्रथम अध्याय अधिकांशतः व्यक्तिगत और ऐतिहासिक है, शेष सभी अध्याय सैद्धान्तिक हैं। ग्रन्थ में नागसेन ने अपने और राजा मिनान्दर के पूर्व जन्म के सम्बन्ध में तो सूचना नहीं दी। आत्मविलोप की सीमा तक पहुँचने वाली यह विनम्रता हमारे प्राचीन लेखकों की एक साधारण प्रवृत्ति रही है। फिर भी ''मिलन्दिपञ्ह'' से इतनी सूचना तो अवश्य मिलती है कि स्थविर नागसेन का जन्मस्थान कङ्गल नामक प्रसिद्ध स्थान था, जो हिमालय के समीप मध्य देश की पूर्वी सीमा पर स्थित था और उसके पिता सोणुत्तर नामक एक ब्राह्मण थे। जब नागसेन तीनों वेद, इतिहास और अन्य विषयों के अच्छे ज्ञाता हो गये तो उन्होंने स्थविर रोहण से बुद्ध के सिद्धान्त पढ़े और तदनन्तर भिक्षुसङ्घ में प्रवेश किया। उसके बाद उन्होंने वत्तनिय के स्थविर अस्सगुत्त (अश्वगुप्त) का शिष्य बन कर अध्ययन किया। इसके बाद वे पाटलिपुत्र (पटना) गये, जहाँ उन्होंने बौद्ध धर्म का विशेष अध्ययन किया। अन्त में वे सागल के सङ्खेय्यपरिवेण में गये, जहाँ राजा मिलिन्द उनसे मिला।

नागसेन की मिलिन्द से शास्त्रचर्चा– राजा मिलिन्द अपने समकालीन धर्म–गुरुओं से सन्तुष्ट नहीं था और उसके दर्प के भाव इन शब्दों में प्रकट हुए : ''तुच्छ है यह जम्बुद्वीप! प्रलापमात्र है यह जम्बुद्वीप! यहाँ ऐसा कोई श्रमण या ब्राह्मण नहीं है जो मेरे साथ वाद कर सके।[1]'' स्थविर नागसेन के रूप में उसे एक ऐसा व्यक्ति मिल गया, जिसने न केवल अपनी उच्चतर मेधाशक्ति से अपितु अपने प्रभावशाली और दूसरे को मनवाने के लिये बाध्य करने वाले शब्दसञ्चय से उसे पूरी तरह पराभूत कर दिया।

जैसे ही मिलिन्द और नागसेन एक दूसरे से मिले, राजा ने भिक्षु से पूछा, ''भन्ते! आपका नाम क्या है? आप किस नाम से पुकारे जाते हैं?'' नागसेन ने उत्तर दिया, ''महाराज! मेरा नाम नागसेन है। मेरे गुरुभाई मुझे इसी नाम से पुकारते हैं। माता पिता अपने पुत्रों के इस प्रकार के नाम रख देते हैं, जैसे नागसेन, शूरसेन आदि, परन्तु ये सभी केवल व्यवहार करने के लिये संज्ञामात्र हैं; क्योंकि यथार्थ में ऐसा कोई एक पुरुषमात्र (आत्मा) नहीं है।'' बस, नागसेन के इस उत्तर से प्रश्न और उत्तरों की एक शृङ्खला प्रारम्भ हो गयी, जिसके परिणामस्वरूप नागसेन ने मिलिन्द को रथ की उपमा देते हुए बताया कि जिस प्रकार दण्ड, अक्ष, चक्के इत्यादि रथ के अवयवों के आधार पर व्यवहार के लिये ''रथ'' ऐसा एक नाम कहा जाता है, उसी प्रकार स्कन्धों के होने से एक सत्त्व (जीव) समझा जाता है।

मिलिन्दपञ्ह की विशेषता– पालि त्रिपिटक के बाद अनात्मवाद का इतना

1. द्र०– *मिलिन्दपञ्ह का पुब्बयोग–प्रकरण।*

अधिक गम्भीर और मनोमोहक ग्रन्थ सम्पूर्ण बौद्ध साहित्य में अन्यत्र नहीं मिलता। इस प्रकार हमें ''मिलिन्दपञ्ह'' में बौद्ध तत्त्वज्ञान की ही नहीं, बौद्ध नीतिशास्त्र और मनोविज्ञान की भी विस्तृत व्याख्या मिलती है। बौद्ध ग्रन्थ के रूप में इसके महत्त्व के साथ साथ यह ऐतिहासिक और साहित्यिक दृष्टियों से भी यह एक मूल्यवान् रचना है। प्रथम शताब्दी ईसवी के गद्य साहित्य का अनुत्तर साक्ष्य हमें इस ग्रन्थ में मिलता है। संक्षेप में, तत्त्वज्ञान, साहित्य, इतिहास या भौगोलिक ज्ञान– किसी भी दृष्टि से हम देखें, ''मिलिन्दपञ्ह'' का भारतीय साहित्य में अपना एक स्वतन्त्र स्थान है। यह एक निर्विवाद तथ्य है कि सम्पूर्ण अनुपिटक साहित्य में कोई ऐसा बौद्ध ग्रन्थ नहीं है, जिसकी तुलना इस ग्रन्थ से की जा सके।

२. **आचार्य बुद्धदत्त–** काल–क्रम की दृष्टि से ''मिलिन्दपञ्ह'' के बाद पालि–त्रिपिटिक के विभिन्न ग्रन्थों की अट्ठकथाएँ (व्याख्याएँ) लिखी गयीं। परम्परा के अनुसार इनमें से आधी से अधिक आचार्य बुद्धघोष द्वारा रचित बतायी जाती है। आचार्य बुद्धघोष पालि त्रिपिटिक के सबसे प्रमुख अट्ठकथाकार थे।

परन्तु आचार्य बुद्धघोष के जीवन और कार्य का विवेचन करने से पूर्व हमारे लिये यह उचित होगा कि हम पहले आचार्य बुद्धदत्त के सम्बन्ध में कुछ विवरण दे दें।

आचार्य बुद्धदत्त यद्यपि बुद्धघोष के समकालीन थे, परन्तु लङ्का में ये आचार्य बुद्धघोष से पहले गये थे। लङ्का में बुद्ध–वचनों का अध्ययन करने के पश्चात् जब आचार्य बुद्धदत्त भारत की ओर लौट रहे थे तो उनकी नाव का मिलान उस नाव से हुआ, जिसमें बैठकर आचार्य बुद्धघोष भारत से लङ्का जा रहे थे। वहाँ वे एक दूसरे से मिले। उन्होंने एक दूसरे का अभिनन्दन किया और परिचय प्राप्त किया। आचार्य बुद्धघोष ने कहा– ''भगवान् बुद्ध के सिद्धान्त (व्याख्याएँ) सिंहली भाषा में उपलब्ध हैं। मैं उन्हें मागधी भाषा में रूपान्तरित करने के लिये सिंहल जा रहा हूँ।'' बुद्धदत्त ने उत्तर दिया– ''आयुष्मन्! मैं भी सिंहल में इसी उद्देश्य के लिये गाया था, परन्तु अब मेरी आयु अल्प ही है, मैं इस कार्य को समाप्त न कर सकूँगा।'' जब ये दोनों स्थविर इस प्रकार संलाप कर रहे थे, तो नावें अपने अपने गन्तव्य स्थान की तरफ चल दीं और फिर उनकी बातें सुनायी नहीं दीं।

ऐसा लगता है कि जब उन्होंने एक दूसरे से विदाई ली तो बुद्धदत्त ने आचार्य बुद्धघोष से यह प्रार्थना की कि वे उन्हें अपनी अट्ठकथाओं की प्रतियाँ भारत भेजते रहें, जैसा बुद्धघोष ने सम्भवतः किया भी। बुद्धदेव ने बाद में बुद्धघोष द्वारा की गयी अभिधर्मपिटक की अट्ठकथाओं का संक्षेप **अभिधम्मावतार** में और विनयपिटक की अट्ठकथाओं का संक्षेप **विनयविनिच्छिय** में किया।

आचार्य बुद्धदत्त चोल राज्य में उरगपुर (वर्तमान उरईपुर) के निवासी थे। आचार्य बुद्धघोष के समान उन्होंने भी अनुराधपुर के महाविहार में रहकर बुद्ध–धर्म का अध्ययन किया था। लङ्का से लौटकर उन्होंने कावेरी नदी के तट पर स्थित एक विहार में बैठकर अपने ग्रन्थों की रचना की।

बुद्धदत्त के ग्रन्थों में **अभिधम्मावतार** का स्थान सबसे ऊँचा है। यद्यपि यह बुद्धघोष द्वारा अभिधम्मपिटक पर की गयी अट्ठकथाओं का संक्षेप ही है, फिर भी बुद्धदत्त ने बुद्धघोष का अन्धानुकरण नहीं किया है। बुद्धघोष ने पाँच दार्शनिक तत्त्व रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान माने हैं, जबकि आचार्य बुद्धदत्त ने उनका वर्गीकरण और विवेचन केवल चित्त, चैतसिक, रूप और निब्बान (निर्वाण) के रूप में किया है।।

३. आचार्य बुद्धघोष— अब हम अनुपिटक साहित्य के सर्वप्रमुख लेखक (बुद्धघोष) की ओर आते हैं। बुद्ध–शासन की सेवा और उसे चिर स्थिति प्रदान करने के लिये बुद्धघोष ने क्या किया? यह निश्चित है कि उनके समान अन्य कोई उदाहरण नहीं है। न केवल विशालता की दृष्टि से, अपितु महत्त्व की दृष्टि से भी यह आश्चर्यजनक ज्ञात होता है कि एक व्यक्ति ने पालि साहित्य की समृद्धि में इतना बड़ा योग किस प्रकार दिया!

आचार्य बुद्धघोष के व्यक्तिगत जीवन पर जिन ग्रन्थों से कुछ प्रकाश पड़ता है, उनमें केवल **महावंस** ही ऐसा है जो समाश्रयणीय सामग्री देने का गर्व कर सकता है। महावंस के अतिरिक्त बुद्धघोसुपत्ति, गन्धवंस और सासनवंस जैसे ग्रन्थ भी हैं, परन्तु उनमें उपयोगी सूचना अल्प मात्रा में ही पायी जाती हैं।

बुद्धघोष का जन्म— महावंस के अनुसार बुद्धघोष का जन्म बोध गया के समीप हुआ। एक मत यह भी है कि तेलंग देश उनकी जन्मभूमि है। बर्मी लोग यह मानते हैं कि आचार्य बुद्धघोष का जन्म उनके देश में हुआ। यह विश्वास किया जाता है कि आचार्य बुद्धघोष ने एक लम्बे समय तक बोधगया में निवास किया। इस समय बोधगयाविहार सिंहल के भिक्षुओं के हाथ में था। चतुर्थ शताब्दी ईसवी में लङ्काधिराज कीर्तिश्री मेघवर्ण ने महाराज़ समुद्रगुप्त की अनुमति से बोधगया में वज्रासन की पूजार्थ आनेवाले सिंहली तीर्थयात्रियों की सुविधा के लिये एक विहार बनवाया था।

बुद्धघोष के समय में भारत में पालि में निबद्ध बौद्ध धर्म इतना लोकप्रिय नहीं रह गया था। संस्कृत का प्रभाव बढ़ रहा था। बौद्ध विद्वानों ने भी उसे अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में स्वीकार कर लिया था। प्रथम शताब्दी ईसवी के आचार्य अश्वघोष ने संस्कृत में अपनी काव्य–कृतियाँ लिखीं। इसी प्रकार नागार्जुन, वसुबन्धु और दिङ्नाग जैसे महान् बौद्ध दार्शनिकों ने संस्कृत में लिखा। गुप्तवंशीय राजाओं ने भी पालि में कोई अभिरुचि नहीं दिखायी और संस्कृत को ही संरक्षण दिया। इस प्रकार पालि और थेरवाद (स्थविरवाद) दोनों धीरे धीरे भारत में नगण्य अवस्था को प्राप्त हुए। परन्तु बोधगया के भिक्षु पाँचवीं शताब्दी में भी, जब बुद्धघोष भिक्षुसङ्घ में प्रविष्ट हुए, पालि के प्रति वही अचल निष्ठा रखते थे। उस समय बोधगया के महाविहार के प्रधान महास्थविर रेवत थे।

रेवत से शास्त्रार्थ— उन दिनों हमारे देश में शास्त्रार्थों का होना एक सामान्य बात थी। घोष[1], जो वेद–वेदाङ्ग में पारङ्गत और तर्कविलक्षण था, प्रतिवादियों की खोज में इधर–उधर घूमने लगा। एक दिन महास्थविर रेवत ने उसे पतञ्जलि के सूत्रों का पाठ करते देखा। महास्थविर उसके उच्चारण की शुद्धता देखकर इतने प्रभावित हो गये कि सम्भवतः उसको बुद्ध–धर्म में दीक्षित करने के उद्देश्य से ही उन्होंने उससे शास्त्रार्थ करने का निश्चय किया। घोष ने महास्थविर से पूछा– "क्या आप इन सूत्रों को समझते हो?" भिक्षु का उत्तर था, "हाँ, मैं समझता हूँ, ये दोषयुक्त हैं।"

महास्थविर रेवत ने योगसूत्रों की इस प्रकार समालोचना की कि घोष अवाक् रह गया। तदनन्तर घोष की प्रार्थना पर महास्थविर रेवत ने अपने सिद्धान्त के प्रख्यापन के लिये अभिधम्मपिटक की कुछ पंक्तियों को पढ़ा, जिन्हें घोष न समझ सका और उसने पूछा, "यह किसका मन्त्र है?" महास्थविर ने उत्तर दिया, "यह बुद्धमन्त्र है।" घोष ने फिर पूछा, "क्या आप मुझे इसे सिखा देंगे?" महास्थविर का उत्तर था, "यदि तुम

1. *यह बुद्धघोष का मौलिक (प्रारम्भिक) नाम माना जाता है।*

नियमानुसार सङ्घ में प्रवेश करो।'' घोष की उपसम्पदा हुई और तब से वह 'बुद्धघोष कहकर बुलाया जाने लगा। महास्थविर रेवत की शिष्यता में बुद्धघोष ने धर्म और विनय का अध्ययन किया और बौद्ध सिद्धान्तों के सबसे बड़े व्याख्याता के रूप में उनकी ख्याति हुई।

जिस विहार में बुद्धघोष की उपसम्पदा हुई थी, वहीं निवास करते हुए उन्होंने अपनी पहली पुस्तक 'ञाणोदय' लिखी। तदनन्तर उन्होंने 'धम्मसङ्गणि' की अट्ठकथा 'अट्ठसालिनी' लिखी। इसके बाद जब वे परित्तसूत्रों की अट्ठकथा लिखने वाले थे तो उनके गुरु महास्थविर रेवत ने उनसे कहा– ''यहाँ लङ्का से केवल मूल त्रिपिटक ही लाया गया है। यहाँ न अट्ठकथाएँ हैं और न विभिन्न आचार्यों की परम्पराएँ। परन्तु सिंहल द्वीप में महास्थविर महेन्द्र द्वारा मूलतः ले जायी गयी और बाद में सिंहली भाषा में अनूदित अट्ठकथाएँ हैं। तुम वहाँ जाओ, उनका अध्ययन करो और फिर मागधी भाषा में उनका रूपान्तर करो, जिससे वे साधारण जनता के लिये हितकारी हों।''

अपने गुरु से यह आदेश पाकर बुद्धघोष श्रीलङ्का गये। इस समय वहाँ महानाम नामक राजा राज्य कर रहा था। महाविहार के महाप्रधान नामक भवन में रहकर आचार्य बुद्धघोष ने स्थविर सङ्घपाल से सम्पूर्ण सिंहली अट्ठकथाओं और आचार्यों की परम्पराएँ सुनीं। उन्हें निश्चय हो गया कि धर्मस्वामी भगवान् बुद्ध का यही अभिप्राय है। तब उन्होंने भिक्षुसङ्घ से यह विनम्र प्रार्थना की– ''मैं अट्ठकथाओं का अनुवाद सिंहली भाषा से मागधी भाषा में करना चाहता हूँ। मुझे सब पुस्तकों को देखने की अनुमति दी जाय।'' तब भिक्षुओं ने उनकी योग्यता की परीक्षा के लिये उन्हें पालि की दो गाथाएँ दीं और उनकी व्याख्या करने के लिये कहा। बुद्धघोष ने उन दो गाथाओं के व्याख्यानस्वरूप सम्पूर्ण त्रिपिटक के सिद्धान्तो का सङ्कलन ही कर दिया और उसे ''विसुद्धिमग्ग'' (विशुद्धिमार्ग) नाम दिया। इससे अत्यधिक सन्तुष्ट होकर भिक्षुओं ने उन्हें अपना समग्र साहित्य देखने की अनुमति दे दी। अनुराधपुर के ग्रन्थकारपरिवेण में निवास करते हुए आचार्य बुद्धघोष ने सिंहली अट्ठकथाओं के मागधी रूपान्तर किये। इसके बाद वे अपनी मातृभूमि भारत लौट आये, जहाँ आकर उन्होंने बोधिवृक्ष की पूजा की।

बुद्धघोष की जाति– प्रोफेसर धर्मानन्द कोसम्बी जैसे विद्वान् कुछ कारणों से उत्तर भारत को बुद्धघोष की जन्मभूमि न मानकर बर्मी परम्परा के अनुसार दक्षिण भारत को यह गौरव प्रदान करते हैं। प्रोफेसर कोसम्बी इस बात में भी सन्देह करते हैं कि बुद्धघोष ब्राह्मण थे। हम महावंस की इस परम्परा को मानने में कोई गम्भीर आपत्ति नहीं देखते कि बुद्धघोष ब्राह्मण थे और उनका जन्म उत्तर भारत में हुआ था।

बुद्धघोष का निर्वाण– यह ठीक ज्ञात नहीं है कि इस महान् पालि–व्याख्याकार का निर्वाण कहाँ हुआ? कम्बोडिया में एक प्राचीन विहार है, जिसका नाम, 'बुद्धघोष–विहार' है और वहाँ एक जीवित किंवदन्ती यह है कि बुद्धघोष ने अपनी जीवन के अन्तिम दिनों उस देश में बिताये थे। इस विश्वास में सन्देह करने का कोई कारण दिखायी नहीं पड़ता।

बुद्धघोषरचित ग्रन्थ– बुद्धघोष का सर्वप्रथम ग्रन्थ ''विसुद्धिमग्ग'' था जिसे उन्होंने श्रीलङ्का में रहते हुए लिखा। ''महावंस'' में इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में लिखा है कि ''अट्ठकथाओं सहित सम्पूर्ण त्रिपिटक का यह संक्षेप ही है।''

हम बुद्धघोष के अन्य ग्रन्थों के कालक्रम का ठीक निश्चय नहीं कर सकते; क्योंकि प्रायः प्रत्येक अट्ठकथा में दूसरी अट्ठकथाओं का उल्लेख है। अतः आन्तरिक साक्ष्य

इसमें हमारी सहायता नहीं करता। **समन्तपासादिका** विनयपिटक की अट्ठकथा है। स्थविर बुद्धसिरि की प्रार्थना पर यह विस्तृत अट्ठकथा लिखी गयी थी। इसके अतिरिक्त बुद्धघोष ने पातिमोक्ख पर भी एक अट्ठकथा लिखी, जिसका नाम ''कङ्खावितरणी'' या ''मातिकट्ठकथा'' था। यह महाविहार की परम्परा पर आधृत थी और स्थविर सोण की प्रार्थना पर लिखी गयी थी।

बुद्धघोष ने प्रथम चार निकायों पर भी अट्ठकथाएँ लिखीं। इस प्रकार दीघनिकाय पर **सुमङ्गलविलासिनी**, मज्झिमनिकाय पर **पपञ्चसूदनी**, संयुत्तनिकाय पर **सारत्थप्पकासिनी** और अङ्गुत्तरनिकाय पर **मनोरथपूरणी**– ये चार अट्ठकथाएँ लिखी गयीं। सुमङ्गलविलासिनी सुमङ्गल परिवेण के स्थविर दाठानाग की प्रार्थना पर लिखी गयी थी। पपञ्चसूदनी की रचना स्थविर बुद्धमित्त की प्रार्थना पर हुई थी। स्थविर बुद्धमित्त आचार्य बुद्धघोष के मित्र थे, जिनके साथ वे दक्षिण भारत के मयूरपट्टन नामक विहार में रहे थे। सारत्थप्पकासिनी एक दूसरे स्थविर ज्योतिपाल (जोतिपाल) की प्रार्थना पर लिखी गयी थी। यह कहा जाता है कि खुद्दकनिकाय के चार ग्रन्थों, यथा– धम्मपद, जातक, खुद्दकपाठ और सुत्तनिपात पर भी बुद्धघोष ने अट्ठकथाएँ लिखीं। जातकट्ठकथा की रचना आचार्य बुद्धघोष ने अत्थदस्सी, बुद्धमित्त और बुद्धदेव नामक तीन स्थविरों की प्रार्थना पर की थी। खुद्दकपाठ और सुत्तनिपात की अट्ठकथा का नाम **परमत्थजोतिका** है। अधिक सम्भावना यही है कि ये दोनों अट्ठकथाएँ आचार्य बुद्धघोष के द्वारा न लिखी जाकर इसी नाम के किसी अन्य व्यक्ति द्वारा लिखी गयी हों।

अभिधम्मपिटक के सात ग्रन्थों पर भी आचार्य बुद्धघोष ने अट्ठकथाएँ लिखी हैं। इनमें **अट्ठसालिनी** धम्मसङ्गणि की अट्ठकथा है और **सम्मोहविनोदनी** विभङ्ग की। शेष पाँच ग्रन्थों अर्थात् धातुकथा, कथावत्थु, पुग्गलपञ्ञत्ति, यमक और पट्ठान की अट्ठकथाओं का संयुक्त नाम **पञ्चप्पकरणट्ठकथा** है। ये सब अट्ठकथाएँ प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं और महाविहार की परम्परा पर आधृत हैं।

४. स्थविर धर्मपाल– बुद्धघोष के बाद एक अन्य अट्ठकथाकार का नामोल्लेख करना भी यहाँ आवश्यक होगा। यह स्थविर धम्मपाल हैं जो भारत के दक्षिण पूर्वी किनारे पर बदरतित्थ नामक स्थान में रहते थे। सम्भवतः उनका जन्म भी दक्षिण भारत में हुआ था। क्योंकि उनकी अट्ठकथाओं में बुद्धघोष के नाम का उल्लेख है अतः यह निश्चित है कि वे बुद्धघोष के बाद हुए।

खुद्दकनिकाय के जिन ग्रन्थों पर आचार्य बुद्धघोष ने अट्ठकथाएँ नहीं लिखीं, इन पर अट्ठकथाएँ लिखने का काम आचार्य धम्मपाल ने किया। इस प्रकार धम्मपाल ने उदान, इतिवुत्तक, विमानवत्थु, पेतवत्थु, थेरीगाथा और चरियापिटक पर अट्ठकथाएँ लिखीं, जिनका संयुक्त नाम ''परमत्थदीपनी'' है। बुद्धघोषकृत ''विसुद्धिमग्ग'' पर उन्होंने ''परमत्थमञ्जूषा'' नामक टीका भी लिखी। धम्मपाल की अट्ठकथाएँ भी मौलिक सिंहली ग्रन्थों पर आधृत हैं और यह सम्भव है कि आचार्य धम्मपाल ने द्रविड़ भाषा में लिखित व्याख्याओं का भी कुछ आश्रय लिया हो, जो उन्हें दक्षिण भारत में प्राप्त हो सकीं।

पालि अट्ठकथाओं की तुलना प्रायः भाष्य–साहित्य से की जाती है, परन्तु यह सर्वांशतः ठीक नहीं है। पालि अट्ठकथाओं की अपनी विशेषताएँ हैं जो संस्कृत के भाष्य–साहित्य में सर्वथा नहीं मिलतीं। उदाहरणतः पालि अट्ठकथाकारों ने जिस ऐतिहासिक बुद्धि का परिचय दिया है, उस जैसी कोई वस्तु हमें संस्कृत के भाष्य–साहित्य में नहीं मिलती।

५. इन विद्वानों के अतिरिक्त **मोग्गलिपुत्त तिष्य** स्थविर का नाम भी इसी श्रेणी में आता है, जिनका वर्णन इस ग्रन्थ में यथास्थान विस्तार से किया जा चुका है।

संस्कृत बौद्ध साहित्य के ग्रन्थकार

जबकि थेरवाद बौद्ध धर्म का साहित्य पालि में है, सर्वास्तिवादियों ने (जो हीनयानियों में गिने जाते हैं) तथा महायानियों ने संस्कृत को अपने धार्मिक साहित्य का माध्यम चुना है। संस्कृत बौद्धधर्म के इतिहास से सम्बद्ध कुछ ग्रन्थकारों का विवेचन यहाँ किया जारहा है।

१. अश्वघोष— सम्राट् कनिष्क के समकालीन अश्वघोष एक महान् बौद्ध कवि और दार्शनिक थे। न केवल बौद्ध दर्शन के इतिहास में, अपितु संस्कृत काव्य की सम्पूर्ण परम्परा में उनका एक अपना स्थान है। महाकवि अश्वघोष आदिकवि वाल्मीकि के एक महत्त्वपूर्ण उत्तराधिकारी थे और स्वयं कालिदास और भास के पूर्वगामी थे। भारत और उसके बाहर अनेक विद्वानों का विश्वास है कि कालिदास अनेक बातों में उनके ऋणी थे। बौद्ध विचार के इतिहास में सबसे महान् कार्य जो अश्वघोष ने किया है, वह है बुद्ध—भक्ति पर अधिक बल देना। यद्यपि महायानी शिक्षाएँ अश्वघोष के समय से प्रायः दो या तीन शताब्दी पूर्व प्रचार में आ रही थीं, परन्तु उनकी प्रभावशाली अभिव्यक्ति सर्वप्रथम अश्वघोष की रचनाओं में ही हुई है।

अश्वघोष के जीवन—वृत्त के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान बहुत कम है। अपनी काव्य—कृतियों के अन्त में जो अल्प सूचना महाकवि ने दी है, उससे ज्ञात होता है कि वे साकेत (अयोध्या) के निवासी थे और उनकी माता का नाम सुवर्णाक्षी था। **बुद्धचरित, सौन्दरनन्द** और **सारिपुत्रप्रकरण,** अपनी इन तीन प्रसिद्ध काव्यकृतियों में से प्रत्येक के अन्त में कवि ने ने कहा है— **''आर्यसुवर्णाक्षीपुत्रस्य साकेतकस्य भिक्षोराचार्यभदन्ताश्वघोषस्य महाकवेर्महावादिनः कृतिरियम्।''** इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि अश्वघोष एक महान् कवि होने के साथ साथ एक विद्वान् आचार्य, आदरणीय बौद्ध भिक्षु और न्यायविद्या में पारङ्गत एक महान् तार्किक भी थे।

बुद्धचरित और सौन्दरनन्द महाकवि अश्वघोष के दो महत्त्वपूर्ण काव्यग्रन्थ हैं।

बुद्धचरित एक महाकाव्य है, जिसमें एक उदात्त और परिशुद्ध शैली में, यद्यपि अत्यधिक संयम के साथ, बुद्ध की जीवनी का वर्णन किया गया है। यह काव्य अपने मौलिक रूप में, जैसा कि वह सातवीं शताब्दी ईस्वी में इ—त्सिंग को चीनी अनुवाद में विदित था, २८ सर्गों में था। तिब्बती अनुवाद में भी इतने ही सर्ग हैं। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इस महाकाव्य के मौलिक संस्कृत रूप में भी इतने ही सर्ग रहे होंगे। इनमें से आज संस्कृत में केवल १७ सुरक्षित हैं, जिनमें भी प्रारम्भ के केवल १३ सर्ग ही प्रामाणिक माने जाते हैं। इ—त्सिंग ने लिखा है कि उनके समय में यह मनोरम काव्य भारत के पाँचों भागों तथा दक्षिणी समुद्र के देशों में सर्वत्र पढ़ा और गाया जाता था। इस महाकाव्य में अश्वघोष ने हमें भगवान् बुद्ध के जीवन और उपदेशों का सर्वोत्तम विवरण ही नहीं दिया है, अपितु भारत की पौराणिक परम्पराओं के सम्बन्ध में अपने विश्वकोश जैसे ज्ञान तथा प्राग्बौद्धकालीन दार्शनिक नयों, विशेषतः सांख्य के सम्बन्ध में अपनी बहुज्ञता का भी परिचय दिया है।

सौन्दरनन्द काव्य में भगवान् बुद्ध के द्वारा अपने मौसेरे भाई नन्द को उपसम्पन्न करने का वर्णन है।

उपर्युक्त दो महत्त्वपूर्ण काव्य–ग्रन्थों के अतिरिक्त अश्वघोष ने तीन नाटक भी लिखे, जिनकी खोज एच. लूडर्स ने इस शताब्दी के आरम्भ में मध्य एशिया के तूर्फान प्रान्त में की। इनमें सारिपुत्रप्रकरण, जो नौ अङ्कों में एक प्रकरण है, सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। संस्कृत साहित्य का यह प्राचीनतम नाटक है जो अभी तक प्राप्त हुआ है।

अश्वघोष ने एक गीति–काव्य भी लिखा, जिसका नाम ''गण्डीस्तोत्रगाथा'' है। इसमें स्रग्धरा छन्द में लिखी हुई २९ गाथाएँ हैं। ई.एच. जोह्नस्टन ने इसके अश्वघोषकृत होने में सन्देह प्रकट किया है। परन्तु विंटरनित्ज का कहना है कि, ''यह एक सुन्दर रचना है जो रूप और विषय दोनों दृष्टियों से अश्वघोष के अनुरूप है।''[१]

२. आर्य नागार्जुन– ये शातवाहन राजा यज्ञश्री गौतमीपुत्र (१६६–१९६ ई०) के समकालिक और मित्र थे, एक अति उच्च व्यक्तित्व के बौद्ध दार्शनिक थे। बौद्ध दर्शन के इतिहास में उन्होंने एक युग का निर्माण किया और उसे एक नया परिवर्तन (मोड़) दिया। उन्होंने बौद्ध दर्शन के मध्यमक सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया, जो शून्यवाद भी कहलाता है। नागार्जुन के समान तार्किक विश्व–इतिहास में कोई दूसरा नहीं हुआ। उनका महान् दार्शनिक ग्रन्थ **मध्यमकशास्त्र** है, जिसमें २७ परिच्छेदों में ४०० कारिकाएँ हैं। यह उनके दर्शन का आधारभूत ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में महायानसूत्रों में निहित उपदेशों का संक्षेप दिया गया है। इसी एक ग्रन्थ से ज्ञात हो जाता है कि नागार्जुन कितने महान् मेधावी पुरुष थे। और किस प्रकार वे हमारे अतीत और वर्तमान के चिन्तकों में सबसे अधिक तेज के साथ देदीप्यमान हैं।

नागार्जुन का जन्म– नागार्जुन की जीवनी के अनुसार, जिसका अनुवाद चीनी भाषा में कुमारजीव ने सन् ४०५ ई० में किया, नागार्जुन का जन्म दक्षिण भारत में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। युआन च्वांग का कहना है,कि उनका जन्म दक्षिण कोशल या प्राचीन विदर्भ (बरार) में हुआ था। नागार्जुन ने सम्पूर्ण त्रिपिटक का ९० दिन में अध्ययन कर लिया, परन्तु इससे उनको सन्तोष नहीं हुआ। हिमालयनिवासी एक अत्यन्त वृद्ध भिक्षु से उन्हें महायानसूत्र प्राप्त हुए, परन्तु उनके जीवन का अधिकांश समय दक्षिण भारत के श्रीपर्वत या श्रीशैलम् में बीता, जिसे उन्होंने बौद्ध धर्म के प्रचार का एक अद्वितीय केन्द्र बना दिया। तिब्बती वर्णनों का कथन है कि नागार्जुन कुछ दिन नालन्दा में भी रहे। युआन च्वांग ने तत्कालीन संसार को प्रकाशित करने वाले चार सूर्यों का उल्लेख किया है। उनमें एक नागार्जुन थे। शेष तीन थे अश्वघोष, कुमारलब्ध (कुमारलात) और आर्यदेव। निःसन्देह, एक विचारक के रूप में, नागार्जुन की भारतीय दर्शन में इतिहास में तुलना करने वाला कोई दूसरा नहीं है।

नागार्जुन की रचनाएँ– चीनी अनुवादों में प्राप्त प्रायः बीस रचनाएँ नागार्जुन की बतायी जाती हैं। उनमें से १८ का उल्लेख बुनियु नंजियो ने अपनी पुस्तकसूची में नागार्जुनकृत रचनाओं के रूप में किया है।

यहाँ नागार्जुन की एक अन्य कृति का और निर्देश होना चाहिये और यह है **''सुहृल्लेख''**, जिसे उन्होंने एक पत्र के रूप में अपने मित्र राजा यज्ञश्री गौतमीपुत्र को लिखा। इ–त्सिंग ने अपनी भारत–यात्रा के समय इस प्रभूत नैतिक महत्त्व वाली रचना को बालकों द्वारा कण्ठस्थ किये जाते और वयस्कों द्वारा जीवनपर्यन्त अनुशीलन किये जाते

१. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, भाग दो, (कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९३३), पृष्ठ २६६।

देखा था। यह रचना हमें असन्दिग्ध रूप से बताती है कि नागार्जुन ध्वंसात्मक विचारकमात्र न थे, अपितु नीति और सदाचार का भी उनके दर्शन में उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान है जितना अन्य किसी दार्शनिक नय में।

३–४. बुद्धपालित एवं भव्य– नागार्जुन द्वारा प्रतिपादित शून्यवाद के मुख्य व्याख्याकारों में यहाँ स्थविर **बुद्धपालित** और **भावविवेक** (या भव्य) का नामोल्लेख आवश्यक है। ये दोनों विचारक पाँचवीं शताब्दी ईस्वी में आविर्भूत हुए। बौद्ध दर्शन के इतिहास में उनका विशेष महत्त्व इस कारण है कि उन्होंने तर्कविद्या के क्रमशः 'प्रासङ्गिक' और 'स्वातन्त्र' सम्प्रदायों की स्थापना की। **आर्यदेव, शान्तिदेव, शान्तरक्षित** और **कमलशील** मध्यमक सम्प्रदाय के अन्य प्रसिद्ध विचारक हैं।

५–६. असङ्ग और वसुबन्धु– ये दो तेजस्वी बन्धु, जिनका समय ईसा की चतुर्थ शताब्दी है, उन सर्जनात्मक विचारकों में हैं, जिन्होंने बौद्ध दर्शन के शास्त्रीय युग को जन्म दिया। असङ्ग वसुबन्धु के बड़े भाई थे। वसुबन्धु से छोटे एक और भाई थे जिनका नाम विरञ्चिवत्स था। इस प्रकार ये तीन भाई थे। असङ्ग और वसुबन्धु का जन्म गन्धार देश के पुरुषपुर (पेशावर) नगर में हुआ था। वे कौशिक गोत्र के ब्राह्मण थे और वैदिक ज्ञान में पारङ्गत थे। उनकी शिक्षा काश्मीर में हुई, जहाँ उन्होंने **विभाषाशास्त्र** पढ़ा। प्रारम्भ में असङ्ग और वसुबन्धु सर्वास्तिवाद के अनुयायी थे, जिसका उन दिनों काश्मीर और गन्धार में प्रभाव था। उन्होंने कुछ दिनों के लिये अयोध्या की भी यात्रा की। वसुबन्धु के जीवनीलेखक परमार्थ का कहना है कि वसुबन्धु की मृत्यु अयोध्या में ही अस्सी वर्ष की अवस्था में हुई।

(क) आर्य असङ्ग– असङ्ग योगाचार या विज्ञानवाद बौद्ध मत के सबसे अधिक प्रभावशाली आचार्य माने गये हैं। उन्हीं की प्रेरणा से उनके अनुज वसुबन्धु ने भी सर्वास्तिवाद छोड़कर विज्ञानवाद का सहारा लिया। असङ्ग मैत्रेयनाथ के शिष्य थे, जिन्हें विज्ञानवाद का प्रवर्त्तक माना जाता है। असङ्ग के मुख्य ग्रन्थ हैं—महायानसम्परिग्रह, प्रकरणआर्यवाचा, योगाचारभूमिशास्त्र और महायानसूत्रालङ्कार। अन्तिम दो कृतियों का नैतिक और सैद्धान्तिक दृष्टियों से बहुत अधिक महत्त्व है। योगाचारभूमिशास्त्र के मूल संस्कृत रूप की खोज महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने की है। यह ग्रन्थ १७ भूमियों में विभक्त है और योगाचार मत के अनुसार साधनामार्ग का वर्णन करता है।

महायानसूत्रालङ्कार असङ्ग और उनके गुरु मैत्रेयनाथ की संयुक्त रचना है। कारिकाएँ मैत्रेयनाथ द्वारा लिखी गयी थीं और उनकी व्याख्या असङ्ग द्वारा।

(ख) आर्य वसुबन्धु– इन्होंने अपने अग्रज असङ्ग की प्रेरणा पर महायान बौद्ध धर्म का विज्ञानवाद मत स्वीकार कर लिया, सर्वास्तिवाद बौद्ध धर्म की वैभाषिक शाखा के एक प्रसिद्ध आचार्य थे। उनका सबसे महान् ग्रन्थ **"अभिधर्मकोश"** है, जो समग्र बौद्धदर्शन का एक विश्वकोश ही है। मूलतः इस ग्रन्थ की रचना सर्वास्तिवाद के वैभाषिक मत के अनुसार हुई थी, जो उस समय काश्मीर में अत्यन्त प्रभावशाली था। लेखक ने इस ग्रन्थ के अन्त में स्वयं कहा है—

"काश्मीरवैभाषिकनीतिसिद्धः प्रायो मयायं कथितोऽभिधर्मः।"

६०० कारिकाओं में लिखे गये इस महान् ग्रन्थ से एशिया में बौद्ध धर्म के प्रचार में बहुत सहायता मिली। अभिधर्मकोश के दर्शन की व्याख्या यहाँ नहीं की जा सकती। यह कहना पर्याप्त होगा कि प्रारम्भ से ही इस ग्रन्थ की प्रशंसा बौद्ध क्षेत्रों में ही नहीं, अपितु, अन्यत्र भी की गयी है। सातवीं शताब्दी ईस्वी के महाकवि बाणभट्ट ने अपने 'हर्षचरित' में

बौद्ध भिक्षु दिवाकरमित्र के आश्रम का वर्णन करते हुए वहाँ शुकों को भी 'कोश' (अभिधर्मकोश) की व्याख्या करते दिखाया है– "शुकैरपि शाक्यशासनकुशलैः कोशं समुपदिशद्भिः।" वसुबन्धु ने अपने 'अभिधर्मकोश' पर स्वयं भाष्य लिखा। इस अभिधर्मकोश भाष्य पर 'स्फुटार्था' नामक व्याख्या लिखने वाले आचार्य यशोमित्र का कहना है कि अपनी आध्यात्मिक प्राप्तियों के कारण आचार्य वसुबन्धु अपने समकालीनों में 'द्वितीय बुद्ध' के नाम से प्रसिद्ध थे।

"यं बुद्धिमतामग्र्यं द्वितीयमिव बुद्धमित्याहुः।"[1]

किसी मनुष्य के लिये यह प्रशंसा साधारण नहीं है। अभिधर्मकोश पर जो विस्तृत व्याख्यापरक साहित्य लिखा गया है, उससे ज्ञात होता है कि कितना विस्तृत प्रभाव इस ग्रन्थ का लोगों के मन पर पड़ा है। अभिधर्मकोश के अतिरिक्त वसुबन्धु की एक अन्य महत्त्वपूर्ण कृति 'परमार्थसप्तति' है जो उन्होंने अपने समकालीन प्रसिद्ध साङ्ख्यविद्वान् विन्ध्यवासी के ग्रन्थ **साङ्ख्यसप्तति** के खण्डन के रूप में लिखी थी। 'तर्कशास्त्र' और 'वादविधि' नामक दो रचनाएँ वसुबन्धु ने न्याय पर भी लिखीं। एक महायानी आचार्य के रूप में उन्होंने **सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र**, **महापरिनिर्वाणसूत्र** और **वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता** पर व्याख्याएँ लिखीं। आचार्य वसुबन्धु ने एक छोटी और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना **'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि'** भी हमें दी है, जो 'विंशिका' और 'त्रिंशिका' के दो रूपों में पायी जाती है, जिनमें क्रमशः बीस और तीस कारिकाएँ हैं।

७. दिङ्नाग– बौद्ध न्याय के इतिहास में दिङ्नाग का स्थान अत्यधिक उच्च है। वे वस्तुतः बौद्ध न्याय के संस्थापक ही हैं और सामान्यतः मध्ययुगीन न्याय के वे पिता कहे गये हैं। उनका जीवनकाल पाँचवी शताब्दी का आदि भाग है। तिब्बती स्रोतों के अनुसार दिङ्नाग का जन्म काञ्ची के समीप सिंहवक्त्र नामक स्थान में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ। पहले वे हीनयान बौद्ध धर्म के वात्सीपुत्रीय सम्प्रदाय के अनुयायी थे, परन्तु बाद में महायान के उपदेशों में उनका अनुराग हो गया। तिब्बती परम्परा के अनुसार वे वसुबन्धु के शिष्य थे। दिङ्नाग नालन्दा महाविहार में भी गये, जहाँ उन्होंने सुदुर्जय नामक एक ब्राह्मण तार्किक को शास्त्रार्थ में परास्त किया। उन्होंने शास्त्रार्थ करते हुए ओडिविश (उड़ीसा) और महारट्ठ (महाराष्ट्र) का भी भ्रमण किया। कहा जाता है कि उड़ीसा के एक जङ्गल में उनकी मृत्यु हुई।

दिङ्नाग ने न्यायशास्त्र से सम्बद्ध प्रायः एक सौ पुस्तकें लिखीं। इनमें से अनेक का तिब्बती और चीनी अनुवादों में सुरक्षित हैं और बुनियु नंजियों ने अपनी पुस्तकसूची में उनका उल्लेख किया है। इ–त्सिंग ने लिखा है कि उसकी भारत–यात्रा के समय दिङ्नाग की पुस्तकों का अध्ययन पाठ्य पुस्तकों की तरह होता था। दिङ्नाग का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ **प्रमाणसमुच्चय** है। इसके अतिरिक्त उनके मुख्य ग्रन्थ हैं : **न्यायप्रवेश**, **हेतुचक्रडमरू**, **प्रमाणशास्त्र**, और **आलम्बनपरीक्षा** ये सभी क्लिष्ट और दुरूह शैली में लिखे गये ग्रन्थ हैं। दिङ्नाग ने अपने ग्रन्थों में आचार्य वात्स्यायन द्वारा न्यायभाष्य में प्रतिपादित कुछ सिद्धान्तों का खण्डन किया था। बाद में वात्स्यायन के पक्ष का समर्थन करते हुए उद्द्योतकर भारद्वाज ने अपना 'न्यायवार्तिक' लिखा। इस प्रकार आचार्य दिङ्नाग बौद्ध और श्रौत परम्पराओं के न्याय को मिलाने वाली महत्त्वपूर्ण शृङ्खला हैं।

---

१. द्र०– स्फुटार्था व्याख्या की प्रारम्भिक पंक्तियाँ।

८. आचार्य धर्मकीर्ति— ये दिङ्नाग के एक उत्तराधिकारी और अद्वितीय प्रतिभा के नैयायिक थे। उनका जन्म चोळ देश के तिरुमलई नामक ग्राम में हुआ था। डॉ. श्चेरवात्स्की ने उनकी समानता योरप के प्रसिद्ध दार्शनिक ''काण्ट'' से की है। उनके ब्राह्मणप्रतिवादियों ने भी उनकी तर्कशक्ति की उत्कृष्टता को स्वीकार किया है।

धर्मकीर्ति का समय सातवीं शताब्दी ईसवी है। दिङ्नाग के शिष्य ईश्वरसेन से उन्होंने न्याय पढ़ा। बाद में वे नालन्दा महाविहार चले गये और वहाँ के सङ्घस्थविर और उस समय के प्रसिद्ध विज्ञानवादी आचार्य धर्मपाल के शिष्य हो गये। एक महान् दार्शनिक विचारक और सूक्ष्म तार्किक के रूप में धर्मकीर्ति का नाम अभी तक अन्धकारावृत था। तिब्बत में धर्मकीर्ति के सब से बड़े ग्रन्थ **'प्रमाणवार्तिक'** की उसके मूल संस्कृत रूप में महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने खोज कर न केवल बौद्ध धर्म की अपितु सामान्यतः सम्पूर्ण भारतीय न्याय की अकथनीय सेवा की है।

धर्मकीर्ति द्वारा लिखित अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं : **प्रमाणविनिश्चय, न्यायबिन्दु, सम्बन्धपरीक्षा, हेतुबिन्दु, वादन्याय** और **सन्तानान्तरसिद्धि**। इन सब ग्रन्थों का विषय प्रायः बौद्ध प्रामाण्यवाद है और इनमें उच्च दार्शनिक प्रतिभा और सूक्ष्म चिन्तन के दर्शन होते हैं। उत्तरकालीन बौद्ध धर्म प्रमाणमीमांसा के कितने उच्चस्तर पर था इसके दर्शन हमें धर्मकीर्ति की रचनाओं में होता है। सम्पूर्ण भारतीय न्यायशास्त्र के विकास में भी उनका विशिष्ट स्थान है। धर्मकीर्ति ने अपने ग्रन्थों में वात्स्यायनभाष्य का खण्डन किया था।

तीन बौद्ध चीनी यात्री

ईसा की सातवीं शताब्दी में जब यूरोप 'अन्धकार–युग' में रह रहा था, तब भारत और चीन एक प्रगाढ़ राजनैतिक, बौद्धिक, धार्मिक और कलात्मक जीवन बिता रहे थे। बौद्ध धर्म के माध्यम से इन दोनों देशों के बीच जो सम्बन्ध स्थापित हुआ उससे मानवता की एक ऐसी धारा का जन्म हुआ जो सिंहल से जापान तक फैल गयी। तंग वंश के शासनकाल में चीन ने एक नवीन एकता प्राप्त की और भारत से आने वाले शान्तिदायक प्रभाव का उसने स्वागत किया, जिससे उसकी शक्ति में मृदुता आयी।

इस युग में अनेक चीनी तीर्थयात्री भारत में आये, जिनमें से केवल दो सुप्रसिद्ध युआन च्वांग और इ–त्सिंग अपना लिखित विवरण छोड़ गये हैं। जिनमें उस विस्तृत आन्दोलन की स्मृतियाँ अनुविद्ध हैं जिसमें जापान ने भी भाग लिया था। शोतोकु तेशा द्वारा नारा में सन् ६०७ ई० में बनवाया होर्युजी का मन्दिर, इस परिवर्तन का साक्षी है।

दो शताब्दी पूर्व फाहियान इस आन्दोलन का पूर्वगामी था। वह भी भारत आने वाला सर्वप्रथम चीनी यात्री था, जो अपनी यात्रा का विवरण लिखित रूप में छोड़ गया है।

१. फाहियान— फाहियान ने मध्य चीन से गोबी के रेगिस्तान में होते हुए हिन्दूकुश तथा उत्तरी भारत को पार करते हुए बंगाल के ताम्रलिप्ति नामक बन्दरगाह तक की अपनी समग्र यात्रा पैदल ही की। ताम्रलिप्ति से वह समुद्री मार्ग द्वारा सिंहल गया और वहाँ से भयानक समुद्री यात्रा के बाद, जिसमें वह कई बार मृत्यु से बाल बाल बचा, वह अपने देश चीन पहुँचा। वह अपने साथ अनेक बौद्ध धार्मिक ग्रन्थ और बौद्ध देवताओं की मूर्तियाँ ले गया, जिनकी खोज में वह भारत आया था।

सङ्कल्प— फाहियान ने चीन में बौद्ध विनय की दुरवस्था देखकर अनेक मित्रों के साथ भारत आकर विनय–नियमों को ले जाने का सङ्कल्प किया। चीन के चंगन स्थान से

प्रस्थान–यात्रा प्रारम्भ कर वह तन–हुआंग आया। यहाँ के राज्यपाल ने उसे गोबी रेगिस्तान को पार करने के लिये आवश्यक सहायता प्रदान की।

यात्रा– फाहियान ने मध्य एशिया में जिन राज्यों की यात्रा की, उनमें उसने भारतीय संस्कृति का प्रचार देखा। लोप–नोर के दक्षिण में शन–शन के प्रदेश में उस समय हीनयान सम्प्रदाय के चार हजार भिक्षु थे और साधारण जनता भारतीय धर्म का ही कुछ परिवर्तनों के साथ अनुसरण करती थी। फाहियान ने दो मास और कुछ दिन कड़ा शहर में बिताये। यहाँ हीनयान सम्प्रदाय के ४००० से अधिक भिक्षु थे।

आगे चलकर यह चीनी यात्री खोतान ठहरा जो एक समृद्ध और सुखी राष्ट्र था। यहाँ महायान के सहस्रों भिक्षु निवास करते थे। इस देश के राजा ने फाहियान और उसके साथियों को विशाल 'गोमती–विहार' में निवास दिया। इस विहार का अनुशासन परिपूर्ण था।

फाहियान के कुछ साथी खोतान से काशगर की ओर बढ़ गये, परन्तु फाहियान और उसके कुछ अन्य साथी खोतान में तीन महीने और ठहर गये कि वे मूर्तियों के प्रभावशाली समारोह (जुलूस) को देख सकें। इस जुलूस में (हीनयान सम्प्रदाय को छोड़कर) चौदह विहारों के भिक्षु भाग लेते थे, जिनमें गोमतीविहार के भिक्षुओं का प्रथम स्थान होता था। राजा और उसके दरबार के लोग ही नहीं, अपितु रानियाँ भी इस समारोह में सम्मिलित होती थीं। यह समारोह हमारे आज के उड़ीसा (पुरी) में होने वाले रथोत्सव के समान था, अपितु उससे भी अधिक गौरवमय ढंग से मनाया जाता था। भिन्न भिन्न प्रकार के रथ होते थे और प्रत्येक विहार का रथोत्सव भिन्न भिन्न दिनों में होता था। खोतान में रथमहोत्सव को देखने के बाद फाहियान काशगर चल दिया, जहाँ वह तीन मास में पहुँचा। काशगर में उसने वहाँ के राजा द्वारा बुलायी गयी 'पञ्च–परिषद्' को देखा। यह परिषद् प्रति पाँचवें वर्ष बुलाई जाती थी। इसी प्रकार की परिषद् को हम भारत में सातवीं शताब्दी में हर्षवर्द्धन द्वारा प्रयाग में बुलवाये जाते देखते हैं, जिसमें युआन च्वांग भी सम्मिलित हुआ। परन्तु काशगर की सभा अपेक्षाकृत छोटी ही रही होगी। काशगर में, फाहियान के कथनानुसार "भगवान् बुद्ध का पत्थर का बना हुआ एक पीकदान था। भगवान् बुद्ध का एक दन्तधातु भी वहाँ था, जिसपर यहाँ के लोगों ने एक स्तूप का निर्माण किया था।"

बालोर–तघ पर्वतश्रेणी के किनारे किनारे सिन्धु नदी को प्रथम बार पार करने के भयानक दृश्य का फाहियान ने वर्णन किया है। चट्टानों को सीढ़ियों की सहायता से पार करने के बाद उसने इस नदी को रस्सियों के बने पुल से पार किया था। इसके बाद फाहियान उद्यान पहुँचा जो उस समय बौद्ध धर्म का एक समृद्ध केन्द्र था। इसके बाद दक्षिण दिशा में चलकर फाहियान गन्धार और तक्षशिला में आया। पेशावर में उसने कनिष्क द्वारा निर्मित स्तूप देखा, जिसकी अतुलनीय विशालता का उसने वर्णन किया है।

पेशावर से आगे चलकर फाहियान नगरहार (हद्दा) आया। इस समय तक उसके सब साथी उसे छोड़ चुके थे। नगरहार में एक स्तूप था, जो भगवान् बुद्ध की खोपड़ी की अस्थि बनवाया गया था। नगरहार के दक्षिण में आधा योजन की दूरी पर फाहियान ने एक गुफा देखी, जहाँ किसी किम्वदन्ती के अनुसार भगवान् बुद्ध अपनी छाया छोड़ गये थे, "चारों ओर के देशों के अनेक राजाओं ने कुशल चित्रकारों को उसका रेखा–चित्र खींचने के लिये भेजा, परन्तु कोई उसका ऐसा चित्र नहीं बना सका है।" फाहियान ने नगरहार के समीपवर्ती अन्य कई स्थानों का भी वर्णन किया है।

सफेद खोह पार करने के बाद फाहियान ने अफगानिस्तान में प्रवेश किया। यहाँ उस समय महायान और हीनयान सम्प्रदायों के तीन हजार भिक्षु रहते थे। बन्नू में भिक्षुओं की इतनी ही संख्या थी, परन्तु वे सब हीनयान सम्प्रदाय के थे। तदनन्तर पंजाब में भ्रमण करता हुआ वह यात्री मथुरा प्रदेश में आया, जहाँ बौद्धधर्म उस समय अत्यन्त लोकप्रिय अवस्था में था और राजा और जनता सभी भिक्षुओं का आदर करते थे। आगे बढ़ता हुआ चीनी यात्री मध्य देश में पहुँचा जिसे गुप्त साम्राज्य का हृदय कहा जा सकता था। इस प्रदेश का विस्तृत विवरण फाहियान ने दिया है। उसकी जलवायु की प्रशंसा करते हुए उसने वहाँ के निवासियों की समृद्धि का वर्णन किया है। राज्यशासन और दण्डव्यवस्था का भी उसने वर्णन किया है। लोगों की सदाचारप्रियता का वर्णन करते हुए उसने लिखा है– ''सारे देश में कोई जीवहिंसा नहीं करता, न कोई शराब पीता है, यहाँ तक कि लोग प्याज और लहसुन भी नहीं खाते....इस देश में सूअर और मुर्गियाँ नहीं पाली जातीं, पशुओं का क्रय–विक्रय नहीं होता, यहाँ के बाजारों में माँस बेचने वालों की दूकानें नहीं हैं और न शराब ही निकाली जाती है।'' समाज में भिक्षुओं का सम्मान था और सब जगह लोग शयनासन, भोजन और वस्त्र से उनका आतिथ्य करते थे।

इसके बाद फाहियान ने क्रमशः संकाश्य (कपिथ), कन्नौज (कन्याकुब्ज=कुबड़ी कन्याओं का प्रदेश) और साकेत या अयोध्या (शा–कि) की यात्री की। वह श्रावस्ती, कपिलवस्तु, वैशाली और पाटलिपुत्र भी गया। मगध देश की फाहियान ने बहुत प्रशंसा की है। उसने लिखा है– ''मध्य मण्डल के सब देशों में मगध में ही सबसे अधिक विशाल नगर और कस्बे हैं। इसके आदमी बहुत धनवान् और समृद्ध हैं और हृदय की उदारता तथा अपने पड़ोसियों के प्रति कर्त्तव्यपालन में एक–दूसरे से प्रतिस्पर्द्धा करते हैं।'' मगध के निवासियों को भी मूर्तियों के जुलूस निकालते फाहियान ने देखा था। उसने वहाँ के दातव्य औषधालयों का भी बहुत प्रशंसापूर्वक उल्लेख किया है। नालन्दा, राजगृह, गया, वाराणसी एवं उसके समीप ऋषिपतन मृगदाव तथा कौशाम्बी की भी फाहियान ने यात्रा की और इन सब का विशद वर्णन उसने किया है। कौशाम्बी के घोचिरवन (घोषिताराम) में जिस समय वह था, उसने दक्षिण भारत के पारावत नामक विहार के विषय में सुना, जिसके सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता।

वाराणसी से फाहियान पाटलिपुत्र लौट आया। किस प्रकार उसने बौद्ध धर्म सम्बन्धी हस्तलिखित पुस्तकें प्राप्त कीं, इसका विवरण उसने स्वयं दिया है, जो अतीव रोचक है। साधारणतः बौद्ध शास्त्र मौखिक परम्परा में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक चले आ रहे थे, परन्तु श्रावस्ती के एक महायानी सङ्घाराम में फाहियान को एक हस्तलिखित प्रति मिली। फाहियान का कहना है कि यह प्रति बुद्ध–उपदेशों के उस पाठ के अनुसार थी जिसकी स्वीकृति प्रथम महासङ्गीति के अवसर पर की गयी थी और जिसका प्रयोग भगवान् बुद्ध के जीवनकाल में भी भिक्षु करते थे। फाहियान का यह कहना आधुनिक विद्वानों को स्वीकार नहीं हो सकता। फाहियान ने तीन वर्ष संस्कृत (या पालि) लिखने और बोलने के सीखने में तथा विनय की प्रतिलिपि करने में बिताये। फिर यह चम्पा होता हुआ तमलुक (ताम्रलिप्ति) चला गया औ वहाँ भी उसने दो वर्ष सूत्रों की अनुलिपि करने तथा मूर्तियों के चित्र खींचने में बिताये।

एक बड़े व्यापारिक जहाज में बैठकर फाहियान तमलुक से सिंहल के लिये चल दिया जहाँ वह चौदह दिन में पहुँचा। सिंहल में फाहियान दो वर्ष तक ठहरा और इस बीच

वह चीन में अज्ञात संस्कृत–ग्रन्थों का संग्रह और उनकी अनुलिपि करता रहा। सिंहल में निवास करते समय फाहियान को अपने घर की स्मृति ने विकल कर दिया। चीन से चले उसे कई वर्ष हो गये थे। उसके कुछ साथी पीछे रह गये या मर गये थे। वह अकेलापन अनुभव कर रहा था। एक दिन जब एक व्यापारी को उसने अनुराधपुर के अभयगिरि विहार में भगवान् बुद्ध की मूर्ति के सामने श्वेत रेशम से बना एक चीनी पंखा को अर्पित करते देखा तो वह अपनी भावनाओं को रोक नहीं सका और उसकी आँखों में आँसू आ गये। फाहियान ने सिंहल के विहारों, दन्तधातुमहोत्सव, मिहिन्तले और सामान्यतः सिंहली बौद्ध धर्म का एक आकर्षक चित्र हमें दिया है।

सिंहल से पुनः एक बड़े व्यापारिक जहाज में बैठकर फाहियान अपने देश चीन की ओर चल पड़ा। रास्ते में दो दिन की यात्रा के बाद एक भयङ्कर तूफान आया जो तेरह दिन तक चलता रहा। एक बार तो यह अवसर आ गया कि फाहियान को भय होने लगा कि कहीं नाविक उसकी पुस्तकों और मूर्तियों को समुद्र में न फेंक दें। परन्तु सौभाग्यवश ऐसा नहीं हुआ। जहाज में एक छेद का पता लगा जिसे एक टापू पर आकर बन्द कर दिया गया। इसके बाद एक और भयङ्कर तूफान आया, परन्तु ३० दिन की यात्रा के बाद फाहियान का जहाज सुरक्षित रूप से जावा पहुँच गया। यहाँ फाहियान उतर गया और पाँच महीने तक इस द्वीप में ठहरा। इस समय जावा में ब्राह्मण–धर्म समृद्ध अवस्था में था और बौद्ध धर्म की अवस्था सन्तोषजनक नहीं थी। एक दूसरे व्यापारिक जहाज में बैठकर और उतनी ही भयङ्कर यात्रा के बाद फाहियान चीन के चिंग–चाउ नामक स्थान में पहुँचा जहाँ एक जाड़ा और एक गर्मी बिताने के बाद वह चीन की राजधानी नानकिंग पहुँचा और जिन सूत्रों और विनय को वह भारत से ले गया था, उसने उन्हें धर्मगुरुओं को अर्पित कर दिया।

फाहियान ने चीन के चंगन प्रान्त से भारत के मध्य–देश तक की यात्रा में छः वर्ष बिताये। छः वर्ष तक ही वह भारत में ठहरा। उसके बाद तीन वर्ष में वह चिंग–चाऊ पहुँचा। करीब तीस देशों के बीच होकर वह अपनी यात्रा में गुजरा। उसने अपने व्यक्तिगत जीवन को महत्त्व नहीं दिया और न उसके बारे में कभी सोचा। गहन कान्तारों और पर्वतश्रेणियों को उसने पार किया और भयङ्कर समुद्री यात्राएँ कीं, केवल इस उद्देश्य के लिये कि वह अपने देश के लोगों को बौद्ध–धर्म का संदेश सुना सके। त्रिरत्न के अनुभाव से उसकी रक्षा हुई और संकट के क्षणों में वह बचा लिया गया। जिन अनुभवों के बीच होकर वह गुजरा, उनका विवरण उसने बाँस के फलकों और रेशम पर इसलिये लिखा कि सौम्य पाठक भी इस सूचना में अपने भाग को प्राप्त कर सके।

२. युआन च्वांग— युआन च्वांग का जन्म ६०२ ई. में लो–यंग में हुआ। जब वह आठ वर्ष का ही था, उसने कन्फ्यूशियन धर्म के विधि–विधान के पालन से अपने पिता को आश्चर्यान्वित कर दिया। उससे यह आशा की जाने लगी कि वह अपने अनेक पूर्वजों भी भाँति परम्परावादी ढंग का प्रसिद्ध साहित्यकार बनेगा। परन्तु जब उसके बड़े भाई ने बौद्ध भिक्षु की दीक्षा ले ली तो उससे प्रभावित होकर युआनच्वांग ने भी तेरह वर्ष की अवस्था में ही लो–यंग के बौद्ध विहार में जाकर शील ग्रहण कर लिया। उसने भारतीय दर्शन का अध्ययन प्रारम्भ किया और शीघ्र उसकी जटिलताओं पर अधिकार प्राप्त कर लिया। सन् ६१७ में चीन में राजनैतिक अव्यवस्था फैल गयी, जिसके परिणामस्वरूप युआनच्वांग को स्तु–चुआन के पर्वतों में शरण लेनी पड़ी। इस बीच उसका बौद्ध धर्म का अध्ययन चलता

रहा और उस पर वह प्रवचन भी देने लगा, जिसके कारण उसकी पर्याप्त ख्याति हो गयी। सन् ६६२ ई० में चंग–अन (आधुनिक सि–अम–फु) उसके कार्य का केन्द्र बन गया। यह नगर नये राजवंश की राजधानी था और उस समय चीन में बौद्ध धर्म का केन्द्र था। यहाँ रहते हुए युआनच्वांग के मन में बौद्ध धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों और सिद्धान्तों को देखकर शङ्काएँ उठने लगीं। उसने सङ्कल्प किया कि वे भारत जाकर वहाँ के ज्ञानी पुरुषों से मिलेंगे और अपनी शङ्काओं का समाधान करेंगे।

उसने इस उद्देश्य से चीन से प्रस्थान करने की सम्राट् से अनुमति माँगी, परन्तु वह नहीं मिली। सङ्कल्प के पक्के इस छब्बीस वर्षीय भिक्षु ने इसकी अपेक्षा न करते हुए और आगे वाले भय से न डरते हुए गुप्त यात्रा प्रारम्भ कर दी। रात्रि में वह यात्रा करता और दिन में छिपा रहता। सीमान्त के एक किले के पास उस पर किसी ने तीर का निशाना लगाया, परन्तु वह बाल बाल बच गया। विना किसी की सहायता के और प्रत्येक सङ्कट की उपेक्षा करते हुए युआन च्वांग ने अकेले रेगिस्तान को पार किया और वह ह मि पहुँचा जहाँ तूर्फान (जो उस समय कओचंग कहलाता था) के राजा की ओर से, जो एक श्रद्धालु बौद्ध था, उसे एक निमन्त्रण मिला।

तूर्फान गोबी के रेगिस्तान के मध्य में स्थित है। आज वह निष्प्राण है, परन्तु उन दिनों वहाँ जीवन का स्पन्दन था। जनता बौद्ध थी और समृद्ध आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन बिताती थी। तोखारीयन भाषा की एक उपभाषा बोली जाती थी। वहाँ का शासक चु–वेन–तइ (६२०–६४० ई०) चीनी वंश का था। वह तुर्की खान के अधीन था और चीनी सम्राट् से भी उसके सम्बन्ध थे। उसका निमन्त्रण वस्तुतः आदेश ही था और चीनी यात्री को प्रायः बलपूर्वक ही तूर्फान ले जाया गया। चु–वेन–तइ श्रद्धालु बौद्ध होते हुए भी कुछ अपरिष्कृत स्वभाव का आदमी था। यद्यपि युआन च्वांग का उसने अत्यन्त आदरपूर्वक आतिथ्य किया, परन्तु उसकी योजना यह थी कि वह युआन च्वांग को अपने दरबार में ही धर्मगुरुओं का प्रधान बना कर रख ले। उसने युआन च्वांग से कहा– ''मैं आपको यहाँ रखने का आग्रह करता हूँ ताकि मैं आपकी वन्दना कर सकूँ। पामीर के पर्वत को अपने स्थान से हटाना सरल है, परन्तु मेरे निश्चय को डिगाना कठिन है।'' युआन च्वांग ने वीरतापूर्वक उत्तर दिया– ''सद्धर्म के उद्देश्य के लिये मैं आया हूँ। राजा केवल मेरी हड्डियों को ही रख सकेगा। मेरी आत्मा या इच्छाशक्ति पर उसका कोई अधिकार नहीं है।'' इस सङ्कल्प के साथ युआन च्वांग ने राजा द्वारा भेजे गये भोजन को छुआ तक नहीं। तब राजा को चिन्ता हुई और उसने युआन च्वांग की बात मान ली। युआन च्वांग ने एक मास और वहाँ ठहरना स्वीकार कर लिया और इस बीच उन्होंने राजदरबार में धर्मोपदेश दिये। एक मास की समाप्ति पर राजा ने न केवल चीनी यात्री को सम्मानपूर्वक विदा किया, अपितु उसके मार्ग पर पड़ने वाले सब राज्यों के राजाओं के लिये परिचयपत्र भी दिये। एक परिचयपत्र तुर्की खान को भी दिया जिसका आदेश भारत के दरवाजों तक चलता था। इस प्रकार युआन च्वांग का पद अब एक साधारण तीर्थयात्री के रूप में न रह गया, अपितु उसे एक राजकीय महत्त्व मिला और भारत तक अपने मार्ग में वह जहाँ कहीं गया, उसे गौरवमय ढंग से सब आवश्यक वस्तुएँ मिलती गयीं।

तूर्फान से चलकर युआन च्वांग कड़ा–शहर पहुँचा, जो एक तोखारी–भाषी नगर था। यहाँ उस समय दस सङ्घाराम थे, जहाँ हीनयान मत के दो हजार भिक्षु निवास करते थे। एक रात यहाँ ठहर कर युआन च्वांग कूचा (सं० कुचो) पहुँचा जो उस समय मध्य

एशिया का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण नगर था। इसकी भौतिक समृद्धि और उच्च सभ्यता से युआन च्वांग बहुत प्रभावित हुआ। बीसवीं शताब्दी में जो पुरातत्त्वसम्बन्धी अनुसन्धान यहाँ हुएँ हैं, उनसे बहुत से ऐसे दृश्य सामने आये हैं जिनमें युआन च्वांग ने भाग लिया होगा।। कूचा गोबी के रेगिस्तान में एक नखलिस्तान जैसा था और इसके शासकों को योद्धा होना अनिवार्य था; क्योंकि यह नगर चारों ओर से तुर्क–मंङ्गोलों से घिरा हुआ था। कूचा की गद्दी पर इस समय एक तोखारी शासक बैठा हुआ था जिसका नाम सुकदेव था, जो सुवर्णपुष्प का पुत्र और उत्तराधिकारी था। उसके राज्य में ५००० भिक्षु थे जिन्हें वह सब प्रकार का संरक्षण देता था। चीन के तंग वंशीय सम्राट् से भी उसके कूटनीतिक सम्बन्ध थे। हीनयान मत के भिक्षुओं से यहाँ युआन च्वांग के शास्त्रार्थ हुए। इस समय कूचा में मोक्षगुप्त नामक एक वृद्ध सन्त रहते थे जिनके साथ युआन च्वांग के अच्छे सम्बन्ध हो गये। प्रतिकूल ऋतु के कारण चीनी यात्री को कूचा में दो या तीन मास ठहरना पड़ा। जब उसने वहाँ से प्रस्थान किया जो राजा ने उसे नौकर, ऊँट और घोड़ों का एक पूरा समूह ही दिया और राजा के साथ भिक्षु तथा अन्य धार्मिक नागरिकगण युआन च्वांग को विदाई देने के लिये नगर की बाहरी सीमा तक आये।

कूचा छोड़ने के दो दिन बाद युआन च्वांग पर डाकुओं ने आक्रमण किया और फिर वह टीन–शन के ढलाव पर स्थित हिमनदी पर आया, जिसका उसने चित्रमय वर्णन किया है। आगे चलते हुए चीनी यात्री इस्सिककुल (गर्म झील) के पास आया, जहाँ उस समय पश्चिमी तुर्कों का खान (अधिपति) तम्बू डाले पड़ा था। यह सन् ६३० ई० की बात है। खान धार्मिक संस्कृति से रहित नहीं था और बौद्ध धर्म की ओर उसका झुकाव था; क्योंकि पचास वर्ष पूर्व उसके पूर्वजों को गन्धार के एक जिनगुप्त नाम बौद्ध भिक्षु से शिक्षा मिल चुकी थी। खान ने युआन च्वांग का सत्कारपूर्वक आतिथ्य किया और 'शुद्ध भोजन' खिलाया, अर्थात् चावल की रोटियाँ, मलाई, दूध, चीनी, शहद और किशमिश। भोजन के बाद युआन च्वांग ने उस धर्म का उपदेश किया, जिसके बाद खान ने प्रसन्नतापूर्वक कहा कि धर्म के उपदेश को वह श्रद्धापूर्वक स्वीकार करता है। खान ने भी युआन च्वांग को अपने पास रोकना चाहा, परन्तु जब यह सम्भव नहीं हुआ तो उसने उसे उसकी भारत तक की यात्रा में अपना राजकीय संरक्षण दिया, जिसके कारण युआन च्वांग पामीर और बैक्ट्रिया के दर्रों को सुगमता से पार कर सका।

युआन च्वांग का आगे का पड़ाव समरकन्द (प्राचीन मरकन्द) में पड़ा, जो व्यापारिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नगर था; क्योंकि वहाँ भारत और चीन के काफिलों के मार्ग मिलते थे। यहाँ के लोग जोरोष्ट्रियन धर्म और बुद्ध धर्म के बीच विचलित होते रहते थे। युआन च्वांग की इस नगर की यात्रा से तुर्क–ईरानी राज्य में बौद्ध–धर्म को प्रकर्ष मिला। उसने यहाँ एक सभा की जिसमें अनेक भिक्षुओं को दीक्षित किया और पूजा के लिये अनेक प्राचीन विहारों का पुनरुद्धार किया।

समरकन्द से यात्रा करता हुआ चीनी यात्री कठिन पर्वत–मार्गों को पार करने के बाद पश्चिमी तुर्क साम्राज्य की दक्षिणी सीमा पर पहुँचा। आक्सस नदी को पार कर युआन च्वांग ने बैक्ट्रिया में प्रवेश किया, जो उस समय तर्दुशद के शासन में थी, जो तुर्कों के एक बड़े खान का पुत्र था। तर्दुशद का विवाह तुर्फान के राजा की बहिन से हुआ था, जो एक श्रद्धालु बौद्ध था। बैक्ट्रिया में बौद्ध धर्म का प्रचार सम्भवतः अशोक के धर्मप्रचारकों द्वारा किया गया था। बैक्ट्रिया की राजधानी बलख थी। बलख और बैक्ट्रिया में उस समय

अनेक विहार थे जहाँ हीनयानी भिक्षु निवास करते थे। यहाँ के प्रज्ञाकर नामक एक विद्वान् भिक्षु का उल्लेख युआन च्वांग ने किया है, जिसके साथ सत्संग का उन्होंने लाभ उठाया था। आगे चलकर युआन च्वांग ने हिन्दूकुश को पार किया और वह बामियान पहुँचा, जिसके दृश्य का उसने सही वर्णन किया है। इस समय बामियान में दस बौद्ध विहार थे जिनमें कई हजार भिक्षु रहते थे। युआन च्वांग ने दो विशाल बुद्धमूर्तियों का भी उल्लेख किया है, जिनकी ऊँचाई, क्रमशः १७० और ११५ फुट थी।

बामियान से चलकर ९००० फुट ऊँचे शिबर दर्रे को पार कर युआन–च्वांग कपिश् (काबुल के उत्तर में आधुनिक बेगराम गाँव) पहुँचा जो उस समय एक समृद्ध व्यापारिक नगर था। शिबर दर्रे को पार करते हुए युआन च्वांग को डाकुओं का सामना करना पड़ा। कपिश में उस समय एक बौद्ध राजा राज्य करता था जो महायान में श्रद्धावान् था। यहाँ युआन च्वांग ने विभिन्न बौद्ध सम्प्रदायों की सभा की, जो पाँच दिन तक चलती रही। सन् ६३० में युआन च्वांग लम्पक होते हुए जलालाबाद (प्राचीन नगरहार) पहुँचा। वहाँ उसने प्रथम बार भारतीय भूमि पर पैर रखा और उसे जलवायु और निवासियों के स्वभाव में एक विशेष अन्तर दिखायी पड़ने लगा। गान्धार में गत छह शताब्दियों से प्रबल ग्रीक–रोमन प्रभाव में बौद्ध कला विकसित हो रही थी और वह बौद्ध धर्म का द्वितीय पवित्र स्थान माना जाता था। पेशावर उस समय हूणों के आक्रमणों के कारण नष्ट भ्रष्ट अवस्था में था। प्रायः दस लाख बौद्ध विहार भग्न अवस्था में पड़े थे और वहाँ कोई नहीं रहता था। स्तूप भी टूटी–फूटी अवस्था में पड़े थे। उद्यान या उड्डियान देखने भी युआन च्वांग गया, जिसे हूणों ने गन्धार से भी अधिक नष्ट भ्रष्ट कर दिया था। किसी समय यहाँ १४०० विहार और १८००० भिक्षु थे। जनता अब भी प्रायः बौद्ध थी और हीनयान और महायान दोनों ही धर्म प्रचलित थे, परन्तु महायान का रूप तान्त्रिक होता जा रहा था। उड्डियान और गन्धार से प्रस्थान करने के बाद युआन च्वांग ने उदभण्ड या उदकखण्ड के समीप सिन्धु नदी को पार किया और तक्षशिला में प्रवेश किया। यहाँ भी उसने हूणों के द्वारा विनष्ट अनेक बौद्ध विहार देखे। यहाँ से कुछ समय के लिये युआन च्वांग काश्मीर गया, जहाँ उस समय बौद्ध धर्म का प्रचार था। यहाँ इस समय एक सौ बौद्ध विहार और ५००० भिक्षु थे और लोगों को अशोक और कनिष्क की स्मृतियाँ प्रिय थीं। काश्मीर के राजा ने अपनी राजधानी प्रवरपुर (श्रीनगर) में युआन च्वांग का सम्मानपूर्वक स्वागत किया। यहाँ युआन च्वांग ने एक सत्तर वर्षीय महायानी भिक्षु के दर्शन किये जिनसे उन्होंने विज्ञानवाद की विशुद्ध परम्परा के सम्बन्ध में बहुत सी बातें सीखीं। युआन च्वांग ने मई सन् ६३१ से लेकर अप्रैल सन् ६३३ ई० तक अर्थात् पूरे दो वर्ष काश्मीर में बिताये और इस बीच उन्होंने वहाँ बौद्ध दर्शन का अध्ययन किया और अपने साथ चीन ले जाने के लिये अनेक सूत्रों और शास्त्रों की प्रतिलिपियाँ भी करवाईं।

काश्मीर से चल कर युआन च्वांग पहले साग ल (स्यालकोट) में रुका जो पूर्वकाल में ग्रीक राजा मिनान्दर और हूण अत्याचारी शासक महिरकुल (या मिहिरकुल) की राजधानी रहा था और जहाँ युआन च्वांग से दो शताब्दी पूर्व तेजस्वी दार्शनिक वसुबन्धु ने भी निवास किया था। स्यालकोट से यह चीनी यात्री व्यास नदी के बायें किनारे पर स्थित चीनभुक्ति नामक स्थान पर आया जहाँ उसे माध्यमिक मत में निष्णात एक वृद्ध ब्राह्मण मिला जिसके साथ सत्सङ्ग करते हुए उसने एक महीना एक गाँव में गुजारा। चीनभुक्ति में युआन च्वांग एक वर्ष तक ठहरा और सन् ६३४ की वर्षा में यह जालन्धर

पहुँचा। यहाँ से चीनी यात्री मथुरा आया जो उस समय बौद्ध कला के लिये प्रसिद्ध थी। मथुरा से यमुना की ओर ऊपर जाते हुए वह कुरुक्षेत्र के समीप स्थाणेश्वर भी गया। उसके बाद चीनी यात्री कपिश (प्राचीन संकाश्य) गया, जहाँ से वह कन्याकुब्ज (कन्नौज) गया, परन्तु इस समय उसकी राजा हर्ष से भेंट नहीं हुई; क्योंकि राजा पूर्व में गया हुआ था। बाद में हर्ष युआन च्वांग का परम मित्र और संरक्षक हो गया। युआन च्वांग ने हर्ष के व्यक्तित्व और शासन की प्रशंसा की है। अयोध्यो देखने के बाद जब चीनी यात्री गङ्गा के किनारे किनारे प्रयाग जा रहा था तो रास्ते में उसे ठगों ने पकड़ लिया और दुर्गा देवी को बलि देने का प्रयत्न किया, परन्तु किसी प्रकार युआन च्वांग के प्राण बचे। प्रयाग में उस समय बौद्ध धर्म की अवस्था अधिक अच्छी नहीं थी। इसने प्रयाग से कौशाम्बी जाकर वहाँ भगवान् बुद्ध के स्मृतिचिह्न देखे।

प्रयाग में युआन च्वांग ने भगवान् बुद्ध के जन्म-स्थान की यात्रा करने का सङ्कल्प किया। इसलिये वह वहाँ से उत्तर की ओर चल पड़ा और श्रावस्ती (सहेत-महेत) होता हुआ कपिलवस्तु और लुम्बिनीवन पहुँचा। इसके बाद यह रामग्राम और कुशीनगर (कसिया) भी गया। यहाँ से लौटते हुए यह चीनी यात्री वाराणसी आया, जहाँ से उत्तर में वैशाली (वसाढ़) गया। वैशाली से पाटलिपुत्र और वहाँ से यह दर्शनार्थ बोधगया भी गया।

युआन च्वांग ने नालन्दा महाविहार के भी दर्शन किये। इस समय वहाँ दस हजार भिक्षु थे जो सब महायान के अनुयायी थे। युआन च्वांग १५ महीने वहाँ ठहरा। योगाचार सिद्धान्तों और संस्कृत का उसने यहाँ विस्तृत अध्ययन किया। यहीं से यह राजगृह के दर्शनार्थ भी गया। नालन्दा से प्रस्थान कर युआन च्वांग ने सन् ६३८ का वर्ष बंगाल और चम्पा में बिताया, जिसके बाद वह ताम्रलिप्ति पहुँचा, जहाँ से उसने हीनयान बौद्धधर्म के अध्ययनार्थ श्रीलङ्का की समुद्री यात्रा करने का विचार किया, परन्तु भिक्षुओं के परामर्श से उसने समुद्री यात्रा नहीं की और उड़ीसा, महाकोशल, आन्ध्र और तेलगु प्रदेश में होते हुए काञ्चीपुरम् पहुँचा जहाँ उसे पता चला कि सिंहल में राजनीतिक अशान्ति चल रही है। इसलिये उसने सिंहल जाने का विचार छोड़ दिया और उत्तर की ओर चलते हुए उसने भरुकच्छ (भड़ौच) और वलभी की यात्री की। सिन्ध और मुल्तान की यात्रा के बाद युआन च्वांग फिर नालन्दा में ठहरने के लिये लौट आया। कामरूप (असम) के राजा भास्करवर्मा के निमन्त्रण पर वह उसके दरबार में भी गया, जिसके बाद हर्ष से उसकी भेंट हुई।

हर्ष द्वारा बुलायी गयी दो सभाओं में, जो कन्नौज और प्रयाग में हुई, युआन च्वांग ने भाग लिया। इन सभाओं का विस्तृत विवरण युआन च्वांग ने दिया है। कन्नौज से प्रस्थान कर जालन्धर और तक्षशिला में होते हुए युआन च्वांग अपने पूर्व मार्ग से ही नगरहार पहुँचा जहाँ एक विहार में निवास करने के पश्चात् उसने सन् ६४४ में हिन्दुकुश पार किया और काशगर, यारकन्द और खोतान की यात्रा करते तथा कुछ समय के लिये तुन हुआंग विहार में विश्राम करते हुए सन् ६४५ ई० में चंगल पहुँचा जहाँ राजधानी के राजपदाधिकारियों और भिक्षुओं ने उसका उत्साहपूर्वक स्वागत किया। सम्राट् ने उसे विना अनुमति जाने के अपराध के लिये न केवल क्षमा कर दिया, अपितु उसका इस बात के लिये अभिनन्दन भी किया कि बहुजनहिताय उसने अपने जीवन को इतने सङ्कट में डाला। सम्राट् ने मन्त्री बनने के लिये युआन च्वांग के सामने प्रस्ताव रखा जिसे उसने स्वीकार नहीं किया।

युआन च्वांग ने शेष जीवन बौद्ध भिक्षु के रूप में एक विहार में बिताया जिसे सम्राट् ने विशेषतः उनके लिये बनवाया था। यहाँ भारत से ले जाये गये ६०० ग्रन्थों के चीनी

अनुवाद का कार्य उसने स्वयं और अन्य अनुवादकों की सहायता से करना प्रारम्भ किया। अनुवादकार्य और धर्मोपदेश करते हुए इस महान् साधक चीनी भिक्षु ने, इस बात की अभिज्ञा के साथ कि उसने एक अच्छा और सोद्देश्य जीवन बिताया है, सन् ६६४ ई० में शान्तिपद निर्वाण में प्रवेश किया।

३. इ–त्सिंग— जब युआन च्वांग भारत की यात्रा के बाद चीन पहुँचा, उस समय इ–त्सिंग दस वर्ष का बालक था, परन्तु उसने बौद्ध भिक्षु–जीवन जीने की तैयारी कर ली थी। चौदह वर्ष की अवस्था में उसने भिक्षुसङ्घ में प्रवेश किया। यद्यपि उसने सन् ६५२ ई० में ही भारत की यात्रा करने का सङ्कल्प कर लिया था, परन्तु सन् ६७१ ई० अर्थात् अपनी ३७ वर्ष की अवस्था में ही वह अपनी इच्छा कार्यरूप में परिणत कर सका। इ–त्सिंग २५ वर्ष तक अर्थात् सन् ६७१ से लेकर सन् ६९५ ई० तक अपने देश से बाहर रहा और इस बीच उसने ३० से अधिक देशों की यात्रा की। सन् ६९५ ई० में वह चीन लौटा। अपने साथ ४०० ग्रन्थ वह भारत से चीन ले गया था। इनमें ५६ ग्रन्थों का उसने स्वयं चीनी भाषा में अनुवाद किया। सन् ७१३ ई० में ७९ साल की अवस्था में उसकी मृत्यु हो गयी।

इ–त्सिंग ने अपनी भारतयात्रा दोनों ओर से समुद्री मार्ग द्वारा की। उसके यात्रा–विवरणों में यद्यपि युआन च्वांग के समान वैज्ञानिक रुचि और विविधता नहीं है, परन्तु मानवीय तत्त्व की अधिकता है।

भारत के अतिरिक्त उसने सुमात्रा, श्रीविजय (आधुनिक पलेमबंग) और मलाया की भी यात्रा की। सन् ६७३ ई० में वह ताम्रलिप्ति में उतरा और उसके बाद मगध की यात्रा करता हुआ बोधगया आया जहाँ उसने बोधि वृक्ष की पूजा की। उसने सद्धर्म का अध्ययन करते हुए और ग्रन्थों का संग्रह करते हुए नालन्दा में दस वर्ष बिताये। ताम्रलिप्ति के मार्ग से ही उसने सन् ६८५ ई० में भारत से प्रस्थान किया। श्रीविजय पहुँचकर वहाँ उसने चार वर्ष संस्कृत के अध्ययन में बिताये। इसके बाद एक बार वह चीन जाकर फिर श्रीविजय लौट आया और अन्त में सन् ६९५ ई० में चीन लौट गया, जहाँ सम्राट् और नागरिकों की ओर से उसका उसी प्रकार सम्मान किया गया जैसा युआन च्वांग का हुआ था।

इ–त्सिंग की सूचनाएँ— इ–त्सिंग ने लिखा है कि कोरिया के अनेक भिक्षुओं ने भी मध्य एशिया के मार्ग से और समुद्री मार्ग से भारत की यात्रा की थी, परन्तु यात्राजन्य कठिनाइयों के कारण वे भारत में ही मर गये और कभी अपने देश वापस नहीं पहुँचे। इ–त्सिंग ने चीन से भारत आने वाले यात्रियों को परामर्श दिया था कि उन्हें भारत में प्रवेश करने से पूर्व श्रीविजय में अपनी संस्कृत की शिक्षा पूरी कर लेनी चाहिये। वस्तुतः इस युग में हिन्द–चीन और हिन्देशिया में भारतीय संस्कृति का प्रभाव अत्यधिक था और विचारों, पुस्तकों और कलाकृतियों का निरन्तर आदान प्रदान भारत, सिंहल, जावा, कम्बोडिया, चम्पा और चीन के कान्टन प्रदेश के बीच चलता रहता था।

इस प्रकार एशिया के इतिहास के इस ज्योतिर्मय युग में इन महान् तंगवशीय चीनी तीर्थयात्रियों ने अपनी यात्राओं और धार्मिक ग्रन्थों के अनुवादों से सुदूर पूर्व को भारत के साथ एक प्रेमसूत्र में बाँध दिया था।

* * * * *

मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि भारतीय समाज का विकास एक अखण्ड एवं नैरन्तर्यपूर्ण

धारा के रूप में हुआ है। इस विशाल सांस्कृतिक धारा में वैदिक–सैन्धव सभ्यता से लेकर आज तक विविध मानव समुदाय अथवा जातियों ने अपनी–अपनी संस्कृति, धर्म, भाषा और साहित्य का योगदान अर्पित किया है। इन सबके समन्वय से ही भारतीय समाज के जीवन का एक विशिष्ट स्वरूप निर्मित हुआ है। ब्राह्मण विचारधारा के साथ साथ श्रमण विचारधारा (बौद्ध–जैनधर्म) का भारतीय समाज के विकासात्मक निर्माण में प्रमुख योग रहा है और इन्हीं के अन्तर्गत अनेकानेक सम्प्रदायों और सामाजिक नियमों का विकास होता रहा है।

इस तरह समन्वित भारतीय सांस्कृतिक अध्ययन के लिये बौद्ध साहित्य का सम्यक् अनुशीलन करना ही अपना उद्देश्य मानकर मैंने इस ग्रन्थ का प्रणयन किया है। इस कार्य में अंग्रेजी, संस्कृत, पालि और हिन्दी भाषा में लिखित शतशतः ग्रन्थों का अध्ययन करना पड़ा है। साथ ही मौलिक चिन्तन द्वारा उस अध्ययन के परिणामों को सुनियोजित करना पड़ा है। फलतः इस ग्रन्थ से अनेक निष्कर्ष उपस्थापित किये गये है जो सर्वथा नवीन और मौलिक हैं। क्योंकि इन निष्कर्षों को तर्कपूर्ण पद्धति एवं प्रमाणों के साथ प्रस्तुत किया गया है, अतः विद्वानों द्वारा इन पर गम्भीरता से विचार होना चाहिये।

इतिहास–क्षेत्र में इस नवागन्तुक के लिये इस प्रकार के नवीन निष्कर्ष प्रस्तुत करना दुस्साहसपूर्ण भले ही माना जाय, किन्तु सत्य की गवेषणा इतिहास का मूल उद्देश्य है और उसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर इस ग्रन्थ की रचना की गयी है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस ग्रन्थ में प्रस्तुत उपस्थापनाएँ विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करेंगी और इतिहास के क्षेत्र में उन्हें मान्यता भी प्राप्त होगी।

* * * * *

कृतज्ञता–ज्ञापन—इस ग्रन्थप्रणयन में प्रधान प्रेरणास्रोत पूज्य गुरुवर आचार्य श्री भगवतीप्रसाद पान्थरी (पूर्व कुलपति, काशी विद्यापीठ, वाराणसी) रहे हैं। उनके प्रोत्साहन से ही यह बृहत्तर कार्य सम्पन्न हो पाया। और उनकी सतत प्रेरणा से ही मेरी यह महत्त्वाकांक्षा इस रूप में पुष्पित पल्लवित हो पायी। एतदर्थ उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना मैं अपना प्रथम कर्तव्य समझता हूँ। एतदर्थ मैं उनका आजन्म ऋणी रहूँगा।

मेरे इस भगीरथ प्रयत्न की आत्यन्तिक सफलता में श्रद्धेय गुरुवर प्रसिद्ध साहित्यकार, डॉ० शम्भुनाथसिंह जी ने भी निरन्तर श्रम किया एवं अनुपम शुभ दृष्टि प्रदान की। उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापनहेतु मेरे पास शब्द नहीं हैं।

अथ च, बौद्ध साहित्य एवं दर्शन के मर्मज्ञ श्रद्धेय स्वामी द्वारिकादासशास्त्री (अध्यक्ष, बौद्धभारती) ने मेरे इस असम्भव कार्य को सम्भव रूप प्रदान किया। यद्यपि वे मेरी किसी कृतज्ञता की स्पृहा तो नहीं रखते; परन्तु मैं उनके प्रति विनम्र कृतज्ञता ज्ञापित कर अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करता हुआ उनके आशीर्वादों का आकांक्षी हूँ।

मुझे इस ग्रन्थ के लेखन में जिन अन्य आचार्यों एवं कल्याणमित्रों का सहयोग प्राप्त हुआ, उनके प्रति आभार व्यक्त करना औपचारिकतामात्र ही है। जबकि उनके मौन आशीर्वाद और स्नेह ने ही मुझे इस कार्य की सफलता की अन्तिम सीढ़ी तक पहुँचाया, जिन्हें भूलना असम्भव है।

प्रातःस्मरणीय मातेश्वरी राजेश्वरी देवी एवं पूज्यपाद काका श्री रामसमुझसिंह के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना मेरा पावन कर्तव्य है, जिन्हें मेरा हृदय सदैव स्मरण करता है; क्योंकि इनकी रचनाधर्मिता एवं आशीर्वचन भी मेरा प्रमुख आधार था।

मेरे सुख–दुःख में निरन्तर साथ रह कर मेरे अन्तर्मन में निरन्तर उत्तरदायित्व का भाव जाग्रत् करने वाली अपनी धर्मपत्नी शान्ति सिंह *(एम०ए०, इतिहास)* का भी मैं सतत आभारी हूँ, जिनकी शान्त आराधना ने राहुल के साथ प्रज्ञापूर्ण सम्बल प्रदान किया। हलधर तो अपनी पहचान ही है।

अपने कल्याणमित्र विपुलशंकर पण्ड्या को धन्यवाद देना एक औपचारिकता मात्र ही है, यद्यपि उनके प्रोत्साहन एवं सार्थक सहयोग से ही प्रस्तुत ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है।

इस कार्य की पूर्णता में अपने अनन्य सहयोगी श्री श्रीश सिन्हा, *एम०ए०* के महत्त्वपूर्ण योगदान को भी मैं विस्मृत नहीं कर सकता।

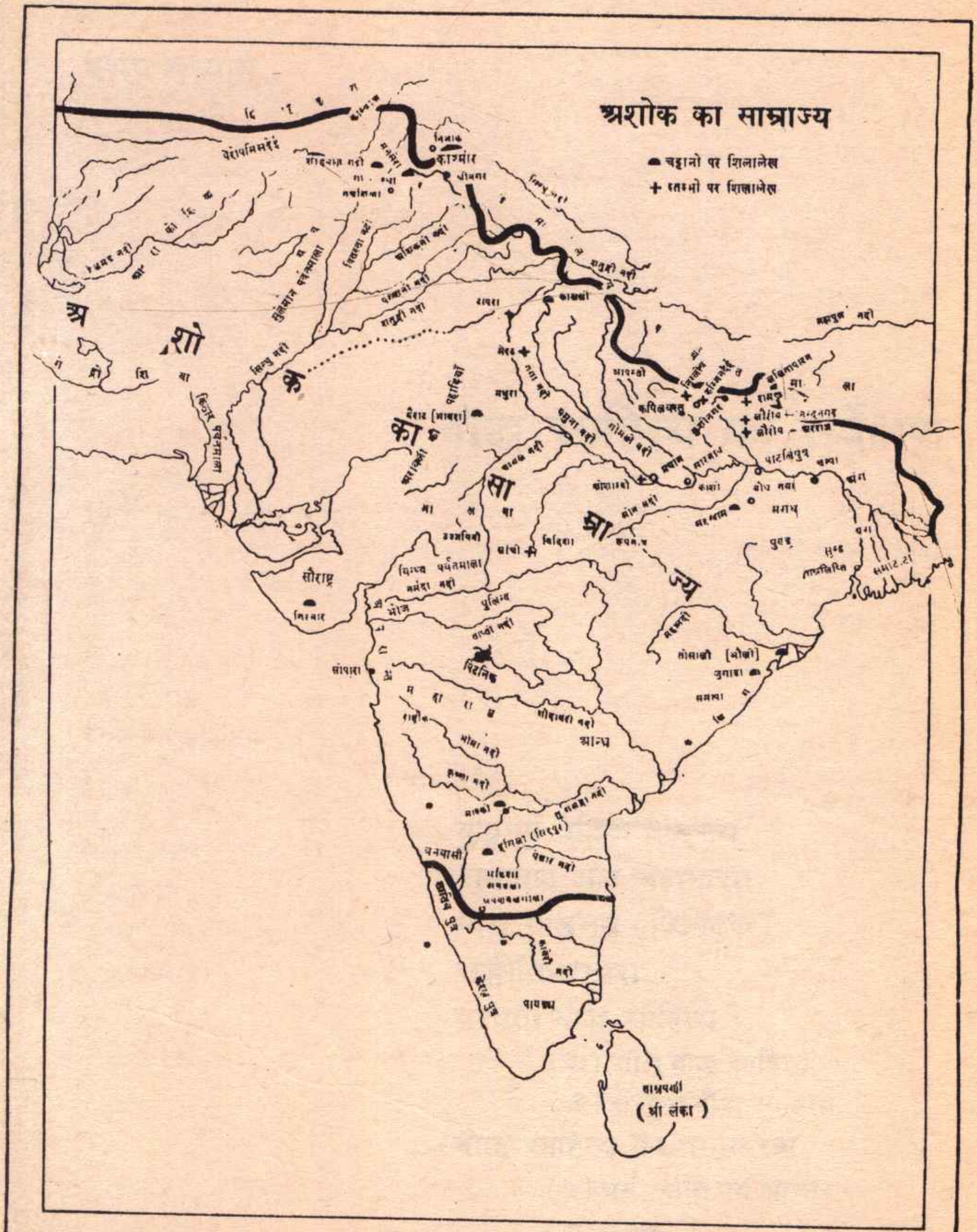
अन्त में, मैं अपने उन सभी शुभेच्छुओं के प्रति भी नतमस्तक हूँ, जिनका प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से मुझे सहयोग प्राप्त हुआ।

गुरुपूर्णिमा, २०५३ वि०
वाराणसी

—परमानन्द सिंह

ग्रन्थ का

विषयानुक्रम



अशोक का साम्राज्य
चट्टानों पर शिलालेख
स्तम्भों पर शिलालेख
काश्मीर
सौराष्ट्र
आन्ध्र
वनवासी
ताम्रपर्णी
(श्री लंका)

प्रथम अध्याय

बौद्ध साहित्य का सर्वेक्षण

बुद्धपूर्व वैदिक वाङ्मय
रामायण और महाभारत
बौद्ध वाङ्मय (त्रिपिटक)
सङ्गीतिपरम्परा
परवर्ती बौद्ध साहित्य
(क) पालि बौद्ध साहित्य
(ख) संस्कृत बौद्ध साहित्य
बौद्ध साहित्य का वर्गीकरण
(१) धर्म, नीति एवं आचार
(२) दर्शन
(३) साहित्य
(४) पुराकल्प एवं मिथक
(५) इतिहास और जीवनी
(६) तन्त्र एवं गुह्याचार

प्रथम अध्याय

बौद्ध साहित्य का सर्वेक्षण

'साहित्य' शब्द का अर्थ– बौद्ध साहित्य से हमारा तात्पर्य बौद्ध वाङ्मय से है। 'साहित्य' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है– १. साहित्य का सीमित अर्थ यह है कि वह रचनात्मक एवं कलात्मक साहित्य है जो रसात्मक होता है। अर्थात् जिसके द्वारा लोकोत्तर आनन्द की अनुभूति होती है। २. उसका यह दूसरा अर्थ अधिक व्यापक है कि जिसके अन्तर्गत सञ्चित ज्ञानराशि का समस्त भण्डार समाहित होता है। इसी को दूसरे शब्दों में 'वाङ्मय' कहा जाता है। इसके अन्तर्गत रचनात्मक या रसात्मक साहित्य, तथा अतिरिक्त ज्ञान–विज्ञान से सम्बद्ध समस्त विद्याएँ परिगणित होती हैं। इस तरह धर्म, दर्शन, भाषाशास्त्र (व्याकरण), शिक्षा, नीति, आयुर्वेद, ज्योतिर्विज्ञान, पुराणशास्त्र, इतिहास, कला, विज्ञान तथा प्रविधि आदि सभी शास्त्र इसमें समाहित हो जाते हैं।

अंग्रेजी भाषा में 'साहित्य' एवं 'वाङ्मय'–दोनों के लिये एक ही शब्द 'लिटरेचर' का प्रयोग होता है। अंग्रेजी के इस शब्द के अनुवाद के कारण ही हिन्दी में साहित्य के मूल अर्थ के साथ–साथ उसके व्यापक अर्थ का बोध होता है। इस कारण यहाँ स्पष्ट कर देना आवश्यक था कि बौद्ध साहित्य से हमारा तात्पर्य उस बौद्ध वाङ्मय से है जिसके अन्तर्गत बौद्ध कवियों द्वारा लिखित अथवा बौद्ध धर्म से सम्बद्ध विषयों पर अन्य विद्वानों द्वारा लिखित काव्य, नाटक, कथा, आख्यायिका आदि के साथ–साथ बौद्ध धर्म से सम्बद्ध समस्त धर्म–ग्रन्थों, अवदान–कथाओं तथा उपदेशात्मक आख्यानों का भी समावेश हो जाता है।

बुद्धपूर्व वैदिक (भारतीय) वाङ्मय

यह बौद्ध वाङ्मय भारतीय वाङ्मय का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। बौद्ध धर्म से सम्बद्ध जितने भी ग्रन्थ आज उपलब्ध हैं, वे सभी गौतम बुद्ध के पश्चात्कालीन ही हैं। जबकि भारतीय साहित्य का प्रारम्भ बुद्ध से भी कई हजार वर्ष पूर्व हो चुका था और बुद्ध के समय तक वैदिक वाङ्मय पर्याप्त विकसित और पुष्ट हो चुका था।

वैदिक वाङ्मय का प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद है। याकोबी के अनुसार वैदिक सूक्तों की रचना ४५०० ई० पू० से २५०० ई० पू० तक होती रही।[1] इनकी रचना समय–समय पर होती रही और उन सबका सङ्कलन एवं मण्डलों में वर्गीकरण महाभारत–काल (१००० ई०पू०) में वेदव्यास ने किया था। वेदों के वर्तमान सभी संस्करण वादरायण व्यास द्वारा सम्पादित माने जाते हैं। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने इस मत का समर्थन करते हुए दुर्गाचार्यकृत निरुक्तवृत्ति १/२० से निम्नलिखित उद्धरण दिया है–

''वेदं तावदेकं सन्तम् अतिमहत्त्वाद् दुरध्येयमनेकशाखाभेदेन समाम्नासिषुः
सुखग्रहणाय व्यासेन समाम्नातवन्तः''–[2]

---

१. विण्टरनित्ज द्वारा उद्धृत–प्राचीन भारतीय साहित्य, अनुवादक–लाजपत राय, पृष्ठ २२८, २२९।
२. आचार्य बलदेव उपाध्याय, वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृष्ठ १२०।

ऋग्वेद के मन्त्रों का विनियोग वैदिक यज्ञों में भी होता था। यज्ञों के चार विभाग होते थे। मन्त्र विनियोग, यज्ञ–विधि, सूक्त–गान, सञ्चालन और पर्यवेक्षण। १. **होता** यज्ञ में यथावसर ऋग्वेद की ऋचाओं का उच्च स्वर से पाठ करते हुए अग्नि में हव्य डालता था।

२. **अध्वर्यु** स्वरपूर्वक यजुर्वेद के गद्यात्मक मन्त्रों का यथावसर पाठ करता तथा यज्ञ की विधियों का पालन करता था, जैसे–सोम पीसना, वेदिका के लिये भूमि नापना, वेदिका बनाना, यज्ञपात्रों को तैयार करना, समिधा और जल लाना, अग्नि उत्पन्न करना, बलि–पशु को लाना और इन सभी अवसरों के लिये निर्धारित मन्त्रों का पाठ करना या कराना।

३. **उद्गाता** का कार्य सामवेद के मन्त्रों का गान करना था।

४. **ब्रह्मा** का कार्य पूरे यज्ञ के कर्मकाण्डों का निरीक्षण करना और यदि कोई त्रुटि हो तो उसका परिमार्जन करना था।

इस प्रकार यज्ञों के लिये ही तीनों वेदों–ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के मन्त्रों की रचना हुई थी। इस तरह ऋग्वेद के सूक्त जो विभिन्न काल के ऋषियों द्वारा लिखे गये थे; जैसे–वशिष्ठ, विश्वामित्र, कण्व, प्रकण्व, आङ्गिरस, गौतम, पारासर, दीर्घतमा, औपमन्यव, गृत्समद, वामदेव, आत्रेय, शुनःशेप, भारद्वाज आदि।

वेदव्यास ने इन्हें सङ्कलित करके दस मण्डलों में विभक्त किया। इन्हीं सूक्तों में से अधिकांश सूक्तों तथा कुछ नये सूक्तों को समाविष्ट कर सामवेद की रचना हुई थी जो नौ प्रपाठकों में विभक्त हैं। इस वेद के मन्त्रों को 'सामन' कहा जाता है जिन्हें यज्ञों के समय उद्गाता सस्वर गाता था।

इसी तरह ऋग्वेद के मन्त्रों के विनियोग के साथ यज्ञसम्बन्धी अन्य क्रियाओं का विधान जिन गद्यात्मक मन्त्रों द्वारा होता था उनके सङ्कलन का नाम 'यजुर्वेद' है। इस वेद में कुल ४० अध्याय हैं जिनमें ऋग्वेद के अनेक सूक्त सम्मिलित हैं।

इन्हीं तीनों वेदों को 'त्रयी' अर्थात् मूल वेद कहा जाता है; किन्तु पुरोहितवर्ग के अतिरिक्त सामान्य जन–समाज में जो धार्मिक विश्वास और परम्परागत रीति–रिवाज प्रचलित थे उनके लिये भी मन्त्रों की रचना हुई थी। इन मन्त्रों का उपयोग यज्ञों में ही नहीं, अपितु लोक–जीवन की धार्मिक क्रियाओं के लिये भी होता था। जैसे–अभिचार, मोहन, मारण, वशीकरण आदि क्रियाएँ एवं भूत–प्रेत आदि को भगाना। ऐसे सभी सूक्तों के सङ्कलन का नाम अथर्ववेद है, जिसमें कुल बीस काण्ड हैं। कालान्तर में अथर्ववेद को भी चतुर्थ वेद के रूप में स्वीकार कर लिया गया।

ब्राह्मण ग्रन्थ– उक्त चार वेदों में से प्रत्येक के साथ पृथक्–पृथक् ब्राह्मण–ग्रन्थों, आरण्यकों और उपनिषदों के नाम भी सम्बद्ध हैं। जब ऋग्वेद के मन्त्र पुरोहितों के लिये कठिनता से बोधगम्य होने लगे तो उनके विनियोग की विधि समझाने और उनमें आये हुए सन्दर्भों की व्याख्या के लिये ब्राह्मण–ग्रन्थों की रचना हुई जिनमें याज्ञिक विधियों के साथ–साथ ऐतिहासिक, पौराणिक एवं निजन्धरी (लिजेन्डरी) आख्यान भी दिये गये हैं। वस्तुतः ये ब्राह्मण ग्रन्थ वैदिक धर्मशास्त्र अथवा यज्ञ–विज्ञान हैं जिनमें तत्कालीन धर्म के समस्त विधि–विधानों और धार्मिक व्यवस्थाओं का वर्णन किया गया है।

ब्राह्मणों की सङ्ख्या बहुत अधिक है, जिनमें प्रमुख ये हैं–

१. ऐतरेय ब्राह्मण – जो ऋग्वेद से सम्बद्ध है, इसमें कुल चालीस अध्याय हैं।

२. **कौषीतकीय साङ्ख्यायन ब्राह्मण**– यह भी ऋग्वेद से सम्बद्ध है, इसमें दस अध्याय हैं।

३. **तैत्तिरीय ब्राह्मण**– यह कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध है।

४. **शतपथ ब्राह्मण**– यह शुक्लयजुर्वेद से सम्बद्ध है। यह एक विशाल ग्रन्थ हैं जिसमें १०० अध्याय है। इसमें अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्पमेध आदि यज्ञों की विशद व्याख्या है।

५. **ताण्ड्य ब्राह्मण (पञ्चविंश ब्राह्मण)**– यह सामवेद से सम्बद्ध है, इसमें २५ अध्याय हैं। इस ब्राह्मण में व्रात्यस्तोम नामक यज्ञों का विशद वर्णन हैं जिनके द्वारा व्रात्यों को ब्राह्मण धर्म में सम्मिलित किया जाता था।

६. **षड्विंश ब्राह्मण**– यह भी सामवेद से सम्बद्ध हैं, इसमें चमत्कारों का तथा शकुन एवं अपशकुन आदि का वर्णन है।

७. **गोपथ ब्राह्मण**– यह अथर्ववेद से सम्बद्ध हैं और ब्राह्मण ग्रन्थों में सबसे अर्वाचीन है। इसकी रचना अथर्व को वेद रूप में मान्यता प्राप्त होने के बाद ही हुई होगी।

आरण्यक ग्रन्थ– आरण्यक भी पृथक् ग्रन्थ नहीं हैं। ये ब्राह्मण ग्रन्थों के अन्तिम भाग परिशिष्ट के रूप में सङ्कलित कर लिये गये हैं। इन आरण्यक ग्रन्थों में वैदिक कर्मकाण्ड को छोड़कर दार्शनिक चिन्तन और ब्रह्मज्ञानसम्बद्ध रहस्य–साधना का वर्णन किया गया है। उत्तर वैदिक काल में जब वैदिक कर्मकाण्ड बहुत ही जटिल हो गये और ब्राह्मणों का कर्मकाण्ड पर अधिकार हो गया, तब समाज के अन्य वर्गों में इन कर्मकाण्डों के प्रति विद्रोह की भावना उत्पन्न हुई। याज्ञिक कर्मकाण्डों से पृथक् हटकर दार्शनिक चिन्तन की प्रवृत्ति वैदिक ऋषियों में वर्तमान थी जो वेदों के अनेक सूक्तों यथा नासदीय सूक्त, पुरुष सूक्त आदि में स्पष्ट दिखायी पड़ती है। जब यह विद्रोहात्मक दार्शनिक चिन्तन की पद्धति बहुत अधिक बढ़ गयी तो पुरोहितों और ऋषियों के लिये इससे विमुख रहना असम्भव हो गया। इसीलिये जब ब्राह्मण–ग्रन्थों की रचना हुई तो उनमें परिशिष्ट रूप में आरण्यकों को भी सम्मिलित कर लिया गया और यह मान लिया गया कि वैदिक वाङ्मय के अन्तर्गत केवल याज्ञिक कर्मकाण्ड ही नहीं; दार्शनिक चिन्तन, सृष्टि की उत्पत्ति से सम्बद्ध पौराणिक विवेचन आदि के लिये भी स्थान है। इस तरह आरण्यक भी ब्राह्मण ग्रन्थों के ही अङ्ग हैं, जिनमें दार्शनिक चिन्तन की प्रधानता है।

उपनिषद् ग्रन्थ– उपनिषद् भी आरण्यकों के अङ्ग हैं। उपनिषदों में ब्रह्म–विद्या का सम्यक् विवेचन किया गया है। इन उपनिषदों को वैदिक वाङ्मय का अन्तिम चरण माना जाता है और इसीलिये इन्हें 'वेदान्त' भी कहा जाता है। वेद–विद्या के अध्ययन के अन्तिम काल में इन उपनिषदों के ज्ञान का अध्ययन कराया जाता था। परवर्ती काल में भारतीय दर्शन का जो विकास हुआ उसका मूलरूप इन उपनिषदों में देखा जा सकता है। उपनिषदों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती रही और भारतीय इतिहास के मध्यकाल तक नये–नये उपनिषद् बनते रहे। किन्तु मुख्य उपनिषदों की संख्या १०८ मानी जाती है, जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं–

१. **ईशावास्योपनिषद्**, यह यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता का ही अंग है।

२. **केनोपनिषद्**, यह सामवेद के जैमिनीय ब्राह्मण का अंग है।

३. **कठोपनिषद्**, यह कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध है।

४. **माण्डूक्योपनिषद्** अथर्ववेद से सम्बद्ध है।

५. **प्रश्नोपनिषद्** भी अथर्ववेद से सम्बद्ध है।

६. **श्वेताश्वतरोपनिषद्** और महानारायण उपनिषद् भी कृष्ण यजुर्वेद के तैत्तरीय आरण्यक के ही अंग हैं।

७. **ऐतरेयोपनिषद्**, एतरेय ब्राह्मण के ऐतरेय आरण्यक का परिशिष्ट है।

८. **तैत्तिरीयोपनिषद्**, जो तैत्तिरीयब्राह्मण का परिशिष्ट है।

९. **कौषीतकी उपनिषद्**, जो कौषीतकी ब्राह्मण के कोषीतकी आरण्यक का अंग है।

१०. **वृहदारण्यकोपनिषद्**, यह शुक्ल यजुर्वेद के शतपथब्राह्मण का अंग है।

११. **छान्दोग्योपनिषद्**, यह सामवेद के ताण्ड्य महाब्राह्मण का अङ्ग है। यह मुख्यतः गद्यात्मक है।

इन उपनिषदों के अतिरिक्त अन्य जो उपनिषद् ग्रन्थ मिलते हैं वे अधिकतर बौद्ध काल अथवा उसके बाद के हैं। अतः उनका विशेष महत्त्व नहीं है।

वेदाङ्ग साहित्य

उत्तर वैदिक काल में ज्ञान–विज्ञान सम्बन्धी विद्याओं का पृथक्–पृथक् विकास हुआ। इन विद्याओं को वैदिक वाङ्मय के अन्तर्गत माना जाता है और इनसे सम्बद्ध ग्रन्थों को 'वेदाङ्ग' कहा जाता है; क्योंकि वेदों में जो विषय गृहीत हैं उन्हीं की व्याख्या के लिये इन विद्याओं का विकास हुआ था। वेदाङ्ग के अन्तर्गत अधोलिखित छह विषय लिये जाते हैं–

(१) शिक्षा, (२) कल्प, (३) व्याकरण, (४) निरुक्त, (५) छन्द तथा (६) ज्यौतिष।

प्रारम्भ में इन विद्याओं के पृथक् ग्रन्थ नहीं थे, अपितु उनके परम्परागत सम्प्रदाय थे। इन सम्प्रदायों में वैदिक ज्ञान को समझने की शिक्षा दी जाती थी। बाद में इनके ग्रन्थ बन गये जो परम्परागत सूत्रों के सङ्कलनमात्र हैं। इसीलिये इन्हें सूत्र–ग्रन्थ भी कहा जाता है। इन सूत्रों द्वारा पारिभाषिक साङ्केतिक शैली में सिद्धान्तों की व्याख्या की गयी है।

१. **शिक्षा–ग्रन्थ**– 'शिक्षा' का अर्थ वास्तव में उच्चारण की शिक्षा है। जिन सूत्रग्रन्थों में वैदिक मन्त्रों के उच्चारण की विधि बतायी गयी है उन्हें 'शिक्षा–सूत्र' कहा जाता है। यह वस्तुतः प्राचीन भारतीय भाषाविज्ञान का एक रूप है जिसके अन्तर्गत अक्षर, स्वर, मात्रा, लय, सन्धि और निवृत्ति के सम्बन्ध में विचार किया गया है। वैदिक मन्त्रों के पाठ की विधि शिक्षाग्रन्थों द्वारा ही निर्धारित होती थी। इस शास्त्र से सम्बद्ध ग्रन्थों को 'प्रातिशाख्य' कहा जाता है। उनमें से कुछ विशिष्ट ये हैं– ऋग्वेद प्रातिशाख्य, तैत्तिरीय प्रातिशाख्य, वाजसनेयी प्रातिशाख्य, साम प्रातिशाख्य, पञ्चविध प्रातिशाख्य आदि। इन शिक्षा ग्रन्थों का सर्वाधिक महत्त्व यह है कि इन्हीं के कारण वैदिक मन्त्रों का उच्चारण ५००० वर्ष पूर्व से अब तक निरन्तर एक जैसा चला आ रहा है। इसी कारण वैदिक मन्त्रों का पाठ आज भी पूर्णतः अपरिवर्तित है, उनमें कोई पाठान्तर नहीं हुआ। परवर्ती काल में प्रातिशाख्यों के आधार पर ही भारद्वाज, व्यास, वशिष्ठ, याज्ञवल्क्य आदि के नाम से लिखित शिक्षा–ग्रन्थ प्रचलित हो गये।

२. **कल्प**– कल्पशास्त्र के ग्रन्थ भी सूत्र–शैली में लिखे गये हैं जिनमें कर्मकाण्डों और धार्मिक क्रियाओं की विधियाँ सूत्रात्मक शैली में लिखी गयी हैं। ये ग्रन्थ दो प्रकार के होते हैं– १. यज्ञपरक तथा २. आचारपरक। जिन्हें क्रमशः श्रौत सूत्र और गृह्यसूत्र कहा

जाता है। श्रौत ग्रन्थों में अग्निहोत्र की प्रक्रिया एवं यज्ञसूत्रों के विधान संकलित हैं। गृह्यसूत्रों में पारिवारिक जीवन के सम्बद्ध क्रियाओं और षोडश संस्कारों का विधि–विधान बताया गया है। कल्प से सम्बद्ध इन्हीं आयामों से परवर्ती काल में धर्मशास्त्रों का विकास हुआ। इन सभी सूत्र–ग्रन्थों के पृथक् पृथक् सम्प्रदाय हैं; जैसे– गोत्रीय, आपस्तम्ब, बोधायन, भारद्वाज, हिरण्यकेशी मानव, काठक कात्यायन, आश्वलायन, लाट्यायन आदि की शाखाएँ। इन्हीं सूत्र–ग्रन्थों को 'कल्पशास्त्र' भी कहा जाता है।

३. व्याकरण– वैदिककालीन व्याकरण ग्रन्थ अब लुप्त हो चुके हैं, किन्तु यह निश्चित है कि जिस विकसित भाषा में वैदिक ग्रन्थों की रचना हुई थी उसका कोई न कोई व्याकरणग्रन्थ भी सूत्रात्मक रूप में अवश्य प्रचलित रहा होगा। पाणिनि की अष्टाध्यायी में भी कुछ सूत्र वैदिक व्याकरण से सम्बद्ध हैं। परवर्तीकाल में लौकिक संस्कृत से सम्बद्ध व्याकरणशास्त्र का अत्यधिक विकास हुआ।

४. निरुक्त– वैदिक भाषा जब अधिक बोधगम्य नहीं रह गयी तो उसके शब्दों के रूप–निर्माण एवं अर्थ को समझाने के लिये 'निरुक्त' ग्रन्थों की रचना हुई जिनमे से सम्प्रति केवल यास्क द्वारा लिखित 'निरुक्त' ग्रन्थ शेष रह गया है। निघण्टुओं का स्थान भी निरुक्त साहित्य के अन्तर्गत माना गया है, उसमें वैदिक शब्दों की सूचियाँ दी गयी हैं।

५. छन्दःशास्त्र– वैदिक मन्त्रों को 'छन्दस्' भी कहा जाता है। इनमें त्रिष्टुभ्, उष्णिक्, अनुष्टुप्, गायत्री, जगती आदि वैदिक छन्दों का विवेचन किया गया है। इन्हें प्राचीनकाल में पिङ्गल ऋषि द्वारा रचित छन्दःसूत्र भी कहा जाता था। पिङ्गल सूत्र आज भी उपलब्ध हैं। यद्यपि वह परवर्ती काल की रचना है। लौकिक संस्कृत में भी पिङ्गलशास्त्र का विकास उसी आधार पर हुआ था।

६. ज्यौतिषशास्त्र– इस शास्त्र के अन्तर्गत ग्रहों, नक्षत्रों और राशियों की स्थिति और गति से सम्बद्ध गणना और कार्य का विचार किया गया है। भारतीय ज्योतिर्विज्ञान का विकास भी उसी परम्परा में हुआ है।

रामायण और महाभारत

वैदिक वाङ्मय का विकास ४००० ई०पू० से लेकर ५०० ई०पूर्व तक निरन्तर होता रहा है। इस वृहत् कालावधि में अन्तिम १००० वर्षों के उत्तर वैदिक मन्त्रों की भाषा पर्याप्त भिन्न है; जिससे ज्ञात होता है कि उत्तर वैदिक काल में भाषा 'शिष्ट साहित्य' अर्थात् पण्डितों की भाषा बनने लगी थी। यह भारतीय इतिहास का प्रारम्भिक वीर युग था। जब राजतन्त्र पूर्णतः स्थापित हो गया था और साहित्य, कला, संस्कृति आदि का विकास राज्याश्रय में होने लगा था। इस वीर युग में ही वैदिक जाति की सभ्यता समस्त भारत में प्रसृत हुई (फैल गयी) थी और भारत के उत्तर–पश्चिम दिशा में स्थित एशियाई देशों के निवासियों के साथ भारतीय वैदिक जाति का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध पूर्ववत् घनिष्ठ बना हुआ था।[1] अतः इस युग में विशाल साम्राज्यों का स्थापित होना स्वाभाविक था। ऐसे ही राजाओं को रामायण एवं महाभारत आदि ग्रन्थों में 'चक्रवर्ती राजा' कहा गया है।

वैदिक जाति के पञ्चजनों में पुरु, ऐक्ष्वाकव, कुरु–पाञ्चाल, भरत, ऐल, आनव, मद्र आदि के बड़े विशाल साम्राज्य थे जिनमें परस्पर युद्ध होते रहते थे। इन युद्धों और

१. डॉ० शम्भुनाथ सिंह, पुराकल्प– 'ऋग्वेदकालीन जातियाँ और उनका मूल निवास स्थान', अङ्क–७, पृष्ठ ६९, ७०। प्रो० बोर्गाद लेविन (सोवियत), 'भारत, मध्य एशिया एक ही राज्य के अंग थे', दैनिक– 'आज' में प्रकाशित, २५ नवम्बर, १९७६।

विजयों की कथाएँ सूतों और मागधों द्वारा यत्र–तत्र राजसभाओं में कही जाती थीं और उन्हीं का विकास आगे चलकर इतिहास, पुराण के रूप में हुआ। रामायण और महाभारत का विकास उन्हीं सूतों, मागधों और कुशीलवों (नटों) की मौखिक परम्परा में हुआ।[1]

रामायण का कथानक इक्ष्वाकुवंशी राजकुल से सम्बद्ध है जिसमें दिलीप, अज, रघु, दशरथ, राम आदि महान् वीर एवं विजेता उत्पन्न हुए। इन राजाओं का काल १००० ई० पू० से पहले ही रहा होगा। इसी तरह, महाभारत के मुख्य कथानक का सम्बन्ध प्रधानतः कुरु (पाञ्चालों के एक वंश कुरुवंश) से है। यह वंश वैदिक काल के अन्तिम भाग में कुरु पाञ्चाल प्रदेश में शासन करता था, जिसकी राजधानियां हस्तिनापुर, अहिच्छत्र, काम्पिल्य इत्यादि प्राचीन नगरों में थी। इस वंश के पारस्परिक युद्धों की कथा ही महाभारत की मुख्य कथा है, किन्तु महाभारत में इतना ही नहीं है। महाभारत प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं इतिहास का विश्वकोष है जिसके विषय में कहा गया है– 'यन्न भारते तन्न भारते'।

महाभारत का काल विवादास्पद है, किन्तु अधिकतम विद्वानों का मत है कि महाभारत–युद्ध भी १००० ई०पू० से पहले हुआ था। पी०एल० भार्गव एवं एस०एन० प्रधान ने महाभारत युद्ध महापद्मनन्द के मध्य ३२ पीढ़ियां मानकर और एक पीढ़ी का समय २० वर्ष स्वीकार करके इस युद्ध की तिथि लगभग १००० ई०पू० मानी है। प्रधान के अनुसार महाभारत–युद्ध के बाद और युद्ध काल से पूर्व कोसल, मगध तथा पौरव वंश में करीब २२ पीढ़ियों के राजाओं ने शासन किया। इसलिये एक पीढ़ी का औसत २६ वर्ष मानकर उन्होंने महाभारत युद्ध की तिथि ११५० ई०पू० निर्धारित की है। इन विद्वानों के और पार्जिटर के मत में मुख्य अन्तर केवल एक पीढ़ी के औसत शासनकाल के सम्बन्ध में है।[2] इसी तरह राम–रावण का युद्ध यदि भारतीय जाति के राज्य–विस्तार और संस्कृति–विस्तार का युद्ध है तो महाभारत का युद्ध साम्राज्यवादी एकाधिकार की प्रतिद्वन्द्विता और पारस्परिक ईर्ष्या एवं द्वेष का परिणाम है। इन दोनों महायुद्धों की कथाओं में प्रारम्भिक भारतीय वीर युग का यथार्थ प्रतिबिम्ब दिखायी पड़ता है।

ये दोनों विकसनशील महाकाव्य हैं अर्थात् इनकी रचना एक ही समय में एक व्यक्ति द्वारा नहीं हुई, अपितु हजारों वर्षों तक भिन्न भिन्न गायकों एवं कवियों की वाणी इसमें मिलती रही। इस तरह इनका आकार और विषयवस्तु का क्षेत्र उत्तरोत्तर बढ़ता गया। महाभारत का विकास सूतों, मागधों और पौराणिकों की परम्परा में हुआ, रामायण का कुशीलवों की परम्परा में। किन्तु महाभारत की अपेक्षा रामायण में अधिक एकबद्धता है। महाभारत कथा, आख्यान, धर्म, दर्शन, नीति, रणनीति आदि विविध प्रकार के भण्डार का सङ्कलन–ग्रन्थ प्रतीत होता है। इसलिये उसे काव्य न कहकर इतिहास पुराण कहा जाता है। उसमें एकबद्धता के अभाव का यही कारण है। यद्यपि रामायण में भी प्रासङ्गिक

---

१. *वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, ९३*

''कृत्स्नं रामायणं काव्यं गायतां परया मुदा।
ऋषिवाटेषु पण्येषु ब्राह्मणावसथेषु च।
रथ्यासु राजमार्गेषु पार्थिवानां गृहेषु च।।'

डॉ० शम्भुनाथ सिंह, हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, पृष्ठ १२९।

२. *डॉ० श्रीराम गोयल, पुराकल्प– 'महाभारत और दाशराज्ञ युद्धों की तिथियाँ' सं० डॉ० शम्भुनाथ सिंह, अङ्क–४, पृष्ठ १०।*

कथाओं और उपाख्यानों की कमी नहीं है, किन्तु फिर भी उसमें काव्यात्मकता तथा एकान्विति अधिक है। इसी गुण के कारण रामायण को संस्कृत साहित्य का 'आदिकाव्य' कहा गया है। यद्यपि पाश्चात्य विद्वान्, महाभारत, रामायण—दोनों को ही 'महाकाव्य' मानते हैं, किन्तु भारतीय परम्परा में महाभारत को पुराण की कोटि में और रामायण को काव्य की कोटि में गिना जाता है।

वैदिक काल भारत के आद्य इतिहास (Proto History) का काल है। वह काल प्राक् इतिहास (Pre History) की तरह आदिम युग का नहीं था, जिसकी पहचान पत्थर के हथियारों, गुफा—गृहों, आदिम वस्तियों के उत्खनन और उपलब्धि से होती है। उस युग का इतिहास प्राचीन भारतीय वाङ्मय में सुरक्षित है। रामायण और महाभारत भी उसी वाङ्मय के अङ्ग हैं। पार्जिटर, डॉ० सी०वी० वैद्य, डॉ० पी०एल० भार्गव, डॉ० एन०के० सिद्धान्त आदि विद्वानों ने रामायण, महाभारत का काल—निर्णय अपने अपने ढंग से करने का प्रयास किया है।

इन दोनों काव्यों की भाषा लौकिक संस्कृत है जिसका प्रारम्भिक रूप आरण्यकों और उपनिषदों में दिखायी पड़ने लगा था। उपनिषदों में याज्ञवल्क्य, जनक आदि रामायण के पात्रों का उल्लेख हुआ है। इस तरह यह कहा जा सकता है कि वाल्मीकि रामायण की रचना का प्रारम्भ श्रीमद्भागवद्गीता में दिखायी पड़ता है और गीता महाभारत में अन्तर्भुक्त है। अतः उपनिषदों के कतिपय सौ वर्षों बाद महाभारत की रचना प्रारम्भ हुई होगी।

विन्टर्नित्ज का मत है कि रामायण के पहले महाभारत की रचना और महाभारत के पहले रामायण की रचना हुई।[1] इसका यह अर्थ है कि यद्यपि रामायण की रचना पहले प्रारम्भ हुई किन्तु महाभारत के पूर्ण हो जाने के बाद भी रामायण का परिष्कार एवं संस्कार होता रहा। इसीलिये महाभारत की रचना का प्रारम्भ तो रामायण के बाद हुआ, किन्तु उसकी समाप्ति रामायण की समाप्ति के पहले ही हो गयी।

महाभारत का विकास तीन महान् पौराणिकों ने किया—व्यास, वैशम्पायन और तौतिशुक। व्यास ने इसे 'जय' काव्य के रूप में लिखा। जन्मेजय के नागयज्ञ के समय व्यास के शिष्य वैशम्पायन ने इसकी कथा का विस्तार किया। तथा 'भारत' नाम दिया। फिर नैमिषारण्य में सूतपुत्र शुकदेव ने शौनक के यज्ञ में भारत का और भी विस्तार किया और इस तरह इसका नाम 'महाभारत' पड़ा। वेदव्यास महाभारत के युद्ध के समय वर्तमान थे। नैमिषारण्य में ऋषियों के सम्मेलन में शौनक के प्रश्न करने पर जिस समय शुकदेव ने यह कथा सुनायी, वह उत्तर वैदिक काल का अन्तिम भाग रहा होगा। इस तरह यह कहा जा सकता है कि महाभारत की रचना १४०० ई०पू० से लेकर ५०० ई०पू० के बीच हुई।

रामायण की रचना की कालावधि इससे भी कुछ लम्बी है। (अर्थात् इसकी रचना २५०० ई०पू० से लेकर ईसा की प्रथम शताब्दी तक होती रही।) कुशीलव जाति के लोग इस काव्य को वाद्यों के साथ गाते थे और छायानृत्य तथा नाटकों के रूप में प्रदर्शित करते थे। इस तरह वंश—परम्परागत मौखिक धारा में प्रवाहित होता हुआ यह काव्य उत्तरोत्तर बढ़ता रहा।

इस प्रकार महाभारत एवं रामायण केवल उत्तर वैदिक काल का ही नहीं, अपितु

---

१. विण्टरनित्ज, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, भाग–१, पृष्ठ ४५५।

प्राचीन भारत के आद्य इतिहास का विस्तृत ज्ञान–भण्डार और सामाजिक स्थितियों का लेखा–चित्र लिये हुए काल–यात्रा की मंजिलें पार करके हमारे पास तक पहुँचे हैं। परवर्ती भारतीय साहित्य को इन महान् ग्रन्थों ने जितना प्रभावित किया है उतना किसी अन्य ग्रन्थ ने नहीं किया। वस्तुतः ये दोनों ग्रन्थ आजतक के भारतीय साहित्य के प्रधान ग्रन्थ रहे हैं। लौकिक संस्कृत, प्राकृत और आधुनिक भारतीय भाषाओं के काव्य, नाटक और साहित्य के अधिकांश कथानक इन्हीं दोनों ग्रन्थों से लिये जाते रहे हैं।

कहा जाता है कि इतिहास में तिथियों एवं नामों के अतिरिक्त कुछ भी सत्य नहीं होता और साहित्य में तिथियों एवं नामों के अतिरिक्त सब कुछ सत्य होता है। इस दृष्टि से रामायण, महाभारत इतिहास की अपेक्षा अधिक सत्य हैं, क्योंकि इनमें प्राचीन भारतीय इतिहास का यथार्थ स्वरूप प्रतिबिम्बित हुआ है। भारतीय धर्म, सांस्कृतिक चेतना, दार्शनिक चिन्तन, राजनीति और यथार्थ सामाजिक जीवन की विविध दशाओं का इन दोनों महाकाव्यों में विस्तृत आयोजन दिखायी पड़ता है।[1]

बौद्ध वाङ्मय

बौद्ध वाङ्मय भी वैदिक एवं संस्कृत वाङ्मय के समान अतिविपुल है। इसके अन्तर्गत भी धार्मिक ग्रन्थों की प्रधानता है। यह विशाल वाङ्मय अनेक भाषाओं और बहुत बड़े कालखण्ड में निर्मित होता रहा। यह कालखण्ड लगभग १५०० वर्षों तक रहा। इसके अन्तर्गत इतिहास के कालक्रमानुसार मौर्यकाल, शुंगकाल, कुषाणकाल, गुप्तकाल, हर्षकाल एवं पालकाल आ जाते हैं। इस लम्बी कालावधि में बौद्धधर्म का चरमोत्कर्ष भी हुआ एवं ह्रास भी। जो बौद्धधर्म कुषाणकाल तक न केवल समस्त भारत में अपितु श्रीलङ्का, मध्य एशिया और चीन तक पहुँच गया था, वही गुप्तकाल में भारत में ह्रास की ओर जाने लगा। यद्यपि वृहत्तर भारत अर्थात् ब्रह्मदेश, जावा, सुमात्रा, कम्बुज, चम्पा आदि दक्षिण पूर्वी एशिया के देशों तथा मध्य एशिया–तिब्बत, चीन, जापान, कोरिया ईरान, अफगानिस्तान आदि में इसका अधिकाधिक विस्तार होता गया। उत्तरी भारत में ब्राह्मणधर्म, बौद्धधर्म की प्रतिद्वन्द्विता में खड़ा होकर भी उसका उच्छेद नहीं कर सका, किन्तु अपनी ह्रासशील विसङ्गतियों के कारण बौद्धधर्म भारत में उत्तरोत्तर क्षीण होता गया। यद्यपि हर्ष के काल तक उत्तर भारत में वह (बौद्धधर्म) मौखरी वंश के कारण पर्याप्त शक्तिशाली था, किन्तु राजपूतकाल आते आते ब्राह्मणधर्म प्रायः सर्वत्र राजधर्म बन गया और बौद्धधर्म कुछ प्राचीन धर्मपीठों जैसे नालन्दा, विक्रमशिला आदि में ही सिमट कर रह गया। इसकी रही सही शक्ति मुस्लिम आक्रमण के कारण समाप्त हो गयी; क्योंकि बौद्ध भिक्षु मुस्लिम आक्रमण से डरकर हिमालय के प्रदेशों एवं तिब्बत तथा चीन में चले गये। किन्तु बौद्धधर्म भारत के बाहर कुछ देशों में विशेषतः उत्तरी एशिया तथा दक्षिण–पूर्वी एशिया के देशों में भी, बहुत प्रबल बना रहा। ईरान और मध्य एशिया के बौद्ध अनुयायियों को बलपूर्वक मुसलमान बनाया गया और १४वीं एवं १५वीं शताब्दी तक मलय देश आदि देश के बौद्ध भी मुसलमान हो गये। किन्तु अन्य देशों जैसे वर्मा, थाईदेश, श्याम, कम्बोडिया, वियतनाम, चीन, जापान, कोरिया आदि में बौद्ध धर्म आधुनिक समय में भी वर्तमान है, यद्यपि कम्युनिस्टों द्वारा शोषित देशों में उसे बलपूर्वक समाप्त किया जा रहा है।

यह विवरण देने का उद्देश्य यह था कि विशाल बौद्ध साहित्य की प्रसार भूमि का

---

१. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, परिशिष्ट, पृष्ठ–१३१।

अनुमान किया जा सके। जिन–जिन देशों में यह धर्म हजारों वर्ष तक वर्तमान था, उन सबकी अपनी–अपनी भाषाओं में बौद्ध वाङ्मय की रचना होती रही है। भारत से बौद्धधर्म के उच्छेद के बाद विशाल भारतीय बौद्ध वाङ्मय यहाँ से विलुप्त हो गया। भारत के जिन विशाल ग्रन्थागारों जैसे—सारनाथ, नालन्दा, विक्रमशिला में यह साहित्य संगृहीत था उन्हें बर्बर मुस्लिम आक्रमणकारियों ने जला डाला। फिर भी बौद्ध भिक्षु अपने साथ बौद्ध धर्म के जिन अमूल्य ग्रन्थों को लेकर हिमालय क्षेत्र के विभिन्न देशों—नेपाल, सिक्किम, भूटान, तिब्बत आदि में चले गये, वहाँ वह बौद्ध साहित्य राजकीय पुस्तकालयों और बौद्ध मठों (गोम्पाओं) के संरक्षण में सुरक्षित रहा। साथ ही अन्य बौद्ध देशों जैसे—लङ्का, वर्मा, थाइलैण्ड, कम्बोडिया, तिब्बत, चीन, जापान, मंगोलिया आदि में बौद्ध धर्म के जो मूल ग्रन्थ गुप्तकाल या हर्षकाल में ही पहुँच चुके थे, वे भी मूलरूप या अनूदित रूप में सुरक्षित रहे। इस तरह बौद्ध वाङ्मय की अमूल्य निधि, भारत में यूरोपीय विद्वानों की प्रगाढ़ ज्ञान–पिपासा और अन्वेषण की मौलिक प्रवृत्ति तथा उनके सतत प्रयास के फलस्वरूप इस वाङ्मय को सङ्कलित एवं सम्पादित करके प्रकाशित करने का जो उपक्रम प्रारम्भ हुआ उसी का यह परिणाम है कि आज बौद्ध धर्म के वे अमूल्य ग्रन्थ न केवल भारत में, अपितु यूरोपीय देशों में भी अपनी मूल भाषा या संस्कृत रूप में तथा यूरोपीय भाषा में अनूदित रूप में उपलब्ध हैं।

इस विशाल बौद्ध वाङ्मय की रचना कब से प्रारम्भ हुई?— यह बताना अत्यन्त कठिन कार्य है। गौतम बुद्ध के समय में लिखने की प्रथा प्रचलित थी, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता; क्योंकि बुद्ध की मृत्यु से प्रायः दो सौ वर्षों बाद अशोक ने अपने आदेशों को साम्राज्य के विभिन्न भागों में प्रस्तरों (शिलाओं) पर लिखवाया था। लेखन की यह विधि केवल २०० वर्षों में ही नहीं विकसित हुई होगी। अतः निश्चय ही गौतम बुद्ध के समय लिखने की प्रथा विद्यमान रही, फिर भी यह प्रमाण कहीं नहीं मिलता कि बुद्ध ने कोई ग्रन्थ स्वयं लिखा अथवा उनके वचनों को उनके शिष्यों द्वारा उनके जीवन–काल में ही ग्रन्थ रूप में लिखा गया। बौद्धधर्म के प्रमुख ग्रन्थ 'त्रिपिटक' नाम से (विनयपिटक, सुत्तपिटक, अभिधम्मपिटक) निबद्ध हैं, किन्तु त्रिपिटक के अनुसार ही इन ग्रन्थों का सङ्कलन, बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद, तीन सङ्गीतियों में हुआ।

सङ्गीति–परम्परा

प्रथम सङ्गीति— तथागत के निर्वाण के पश्चात् प्रथम बौद्ध सङ्गीति का आयोजन उनके शिष्यों द्वारा किया गया। उस समय बौद्ध भिक्षुओं के समक्ष यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि सम्यक्सम्बुद्ध के वचनों को किस प्रकार सुरक्षित एवं सुव्यवस्थित किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में विनयपिटक के 'चुल्लवग्ग' में कहा गया है कि "अच्छा हो, आवुसो! हम विनय और धर्म का सङ्गायन करें, सामने अधर्म प्रकट हो रहा है, धर्म हटाया जा रहा है, विनयवादी हीन हो रहे हैं।"[1] इसी उद्देश्य से बुद्ध–परिनिर्वाण के चतुर्थ मास में राजगृह के वैभार गिरि की सप्तपर्णी गुफा के सम्मुख एक सभा हुई, जिसे 'प्रथम सङ्गीति' कहा जाता है। इसमें प्रमुख भिक्षु महाकाश्यप, आनन्द, उपालि स्थविर उपस्थित थे तथा अनुरुद्ध, वङ्गीस, पूर्ण एवं कात्यायन की भी भूमिका सराहनीय थी।

प्रथम सङ्गीति में सभी निर्णय एक मत से हुए हों, यह स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा

१. विनयपिटक, अनुवादक—राहुल सांकृत्यायन, पृष्ठ ५४१।

सकता; क्योंकि यदि सुभद्र भिक्षु के[१] वचनों को प्रमाण माना जाय तो हमें स्वीकार करना होगा कि सङ्घभेद का बीज यहीं से प्रारम्भ हो जाता है।

जहाँ तक प्रथम सङ्गीति की ऐतिहासकता का प्रश्न है यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि प्रथम बौद्ध सङ्गीति हुई अवश्य थी, जिसका उल्लेख हमें विनयपिटक के चुल्लवग्ग, दीपवंस, महावंस, सुमङ्गलविलासिनी, महाबोधिवंस, महावस्तु, मञ्जुश्रीमूलकल्प, तारानाथ के बौद्धधर्म का इतिहास, बुद्धघोषकृत समन्तपासादिका की निदानकथा, तिब्बती दुल्व आदि में प्राप्त होता है। यद्यपि कुछ पाश्चात्त्य इतिहासकारों–ओल्डनवर्ग, मिनयेफ, फांके, फिलुस्की, दत्त, फाऊवाल्वर आदि ने प्रथम सङ्गीति के सम्बन्ध में विभिन्न मत व्यक्त किये हैं।[२]

इनके मत परस्पर विरोधी हैं। जहाँ मिनयेफ यह सिद्ध करते हैं कि प्रथम सङ्गीति हुई; वहीं ओल्डेनवर्ग, फांके, रिजडेविस[३] इसकी ऐतिहासिकता को प्रमाणित करते हैं। इनके प्रमाण तथ्ययुक्त नहीं हैं; क्योंकि गवाम्पति एवं पुराण के कथनों में इसकी ऐतिहासिकता स्वयंसिद्ध है।[४] श्री भरतसिंह उपाध्याय का यह कथन कि "भारतीय साधना की आत्मा को यहाँ नहीं समझा गया है, अनुकम्पक शास्ता के चले जाने पर उनके 'धम्मदायाद' भिक्षुओं के लिये इससे अधिक और अवश्यम्भावी कार्य क्या हो सकता था कि वे जल्दी से जल्दी एक जगह मिल बैठ कर भगवान् के वचनों की स्मृति करें"[५] पाश्चात्य विद्वान् गायगर[६], विण्टरनित्ज[७] मिनयेफ के दुविधापूर्ण विचारों से अधिक पूर्ण, प्रामाणिक एवं सत्य प्रतीत होता है।

वस्तुतः प्रथम बौद्ध सङ्गीति में विनय, धम्म (सुत्त) का ही सङ्गायन हुआ, परन्तु बौद्ध परम्परा इसको स्वीकार नहीं करती। आचार्य बुद्धघोष अभिधम्म के सङ्गायन का भी उल्लेख करते हैं।[८] आचार्य बुद्धघोष के विचार से पूर्ण सहमति न रहने पर भी यह निःसन्देह स्वीकार किया जा सकता है कि प्रथम सङ्गीति में ही पिटकों की आधारशिला निर्मित हो गयी। महाकश्यप के ७ मास[९] तक ५०० भिक्षुओं को साथ लेकर किये गये अथक प्रयास ने ५ हजार वर्षों के लिये बौद्धधर्म को स्थायी कर दिया।[१०] इस सङ्गीति ने बुद्धवचनों का सर्वप्रथम संग्रह कर बौद्ध धर्म को अमर बना दिया। अतः इसका ऐतिहासिक महत्त्व भुलाया नहीं जा सकता।

द्वितीय बौद्ध सङ्गीति– द्वितीय बौद्ध सङ्गीति वैशाली नगर[११] में मगध सम्राट्

१. द्र०–दी० नि०, महापरिनिर्वाणसुत्त।

२. बुद्धिस्ति स्के स्तुदियन, जेड०डी०एम०जी० १८९८, पृष्ठ ६१३–२४।

(क) प्रस्तावना, विनयपिटक भाग–I, पृष्ठ २५–२९।

(ख) मिनयेफे, दी रिसर्चेस सरले बुद्धिज्म, १८८७।

(ग) फांके, जे०पी०टी०एस०, १९०८, पृष्ठ–१–८०।

(घ) दत्त, अर्ली मौनास्टिक बुद्धिज्म, भाग–१, पृष्ठ ३३६।

३. दी बुद्धिस्ट सुत्ताज, प्रस्तावना, एस०बी०एफ०, भाग–४०, पृष्ठ १३।

४. विनयपिटक, अनुवादक–राहुल सांकृत्यायन, पृष्ठ ५४५.

५. श्रीभरतसिंह उपाध्याय, पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ८८–८९।

६. गायगर, पालि लिटरेचर एण्ड लैग्वेज, पृष्ठ ९ : पाद टिप्पणी ३।

७. विन्टरनित्ज, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, जिल्द–२, पृष्ठ ४।

८. अट्ठसालिनी, पृष्ठ २३ (देवनागरी संस्करण, पूना) १९२२।

९. महावंस ३/३७। *१०. महावंस ३/३७१।*

११. विनयपिटक, अनुवादक–राहुल सांकृत्यायन, पृष्ठ ४४१।

नन्दिनवर्धन के राज्यारोहण के १०वें वर्ष में हुई।[१] यह सम्राट् अजातशत्रु के वंश का था। इस सङ्गीति में सात सौ भिक्षुओं ने भाग लिया, इसीलिये इसको 'सप्तसतिका' भी कहते हैं। तथागत के परिनिर्वाण के प्रायः १०० वर्षों के बाद यह भिक्षुओं के विनय से सम्बद्ध विवाद का निर्णय करने के लिये आमन्त्रित की गयी। विवाद के विषय दस थे जो विनयपिटक के 'चुल्लवग्ग' के 'सप्तशतिकास्कन्धक' में इस प्रकार उल्लिखित हैं–

'उस समय भगवान् के परिनिर्वाण के १०० वर्ष बीतने पर वैशाली निवासी वज्जिपुत्तक भिक्षु दस वस्तुओं का प्रचार करते थे– भिक्षुओ! (१) शृङ्गिलवण–कल्प विहित है। (२) द्विअंगुल कल्प.... (३) ग्रामान्तर कल्प.... (४) आवास कल्प.... (५) अनुमति कल्प.... (६) आचीर्ण कल्प.... (७) अमथित कल्प.... (८) जलोगीपान.... (९) अदशक..... (१०) जातरूप–रजत विहित है।[२] वज्जिसङ्घ के भिक्षु उपर्युक्त दस विषयों को 'विहित' (बुद्धानुमोदित) कहते थे और स्थविरवादी भिक्षु 'विहित' नहीं मानते थे। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से यह विवाद अत्यन्त गौण था, परन्तु धार्मिक दृष्टि से विवाद महत्त्वपूर्ण रहा तथा 'काकण्डकपुत्र यश' के प्रबल विरोध एवं प्रयास के फलस्वरूप यह सङ्गीति राजा कालाशोक नन्दिवर्धन के संरक्षण में हुई।[३]

सभी विवादों को निर्णीत करने के लिये उसी समय बैठी समिति ने रेवत के इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया गया कि पञ्चों के माध्यम से विवाद निपटाया जाय। सभा के द्वारा पूर्व के सङ्घ से आचार्य सर्वकामी, आयुष्मान् साळ्ह, आयुष्मान् क्षुद्रशोभित और आयुष्मान् वार्षभक्रमिक तथा पश्चिम के सङ्घ से आयुष्मान् रेवत, आयुष्मान् साणवासी सम्भूत, आयुष्मान् यश और आयुष्मान् सुमन चुने गये।[४] इन सभी सदस्यों में आचार्य सर्वकामी सर्वश्रेष्ठ थे जिनकी आयु १२० वर्ष थी।[५] वही अध्यक्ष बनाये गये।

जब इन आठ व्यक्तियों की समिति बैठी तो रेवत ने प्रत्येक विवादग्रस्त प्रश्न पर क्रमशः आचार्य सर्वकामी से निर्णय मांगा। उन्होंने एक को छोड़कर शेष सभी को 'अविहित' बतलाया। इस समिति के निर्णयों को ही सप्तशतिका सङ्गीति में भी स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार उस सङ्गीति में वज्जिसङ्घ के भिक्खुओं की पराजय हुई। यह सङ्गीति प्रायः ८ माह चली।[६] पञ्चों का निर्णय जब सभा में सुनाया गया तो स्पष्ट रूप से दो दल बन गये। एक पूर्वी वज्जिसङ्घक बना जिसे 'महासङ्घिक' नाम से जाना गया।

आगे चलकर इससे भी क्रमशः गोकुलिक, व्यावहारिक, प्रज्ञप्तिवादी, बाहुलिक एवं चैत्यवादी सम्प्रदाय निकले। दक्षिण–पश्चिम के भिक्खुओं के दल को 'स्थविरवादी सम्प्रदाय' के नाम से जाना गया। आने वाले समय में उन महासङ्घिकों में और भी मतभेद हुआ जो क्रमशः महिंशासक, वत्सिपुत्रीय, धर्मोत्तरीय, भद्रयानिक, छन्दागारिक, सम्मितीय, सर्वास्तिवादी, धर्मगुप्तिक, काश्यपीय, सांक्रान्तिक एवं सुत्तवादी सम्प्रदाय के रूप में प्रकट हुआ।

इस सङ्गीति के कारण ही, भविष्य में चलकर एक स्थविरवाद से ही अठारह सम्प्रदाय उद्भूत हुए। प्रथम सङ्गीति के समय ही विनय एवं धम्म का सङ्गायन हुआ। आचार्य बुद्धघोष के वर्णनानुसार बुद्धवचनों का तीन पिटकों, पञ्च निकायों, एवं नौ अङ्गों में पुनः

---

१. महावंस, चौथा परिच्छेद (१–७)।

२. विनयपिटक, अनुवादक–राहुल सांकृत्यायन, पृष्ठ ४४२।

३. महावंस, ४, १०।

४. महावंस, ४, १४, १६।

५. चुल्लवग्ग १२, २, ५।

६. महावंस ५, ६, ४।

अनुसङ्गायन इस समय किया गया। इसकी ऐतिहासिकता निर्विवाद रूप से सत्य है। ओल्डेनवर्ग ने इसे निर्विवाद रूप से सत्य घटना माना है। इस सङ्गीति का उल्लेख हमें विनयपिटक, दीपवंस, महावंस, समन्तपासादिका आदि में सर्वत्र समान मिलता है।

तृतीय बौद्ध सङ्गीति— देवानाम्प्रिय अशोक के समय, तथागत के परिनिर्वाण के २३६ वर्ष बाद, तृतीय बौद्धसङ्गीति का सङ्गायन पाटलिपुत्र में सम्पन्न हुआ। इस सङ्गीति का उल्लेख 'दीपवंस', 'महावंस', 'समन्तपासादिका' एवं 'कथावत्थु' में है। विनयपिटक के 'चुल्लवग्ग' में तिब्बती और चीन के महायानी बौद्ध साहित्य में एवं अशोक के किसी अभिलेख में इस सङ्गीति के सङ्गायन का कोई उल्लेख नहीं है। इससे इसकी ऐतिहासिकता में सन्देह किया जाना स्वाभाविक है, जैसा कि कुछ पाश्चात्य विद्वान्–मिनयेफ, कीथ, वार्थ, एवं लेवी आदि मानते हैं; परन्तु वहीं डाक्टर टी०डब्ल्यू० रायस डेविस, विण्टरनित्ज[1] और गायगर[2] आदि विद्वान् इस सभा की ऐतिहासिकता को स्वीकार करते हैं। वास्तव में सम्राट् अशोक के समय तक बौद्ध धर्म १८ सम्प्रदायों में विभक्त हो चुका था। यह सङ्गायन विशेष रूप से स्थविरवादियों का रहा एवं साथ ही साथ अन्य बौद्ध मतावलम्बियों ने इसे स्थविरवादी भिक्षुओं की ही सभा मानकर इसका उल्लेख बौद्ध सङ्गीतियों के रूप में न किया हो।[3]

सम्राट् अशोक के समय तक आते–आते बौद्ध धर्म में बहुत से दूसरे धर्मानुयायी सुख–सुविधा के लोभ से कृत्रिम बौद्ध भिक्षु बन गये; क्योंकि उस समय बौद्धधर्म ने राज्य–धर्म का रूप ग्रहण कर लिया था। सङ्घ के अन्तर्गत तथागत के वचनों में अनास्था रखने वाले लोग भी वेश परिवर्तित करके भिक्षु रूप में सङ्घ के सदस्य बन गये। फलस्वरूप इन भिक्षुओं द्वारा 'विनय' की अवहेलना प्रारम्भ हो गयी। इन अबौद्ध लोगों का निष्कासन एवं मूल बुद्ध उपदेशों का सङ्गायन अनिवार्य हो गया। इन्हीं उद्देश्यों से प्रेरित होकर मोग्गलिपुत्र तिष्य ने एक बहुत बड़ी सभा पाटलिपुत्र के अशोकाराम में की। भिक्षुओं की मत–परीक्षा के अनन्तर मिथ्यादृष्टि वाले ६० हजार भिक्षुओं का निष्कासन किया गया।[4] इस सङ्गीति में सम्राट् अशोक स्वयं उपस्थित थे। साथ ही साथ पाटलिपुत्र की इस सभा में अन्तिम रूप से बुद्ध–वचनों का स्वरूप निर्धारित किया और नौ (९) महीने में भिक्षुओं ने मोग्गलिपुत्र तिष्य के सभापतित्व में बुद्धवचनों का सङ्गायन किया। इसी समय मोग्गलिपुत्र तिष्य ने मिथ्यावादी १७ बौद्ध सम्प्रदायों का निराकरण करते हुए 'कथावत्थु' नामक ग्रन्थ की रचना की, जिसे, अभिधम्मपिटक के अङ्ग के रूप में स्थान मिला।[5]

इस सङ्गीति का महत्त्व बौद्ध साहित्य के इतिहास में अत्यधिक है; क्योंकि त्रिपिटकों का सङ्गायन इसी सङ्गीति में वृहद् रूप में हुआ। इस सङ्गीति में 'कथावत्थुप्रकरण' जैसे ग्रन्थ के साथ अनेक सुत्त, गाथाएँ और वत्थु भी, जो अन्य भिक्षुओं द्वारा प्रोक्त थे, उन्हें सुत्तानुकूल (अतएव बुद्धानुमोदित) मानकर त्रिपिटक में सम्मिलित कर दिया गया।

चतुर्थ बौद्ध सङ्गीति— तृतीय बौद्ध सङ्गीति में मोग्गलिपुत्र तिष्य ने सर्वास्तिवाद का भी खण्डन किया था। अतः प्रथम एवं द्वितीय शताब्दी (लगभग १०० ई०) में सम्राट्

---

१. विण्टरनित्ज, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, भाग–२, पृष्ठ १६९–७०, पादसंकेत ५।

२. गायगर, पालि लिटरेचर एण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ ९, पादसंकेत २।

३. भरतसिंह उपाध्याय, पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ९५–९६।

४. बुद्धचर्या, भूमिका भाग, पृष्ठ २।

५. महावंस, अनुवादक– भदन्त आनन्द कौसल्यायन, ५/२७८।

कनिष्क ने, इन सर्वास्तिवादियों के समर्थन में, चतुर्थ बौद्ध सङ्गीति का आयोजन कराया। इस सङ्गीति में पार्श्व प्रधान बनाये गये। पार्श्व, कनिष्क द्वारा स्थापित पुरुषपुर के आश्चर्यमहाविहार के वासी थे। इस सङ्गीति में ५०० भिक्षु पार्श्व के साथ एवं ५०० भिक्षु वसुमित्र के साथ आये; परन्तु इसमें महायानिकों का प्रतिनिधित्व तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता; क्योंकि नागार्जुन के बाद ही महायानिकों का विस्तार विशेष रूप से हुआ था, तथा राजतरङ्गिणी के अनुसार नागार्जुन कनिष्क के पश्चात् हुए।

यह सङ्गीति १०० वीं ईस्वी में कश्मीर के कुण्डलवन विहार अथवा जालन्धर के बुवन में बुलाई गयी।[1] इसमें अभिधर्म–महाविभाषा[2] की रचना हुई। युवान च्वांग (ह्वेनसांग) का कथन है कि सुत्तपिटकविभाषा, विनयविभाषा एवं अभिधर्मविभाषा की रचना भी इसी समय हुई तथा इनमें से प्रत्येक में एक लाख श्लोक हैं। इस सङ्गीति का मुख्य कार्य इन भाष्यों की रचना ही है।

इस सङ्गीति की ऐतिहासिकता के बारे में मतभेद है। दक्षिण के बौद्ध इसको स्वीकार नहीं करते। सिंहली ग्रन्थों में इसका कोई उल्लेख नहीं है। केवल युवान च्वांग इसके लिये प्रमाणपुरुष हैं।[3] इनके अनुसार यह सङ्गीति वसुमित्र के सभापतित्व एवं साकेत के अश्वघोष के उपसभापतित्व में सर्वास्तिवादियों के बौद्ध सिद्धान्तों पर भाष्य लिखने के लिये कश्मीर के कुण्डलवन में आयोजित की गयी।[4]

अधिकांश विद्वानों का यही मत है कि इस सङ्गीति की ऐतिहासिकता में सन्देह नहीं किया जा सकता।[5] किन्तु तारानाथ का कथन है कि इस सङ्गीति के स्थान के सम्बन्ध में कुछ लोगों का मत विभिन्न है। वे इस सङ्गीति का स्थान जालन्धर के 'कुवन' में मानते हैं। युवान च्वांग के अनुसार रचे गये भाष्य ताम्र पर लिखे गये एवं पत्थर की पेटियों में रखे गये, जिनको इस कार्य के लिये बनाये गये स्तूपों में रख दिया गया।

इस सङ्गीति का महत्त्व यह है कि बौद्ध मतों को नयी दृष्टि पाने में कोई अवरोध नहीं हुआ, अपितु एक दिशा ही प्राप्त हुई। इससे पूर्व हुई सभी बौद्ध धर्म की प्रत्येक सङ्गीति का कार्य पालि भाषा में हुआ था; परन्तु इस सङ्गीति का सारा कार्य संस्कृत भाषा में हुआ जो कि बौद्ध साहित्य के लिये एक नवीन चरण था।

इन सङ्गीतियों में उस समस्त साहित्य का सम्पादन हुआ जो वर्तमान त्रिपिटक में समाविष्ट हैं। किन्तु ऐसा बौद्ध साहित्य भी प्रभूत मात्रा में उपलब्ध है जो त्रिपिटक में सम्मिलित नहीं है। इस प्रकार के ग्रन्थलेखकों के नाम भी ज्ञात नहीं है। वस्तुतः ये ग्रन्थ धार्मिक सम्प्रदाय या सङ्घों की परम्परा में विकसित हुए थे। इन समस्त ग्रन्थों को सुत्त–ग्रन्थों की भाँति ही समादर प्राप्त था।

इस प्रकार त्रिपिटक तथा अन्य समस्त साहित्य को बौद्ध साहित्य का द्वादशाङ्ग साहित्य कहा जाता है। जिसके ये बारह अंग हैं– सूत्र, गेय, व्याकरण, गाथा, उदान, अवदान, इतिवृत्तक, निदान, वैपुल्य, जातक, उपदेश और अद्भुत धर्म।[6]

---

१. वाटर्स, जिल्द–१, पृष्ठ २७०–७८।

२. बौद्धधर्म के २५ सौ वर्ष ('आजकल' वार्षिक अंक दि० १९५६), पृष्ठ १४६.

३. तारानाथ, पृष्ठ ५९–६०।

४. वही, पृष्ठ १४६.

५. वही, पृष्ठ ३३–३४.

६.
सूत्रं गेयं व्याकरणं गाथोदानावदानकम्।
इतिवृत्तकं निदानं वैपुल्यं च सजातकम्।।
उपदेशात्मके धर्मे द्वादशाङ्गमिदं वचः ।। (दस्सिपद आलोक, पृष्ठ ३५) भट्ट।

बौद्ध सङ्गीतियों के काल में तथा उसके बाद तक त्रिपिटक के अतिरिक्त अन्य धार्मिक साहित्य का विकास होता रहा। ऐसे समस्त ग्रन्थों की सूची में ये नाम दिये जा सकते हैं—

दिव्यावदान, ललितविस्तर, निदानकथा, महावस्तु, शार्दूलकर्णावदान तथा अन्य अवदान–ग्रन्थ, महायानसूत्र, शिक्षासमुच्चय[1], प्रज्ञापरिमिता आदि।

चतुर्थ बौद्ध सङ्गीति के काल तक मुख्यतया धार्मिक साहित्य की रचना हुई जिसे विभिन्न सङ्गीतियों में स्वीकृत किया गया; किन्तु इसी समय में बौद्ध साहित्य का एक नये युग में प्रवेश हुआ, जबकि बौद्ध विद्वान् अपने पृथक् ग्रन्थों की रचना करने लगे और ये ग्रन्थ पालि के स्थान पर संस्कृत भाषा में लिखे जाने लगे। उत्तरी भारत में कनिष्क के बाद कोई बौद्ध सङ्गीति आयोजित नहीं हुई, किन्तु श्रीलङ्का में कई सङ्गीतियों का उल्लेख है। भारत के बाहर के बौद्ध देशों में ई०पू० दूसरी शताब्दी से लेकर आधुनिक युग तक अनेक बौद्ध परिषदों का आयोजन हो चुका है।

श्रीलङ्का में बौद्ध सङ्गीतियाँ— महावंस तथा अन्य सिंहली परम्परा के अनुसार श्रीलङ्का में तीन बौद्ध सङ्गीतिकी श्रीलङ्का के सम्राट् तिस्स (२४७ से २०० ई०पू०) के काल में अरिष्ट स्थविर की अध्यक्षता में अनुराधपुर के थूपाराम में सम्पन्न हुई। इसमें सन्दर्भ–सूत्रों का पाठ हुआ। द्वितीय बौद्ध सङ्गीति वट्टगामणि अभय (१०१ से ७७ ई०पू०) के काल में महाथेर की अध्यक्षता में ५०० विद्वान् भिक्षुओं के मध्य सम्पन्न हुई। इसमें त्रिपिटिक के अतिरिक्त अट्ठकथाएँ भी ताम्रपत्र पर लिखी गयीं। तृतीय बौद्ध सङ्गीति १८६५ ई० में हिक्कदूबे सुमङ्गलय की अध्यक्षता में सम्पन्न हई।

इसी प्रकार थाईलैण्ड और वर्मा में क्रमशः १७८९ तथा १८७७ ई० में बौद्ध परिषदों का आयोजन हुआ। १९५४ में रंगून में पुनः एक बौद्ध परिषद् आयोजित हुई किन्तु इन परिषदों एवं सभाओं को वास्तविक अर्थ में सङ्गीति नहीं कहा जा सकता।[2]

परवर्ती बौद्ध साहित्य

बौद्ध विद्वानों कवियों और दार्शनिकों द्वारा व्यक्तिगत रूप से ग्रन्थ–रचना का कार्य वस्तुतः कनिष्क के समय से प्रारम्भ हुआ। कनिष्क के समय तक बौद्ध धर्म मध्य एशिया उत्तरी एवं पूर्व–एशिया, दक्षिण–पूर्व एशिया एवं दक्षिण भारत तक तथा श्रीलङ्का तक फैल चुका था। इन देशों के बौद्ध विद्वानों ने भी ग्रन्थ–रचना की। किन्तु हमारे अध्ययन का क्षेत्र केवल भारत में रचित बौद्ध साहित्य है, अतः भारत से बाहर के देशों में लिखित साहित्य के विषय में सामान्यतः इस ग्रन्थ में विचार नहीं किया जायगा।

कनिष्क के समय में इसकी राजसभा के बौद्ध विद्वान् एवं कवि अश्वघोष ने 'बुद्धचरित' एवं 'सौन्दरनन्द' नामक महाकाव्यों की रचना की। इसके पहले ई०पू० प्रथम शताब्दी में मिलिन्द और नागसेन का दार्शनिक संवाद 'मिलिन्दपञ्ह' नामक ग्रन्थ के रूप में लिखा जा चुका था। किन्तु इसका लेखन स्वयं नागसेन ने या अन्य किसी व्यक्ति ने उसके संवादों को लिख डाला था, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

इसी शताब्दी में महाकच्चायन द्वारा नेत्तिपकरण की रचना हुई थी। जिसमें अभिधर्मपिटक की शैली में त्रिपिटकों के गूढ़ अर्थों की व्याख्या की गयी है।

---

१. डॉ० गोविन्दचन्द पाण्डेय, बौद्ध धर्म का इतिहास, पृष्ठ १२९–३०।
शिक्षासमुच्चय के अन्तर्गत ९८ ग्रन्थों की सूची है।

२. आजकल, पृष्ठ ३५।

आचार्य बुद्धघोष— ये 'ञाणोदय' 'विसुद्धिमग्ग' तथा विनयपिटक, सुत्तपिटक, अभिधम्मपिटक पर अट्ठकथाओं के प्रसिद्ध एवं प्रामाणिक रचनाकार हुए हैं। इनका बौद्ध दार्शनिकों एवं ग्रन्थकारों में विशिष्ट स्थान है। बुद्धघोष का जीवन काल ३८० ई० से ४४० ई० तक माना जाता है।[1]

उसी समय भारतीय दाक्षिणात्य भिक्षु **भदन्त बुद्धदत्त** जो कि संस्कृत साहित्य के महाकवियों में अश्वघोष एवं कालिदास तथा हिन्दी में तुलसीदास के समान थे।[2] इनके द्वारा पालि भाषा में विनयविनिच्छय, उत्तरविनिच्छय, अभिधम्मावतार, रूपारूपविभाग और मधुरत्थविलासिनी नामक अट्ठकथाएँ रची गयी।

दक्षिण के ही **स्थविर धम्मपाल** ने अपनी अट्ठकथाओं में बुद्धघोष के नाम का उल्लेख किया है, जिससे यह विदित होता है कि खुद्दकनिकाय के जिन ग्रन्थों पर आचार्य बुद्धघोष ने अट्ठकथाएँ नहीं लिखीं, इन पर अट्ठकथाएँ लिखने का कार्य इन्होंने किया। इस तरह इन्होंने उदान, इतिवुत्तक, विमानवत्थु, पेतवत्थु, थेरीगाथा और चरियापिटक पर अट्ठकथाएँ लिखी, जिनका संयुक्त नाम 'परमत्थदीपनी' है। बुद्धघोषकृत 'विसुद्धिमग्ग' पर उन्होंने 'परमत्थमञ्जूसा' नामक टीका लिखी है। रहुल सांकृत्यायन ने लिखा है— इनका जन्म तमिल देश के काञ्चीपुर नामक स्थान में हुआ था। ये बुद्धघोष के पश्चात् हुए अर्थात् ५वीं शती के पश्चात्। ह्वेनसांग ने जिस धम्मपाल का उल्लेख किया है वे उनके गुरु तथा महायानी थे। और नालन्दा के आचार्य थे।[3] इसी काल (चौथी शताब्दी) में आचार्य बुद्धघोष के पश्चात् और भी बहुत से पालि–अट्ठकथाकार हुए जिनमें आनन्द, चुल्ल, धम्मपाल, उपसेन, महानाम, काश्यप, वज्रबुद्धि, क्षेम, अनुरुद्ध, धर्मश्री और महास्वामी आदि के नाम विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। इनमें से बहुत से श्रीलङ्का के निवासी थे और काल की दृष्टि से बहुत बाद के हैं।[4]

नागार्जुन— अश्वघोष के बाद बौद्ध धर्म एवं साहित्य के दूसरे महान् विद्वान् नागार्जुन हुए जिनके काल के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हैं। लङ्कावतारसूत्र, महामेघसूत्र, महाभेरीसूत्र एवं मञ्जुश्रीमूलकल्प में इनके विषय में भविष्यवाणियाँ उपलब्ध होती हैं। 'लङ्कावतार' में उनका काल बुद्ध के महापरिनिर्वाण के ७०० वर्ष बाद, महामेघसूत्र में महापरिनिर्वाण के ४०० वर्ष बाद उल्लिखित है। डॉ० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय के अनुसार कनिष्क एवं उस सातवाहन राजा के समकालीन दूसरी शताब्दी ई० में है।[5] उस सातवाहन राजा गौतमपुत्र का काल १६६ से १६९ ई० है।[6] नागार्जुन एक महान्दार्शनिक थे। इन्होंने 'महाप्रज्ञापरिमिताशास्त्र', 'मध्यमककारिका', 'विग्रहव्यावर्तनी' नामक ग्रन्थों की रचना की। इनके लिखे अन्य ग्रन्थ भी बताये जाते हैं जो उपलब्ध नहीं हैं।[7]

वसुबन्धु एवं **असङ्ग** दो तेजस्वी विद्वान् हुए थे।[8] असङ्ग योगाचार के आचार्य थे और उन्हीं के प्रभाव से वसुबन्धु भी योगाचार के समर्थक हुए। असङ्गकृत मुख्य ग्रन्थ 'महायानसम्परिग्रहप्रकरण', आर्यवाचा, 'योगाचारभूमिशास्त्र' एवं महायानसूत्रालङ्कार है।

१. *डॉ० धर्मरक्षित, विशुद्धि मार्ग की भूमिका, पृष्ठ ७।*
२. *डॉ० धर्मरक्षित, पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १६६।*
३. *राहुल सांकृत्यायन, पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २६७।*
४. *भरत सिंह उपाध्याय, पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५६१–६२।*
५. *डॉ० गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृष्ठ ३७२।*
६. *बौद्ध धर्म के २५०० वर्ष, पृष्ठ १६०।*
७. *बौद्ध धर्म के २५०० वर्ष, पृष्ठ १६१।* ८. *वही, पृष्ठ १६०।*

आचार्य वसुबन्धु का महान् ग्रन्थ 'अभिधर्मकोश' है। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'परमार्थसप्तति', 'तर्कशास्त्र', 'वादविधि', 'विज्ञसिमात्रतासिद्धि' भी लिखे। सद्धर्मपुण्डीक, महापरिनिर्वाणसूत्र एवं वज्रच्छेदिका प्रज्ञापरिमिता पर व्याख्याएँ भी लिखी हैं।

वसुबन्धु के शिष्य दिङ्नाग थे। जो भारतीय तर्कशास्त्र के महान् पण्डित एवं जनक माने जाते हैं। इनका काल संवत् ४४५ ई० से ५७५ ई० माना जाता है। इन्होंने बहुत से ग्रन्थ लिखे; इनमें से अभिधर्मकोष, मर्मप्रदीप, अष्टसाहस्त्रिकापिण्डार्थ, 'प्रमाणसमुच्चय' हैं एवं 'त्रिकालपरीक्षा' 'आलम्बनपरीक्षा', 'हेतुचक्रसमर्थन' और 'न्यायमुख' प्रधान है।

दिङ्नाग के शिष्यों में ईश्वरसेन और शङ्करस्वामी मुख्य थे। शङ्करस्वामी ने 'हेतुविद्या–न्यायशास्त्र' एवं 'न्यायप्रवेश' शास्त्र दो ग्रन्थ लिखे। वसुबन्धु के शिष्य धर्मपाल द्वारा आलम्बनप्रत्ययाध्यायशास्त्रव्याख्या, विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि व्याख्या और शतशास्त्रव्याख्या नामक ग्रन्थों की रचना हुई।

धर्मकीर्ति– बौद्ध न्याय के महान् पण्डित धर्मपाल के शिष्य धर्मकीर्ति द्वारा मुख्य रूप से प्रमाणवार्तिक और उसके स्वार्थानुमानप्रकरण पर स्वोपज्ञवृत्ति, न्यायविन्दु, प्रमाण–विनिश्चय, सन्तानान्तरसिद्धि, वादन्याय, हेतुविन्दु, सम्बन्धपरीक्षा आदि प्रकरण ग्रन्थ लिखे गये। इनका समय डॉ० महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य ने सन् ६२९ से ६८५ ई० तक माना है।[3] इनके प्रमाणवार्तिक ग्रन्थ पर देवेन्द्रबुद्धि, शाक्यबुद्धि, धर्मोत्तर, आनन्दवर्धन, ज्ञानश्री, प्रज्ञाकरगुप्त, मनोरथनन्दिन् आदि आचार्यों ने टीकाएँ रची हैं।

अन्य बौद्ध दार्शनिक– आठवीं शताब्दी में **प्रज्ञाकर गुप्त** के लिखे गये ग्रन्थों में 'प्रमाणवार्तिकालंकार' मुख्य ग्रन्थ है। इनके शिष्य **विनीतदेव** ने न्यायविन्दु टीका, हेतुविन्दु–टीका, वादन्यायव्याख्या, सम्बन्धपरीक्षा टीका, आलम्बनपरीक्षा टीका और सन्तानान्तर–सिद्धि टीका नामक ग्रन्थ लिखे। इसके अतिरिक्त **देवेन्द्रबुद्धि** के द्वारा प्रमाणवार्त्तिक टीका, **शंकरानन्द** द्वारा प्रतिबन्धसिद्धि, अपोहसिद्धि, सम्बन्धपरीक्षानुसार और प्रमाणवार्तिक–टीका, **जिनेन्द्रबुद्धि** द्वारा प्रमाणसमुच्चय टीका, **कल्याणरक्षित** द्वारा अन्यापोहसिद्धि ईश्वरभङ्गकारिका, सर्वज्ञसिद्धिकारिका, श्रुतिपरीक्षा कारिका और ब्रह्मत्यार्थ सिद्धि कारिका, **रविगुप्त** द्वारा प्रमाणवार्तिक वृत्ति, **अर्चट** द्वारा हेतुविन्दुटीका, क्षणभङ्गसिद्धि और प्रमाण हेतुसिद्धि, **शान्तभद्र** द्वारा न्यायविन्दु टीका, **दुर्वेक भिक्षु** द्वारा न्यायविन्दुटीकाटिप्पणी, **कर्णकगोमिन्** द्वारा प्रमाणवार्तिक की स्वोपज्ञवृत्ति पर वृत्ति; **धर्मोत्तर** द्वारा प्रमाणपरीक्षा, अपोहप्रकरण, परलोकसिद्धि और क्षणभङ्गसिद्धि नामक ग्रन्थ आठवीं शताब्दी तक रचे गये।

शान्तिदेव–शून्यवाद के समर्थक शान्तिदेव का काल सातवीं सदी है। बोधिचर्या–वतार के रचयिता शान्तिदेव ही हैं। आठवीं सदी के आसपास प्रभाकर यति ने बोधिचर्यावतार पर पञ्चिका की रचना की है।

शान्तरक्षित– नालन्दा विद्यापीठ के अधिष्ठाता और बौद्ध दर्शन के प्रमुख व्याख्याता शान्तरक्षित द्वारा आठवीं सदी में 'तत्त्वसंग्रह' नामक ग्रन्थ लिखा गया। इसके अतिरिक्त इनके अन्य ग्रन्थ मध्यमकालङ्कारकारिका वृत्ति, वादन्याय–वृत्ति विपञ्चितार्था, हेतुचक्राभास, तत्त्वसिद्धि नामक ग्रन्थ हैं।

सिद्ध–साहित्य– सरह और कम्पल ने हेवज्रतंत्र और अनुत्तर योगतंत्र लिखा।

---

३. सिद्धिविनिश्चय टीका, भाग–१, भूमिका, पृष्ठ २७।

सरह ने बुद्धकपालतन्त्रपञ्जिका, बुद्धकपाल साधक, बुद्धकपाल मण्डल विधि, त्रैलोक्य–वंशकर, लोकेश्वर साधन दोहाकेटा गीति, दोहाकेशनाचार्या गीति, काव्य कोण मृत व्रजगीति लिखा।

सिद्ध नागार्जुन ने वज्रतारा, साधन आहर एकजटा–साधन ग्रन्थ लिखे। इनके अन्य ग्रन्थ मन्त्रालङ्कारसाधन, कक्षपुट पिण्डीकृतसाधन, गुह्य समाजमण्डल–विधि, सेकवतुर प्रकरण, स्वभावसिद्धि, उपदेश, वज्रयान, स्थूलपत्रि, प्रज्ञापारमिताहृदयसाधना, लोकेश्वर–साधन आदि है। इसके अतिरिक्त अन्य सिद्धों का भी बहुत साहित्य मिलता है।[1] परन्तु वह अधिकतर आठवीं सदी के बाद का है। अतएव उस पर विचार नहीं किया जायगा।

बौद्ध साहित्य का वर्गीकरण

इस तरह इस साहित्य को विभिन्न विद्वानों ने भिन्न–भिन्न दृष्टियों से अनेक वर्गों में विभक्त किया है। साहित्य अथवा वाङ्मय के विषयानुसार अनेक अङ्ग होते हैं। बौद्ध वाङ्मय में वे अङ्ग उपलब्ध हैं। प्रस्तुत विषय के अध्ययन के लिये बौद्ध वाङ्मय के उन अंगों का अध्ययन विशेष रूप से आवश्यक है जिनमें सामाजिक जीवन की किसी न किसी रूप में अभिव्यक्ति हुई हो। ऐसे साहित्याङ्गों की पहचान के लिये बौद्ध साहित्य का वर्गीकरण आवश्यक है। जिन विद्वानों ने इस प्रकार का वर्गीकरण किया उनमें से डॉ० भिक्षु धर्मरक्षित का वर्गीकरण सर्वाधिक उपयुक्त है; किन्तु उन्होंने भी ऐसे वर्गों के नाम भी गिना दिये हैं, जो अन्य वर्गों में अन्तर्भुक्त हो सकते हैं, अतः इस अध्याय में बौद्ध वाङ्मय को अधोलिखित वर्गों में विभक्त कर उपलब्ध प्रत्येक ग्रन्थों का सामान्य परिचय प्रस्तुत करेंगे।

१. धर्म, नीति और आचार
२. दर्शन
३. साहित्य
४. पुराकथा और मिथक
५. इतिहास, जीवनी
६. तन्त्र एवं गुह्याचार

इन वर्गों के अन्तर्गत जो वाङ्मय विवेच्य है वह पालि एवं संस्कृत दोनों भाषाओं में लिखित है। इस साहित्य का बहुत अधिक अंश त्रिपिटक में ही समाविष्ट हैं। जैसे पहले कहा जा चुका है कि त्रिपिटक विविध व्यक्तियों द्वारा लिखित अथवा सङ्कलित विविध ज्ञान–विषयों का ज्ञानभण्डार है। उसे तीन पिटकों एवं प्रत्येक पिटक को विविध निकायों के विभिन्न वर्गों में विभक्त किया गया है। इस प्रकार त्रिपिटक में विभिन्न विषयों के त्रिपिटक के सङ्कलन के बाद के बहुत अधिक अन्य ग्रन्थ सम्मिलित हैं। आठवीं शताब्दी तक विभिन्न विद्वानों द्वारा जो ग्रन्थ लिखे गये वे भी विविध बिषयों से सम्बद्ध हैं। यहाँ उपर्युक्त वर्गों के क्रमानुसार त्रिपिटक के समय से आठवीं शताब्दी तक का परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

१. धर्म, नीति एवं आचार

'धर्म' शब्द बहुत व्यापक अर्थ रखता है। वह व्यावहारिक जीवन में दैनिक आचारों एवं शीलसम्बन्धी नियमों तथा सामाजिक दायित्व एवं कर्त्तव्य से सम्बद्ध है। इस

---

१. *तारानाथ, 'स्टडीज इन बुद्धिष्ट कल्चर ऑफ इण्डिया', पृष्ठ २०५–२०६।*

प्रकार धर्मनीति और आचार परस्पर अन्योन्याश्रित एवं पूरक हैं। अतः इन विषयों से सम्बद्ध सभी ग्रन्थों या सुत्तों को इसी वर्ग के अन्तर्गत रखकर विचार किया जायगा।

(१) **सामञ्ञफलसुत्त**– यह सुत्तपिटक के अन्तर्गत दीघनिकाय ग्रन्थ के सीलक्खन्धवग्ग का दूसरा सुत्त है। इसमें धर्म और आचार सम्बन्धी विषयों का विवेचन किया गया है। पितृवध के पश्चात्ताप से अजातशत्रु के दुःखी होने पर उसे उपदेश देते हुए बुद्ध ने अपने समकालीन धर्मोपदेशकों की धर्म और आचार सम्बन्धी मान्यताओं का खण्डन करते हुए अपने जिन विचारों को व्यक्त किया था इस सुत्त में उन्हीं का सङ्कलन किया गया है। इस सुत्त में तत्कालीन भारतीय समाज की धार्मिक, सामाजिक स्थिति का सम्यक् चित्रण हुआ है।

(२) **अम्बट्ठसुत्त**– यह सुत्तपिटक के अन्तर्गत दीघनिकाय के सीलक्खन्धवग्ग का तृतीय सुत्त है। इसमें अम्बष्ठ नामक श्रेष्ठताभिमानी ब्राह्मण को उपदेश देते हुए बुद्ध ने तत्कालीन वर्णव्यवस्था का, जो जातिवाद का रूप ले रही थी, प्रबल रूप से खण्डन किया है। इस तरह यह बुद्ध की समाज–नीति का परिचायक सुत्त है।

(३) **सोणदण्डसुत्त**– यह सुत्तपिटक के दीघनिकाय के सीलक्खन्धवग्ग का चौथा सुत्त है। इसमें सोणदण्ड नामक ब्राह्मण का बुद्ध से सम्वाद है। इसमें भी उपर्युक्त सुत्त की भाँति वर्णव्यवस्था एवं जातिवाद का खण्डन किया गया है।

(४) **महालिसुत्त**– यह दीघनिकाय के सीलक्खन्धवग्ग का छठा सुत्त है। इसमें बौद्ध धर्म में अष्टाङ्गिक मार्ग का अभ्यास तथा सदाचार सम्बन्धी बातें बतायी गयी हैं। साथ ही ध्यान–साधना सम्बन्धी संकेत भी विद्यमान हैं। अतः यह धर्म एवं आचार सम्बन्धी ग्रन्थ है।

(५) **कस्सपसीहनादसुत्त**– यह दीघनिकाय के सीलक्खन्धवग्ग का आठवाँ सुत्त है, जिसमें काश्यप नामक साधु के साथ बुद्ध के संवाद के रूप में धर्म और आचार सम्बन्धी सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है। इसमें भगवान् बुद्ध ने श्रमण के लक्षणों का विश्लेषण किया है तथा अतिवाद पर आश्रित घोर तपस्याओं को त्यागकर मध्यम मार्ग अपनाने का उपदेश दिया है।

(६) **छह अन्य सुत्त**– उपर्युक्त सुत्तों के अतिरिक्त सीलक्खन्धवग्ग के शेष अन्य सुत्त– पोट्ठपादसुत्त, सुभसुत्त, केवट्टसुत्त, लोहितसुत्त एवं तेविज्जसुत्त भी धर्म, नीति, आचार से ही सम्बद्ध हैं; जिनमें गौतम बुद्ध द्वारा विभिन्न अवसरों पर संवाद या उपदेश के रूप में अर्हत्त्व, धर्म, शील, साक्षात्कार, ब्रह्मचर्य, निर्वाण आदि से सम्बद्ध विविध प्रश्नों का उत्तर दिया गया है तथा अन्य साधु–सम्प्रदायों के धर्म एवं आचार सम्बन्धी सिद्धान्तों का खण्डन किया है।

(७) **महासतिपट्ठान एवं पायासिराजञ्ञसुत्त**– ये दोनों सुत्त भी दीघनिकाय के अन्तर्गत महावग्ग के नवम एवं दशम सुत्त हैं। इनमें से प्रथम में जीवन को विशुद्ध एवं शोकमुक्त बनाने एवं निर्वाण की प्राप्ति के लिये चार स्मृतिप्रस्थानों का उपदेश दिया गया है। ये चार प्रस्थान हैं– वेदनानुपश्यना, चित्तानुपश्यना, कायानुपश्यना एवं धर्मानुपश्यना।

द्वितीय सुत्त में बुद्ध के शिष्य कुमारकाश्यप का भौतिकतावादी चिन्तक पायासिराजञ्ञ के साथ धर्मसम्बन्धी संवाद का वर्णन किया गया है। इस संवाद में बौद्ध धर्म का महत्व प्रतिपादित किया गया है।

(८) **पाथिकवग्ग**— यह सुत्तपिटक के दीघनिकाय का तृतीय वर्ग है, जिसमें ११ सुत्त हैं, जिनके नाम १. पाथिकसुत्त, २. उदुम्बरिकसिंहनादसुत्त, ३. चक्कवत्तिसिंहनादसुत्त, ४. अग्गञ्ञसुत्त, ५. सम्पसादनियसुत्त, ६. पासादिकसुत्त, ७. लक्खणसुत्त, ८. सिंगालोवाद-सुत्त, ९. आटानाटियसुत्त, १०. सङ्गीतिपरियायसुत्त एवं ११. दसुत्तरसुत्त है। इसमें से आटानाटियसुत्त दर्शन से सम्बद्ध है, शेष सभी दस सुत्त धर्म आचार और नीति से सम्बद्ध हैं। इनमें प्रथम सुत्त तपस्या का विवेचन करके बुद्धधर्म की साधना का महत्व प्रतिपादित करता है। तृतीय में स्वालम्बन व्रतपालन एवं चार अनुपश्यनाओं के अभ्यास का उपदेश करके भिक्षुओं के कर्त्तव्यों का निर्देश किया गया है। चतुर्थ सुत्त में वर्णव्यवस्था का खण्डन करके कर्म की प्रधानता बतायी गयी है। पञ्चम सुत्त में बुद्ध के शिष्य सारिपुत्त द्वारा बुद्ध के गुणों का वर्णन किया गया है। षष्ठ सुत्त में बौद्ध धर्म के अनुशासन और साधना का उपदेश किया गया है। सप्तम सुत्त में महापुरुष के ३२ लक्षणों का निरूपण किया गया है। अष्टम सुत्त में गृहस्थ धर्म और व्यावहारिक जीवन के सम्बद्ध नीतियों एवं आचारों का उपदेश किया गया है। दशम सुत्त में सारिपुत्र ने बुद्ध द्वारा उपदिष्ट धर्मों का आशय समझाया है। एकादश सुत्त में सारिपुत्र द्वारा ही बौद्ध धर्म के १०० धमों का विस्तार से विवेचन किया गया है। इस प्रकार यह वग्ग मुख्यतः धर्म, नीति, आचार से सम्बद्ध है।

(९) **मज्झिमनिकाय**— सुत्तपिटक का मज्झिमनिकाय बौद्धधर्म का शासन-ग्रन्थ है, जिनमें कुल १५ वग्ग हैं— मूलपरियाय, सिंहनाद, ओपम्य, महायमक, चूलयमक, गहपति, भिक्खु, परिव्राजक, राज, ब्राह्मण, देवदह, अनुपद, सुञ्ञाता, विभङ्ग और सळायतन। इनमें से कुछ सुत्त गौतम बुद्ध की आत्मकथा, दूसरों द्वारा कथित उनकी जीवनी तथा अन्य समकालीन व्यक्तियों के इतिहास से सम्बद्ध हैं तथा कुछ सुत्तों में दार्शनिक विषयों का विवेचन एवं पुराकथाओं का वर्णन है। शेष सुत्तों में बौद्ध धर्मों, आचारों तथा गौतम बुद्ध की सामाजिक मान्यताओं का विशुद्ध एवं सोदाहरण विवेचन किया गया है। इस तरह यह बौद्ध धर्म के आचारों की संहिता है जिसमें अष्टाङ्गिक मार्ग द्वारा निर्वाणप्राप्ति के विभिन्न साधनों, गृहस्थों तथा भिक्षुओं के लिये निर्धारित नियमों, वर्ण-व्यवस्था और जाति-प्रथा के विरुद्ध तर्क, अन्य मतावलम्बियों के धार्मिक सिद्धान्तों का खण्डन, चित्त की शुद्धि के लिये अनुपश्यना के चार प्रस्थानों आदि का विस्तृत विवेचन दिखायी पड़ता है। तत्कालीन भारतीय समाज के ऐतिहासिक अध्ययन के लिये यह निकाय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

(१०) **संयुत्तनिकाय**— सुत्तपिटक का संयुत्तनिकाय मुख्यतः धर्म, नीति एवं आचार से सम्बद्ध मध्यम आकार वाले सात हजार सात सौ बासठ सुत्तों का सङ्कलन है। जो ५६ संयुत्तों और ५ वर्गों में विभक्त है। इन पाँच वर्गों के नाम हैं— १. सगाथवग्ग, २. निदानवग्ग, ३. खन्धवग्ग, ४. सळायतनवग्ग और ५. महावग्ग। इसमें से खन्धवग्ग तथा निदानवग्ग में कुछ दार्शनिक सुत्त सम्मिलित हैं तथा सगाथवग्ग और निदानवग्ग में बुद्ध तथा अन्य व्यक्तियों के जीवन से सम्बद्ध ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन किया गया है। सगाथवग्ग का अधिकतम भाग गाथा-छन्दों में लिखा गया है और इसका एक संयुक्त तो पूर्णतः काव्यात्मक है। कुछ सुत्तों में पुरा-कथा एवं मिथकीय आख्यानों का वर्णन किया गया है। इस निकाय के शेष सभी सुत्त बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों से सम्बद्ध हैं। इनमें दीघनिकाय एवं मज्झिमनिकाय की भाँति स्थान-स्थान पर गौतम बुद्ध, सारिपुत्र तथा भिक्खु महाकाश्यप द्वारा उपदेश के रूप में बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों, जैसे— चित्तशुद्धि, आत्मसंयम, ब्रह्मचर्य-पालन, वासना-निरोध, इन्द्रिय-निरोध, सन्तोषवृत्ति, सम्यक् विपश्यना,

स्त्रियों के कर्त्तव्य, अतिभोग एवं अतितप का विरोध, अष्टाङ्गिक मार्ग एवं ध्यान का उपदेश दिया गया है।

(११) अङ्गुत्तरनिकाय– यह सुत्तपिटक का चतुर्थ निकाय है। इसमें कुल ११ निपात–खण्ड हैं, जिनकी, सङ्ख्याक्रम के अनुसार, प्रथम से लेकर एकादश निपात तक की संज्ञा दी गयी हैं। ये सभी निपात वर्गों में विभक्त हैं, जिनकी कुल सङ्ख्या १६९ है। प्रत्येक निपात में अनेक सुत्त हैं। इस तरह अङ्गुत्तरनिकाय में कुल २३०८ सुत्त हैं। ये सुत्त आकार में छोटे हैं और इन्हें अधिकतर संवाद या उपदेश के रूप में लिखा गया है। शैली की दृष्टि से यह निकाय अपनी वैयक्तिक विशिष्टता रखता है, क्योंकि इसमें से प्रत्येक में एक से लेकर एकादश तक प्रश्न और उत्तर सम्मिलित हैं। इस प्रकार प्रश्न–उत्तरों की सङ्ख्या क्रमशः एक–एक बढ़ती हुई ग्यारह तक पहुँच जाती है। इस तरह इसकी शैली में आवृत्त एवं सङ्ख्यात्मक विवरण के कारण नवीनता आ गयी है। इसके अनेक निपात, शैली की नवीनता के कारण, इतने चमत्कारपूर्ण हैं कि चमत्कारवादी साहित्याचार्यों के अनुसार ऐसे अंशों को साहित्य के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

अङ्गुत्तरनिकाय का सम्पूर्ण अंश धर्म एवं नीति से सम्बद्ध है। गौतम बुद्ध ने अपने धर्म को सामाजिक न्याय और अनेक मनोवैज्ञानिक सन्तुलनों के दृढ़ आधार पर प्रतिष्ठित किया था। इस धर्म की प्रतिष्ठा जिन उद्देश्यों को लेकर की गयी थी उनकी पूर्त्ति के लिये समाज में मौलिक क्रान्ति उत्पन्न करना आवश्यक था। बुद्ध ने सबके लिये निर्वाण–प्राप्ति के अष्टाङ्गिक मार्ग का उपदेश दिया; किन्तु भिक्षुओं को एक उच्चस्तरीय ज्ञान की दीक्षा देकर एक बल (धर्मसेना=सङ्घ) तैयार किया जो उपदेशों को सर्वत्र फैलावें। अङ्गुत्तरनिकाय में भिक्षुओं तथा जिज्ञासुओं को धर्मसम्बन्धी उन्हीं नियमों और आचारों की आकर्षक शैली में व्याख्यान किया गया है। इसमें गृहस्थों तथा श्रमणों के लिये पृथक् पृथक् आचारों का प्रतिपादन किया गया है।

एकक निपात में 'धर्म क्या है?' इस प्रश्न का अनके प्रकार से उत्तर दिया गया है। **दुक निपात** में दो त्याज्य वस्तु, दो ज्ञानी पुरुषों, दो प्रकार के बल, दो प्रकार की परिषदों, दो प्रकार की इच्छाओं का विवेचन किया गया है। ये सभी बातें आचार एवं नीति से सम्बद्ध हैं। **तिक निपात** में कायिक, वाचिक एवं मानसिक इन तीन प्रकार के दुष्कृत्यों और सुख, दुःख, न दुःख न सुख–इन तीन प्रकार की वेदनाओं की व्याख्या की गयी है। इस तरह यह मानसिक रोगों से मुक्ति के लिये साधनात्मक उपदेशों से सम्बद्ध है। **चतुक्क निपात** में चार आर्य सत्यों, चार प्रकार के ज्ञान, चार श्रमण फल, चार प्रकार की समाधियों, योग के चार रूपों, चार प्रकार के आहारों आदि का विशद विवेचन किया गया है। इस प्रकार इस निपात में जीवन को शान्तिमय बनाने के लिये विभिन्न सामाजिक और साधनात्मक आचारों का निरूपण किया गया है। **पञ्चक निपात** में पाँच अङ्गों वाली समाधि, पञ्च स्कन्धों, पाँच इन्द्रियों, पाँच धातुओं या तत्त्वों का, धर्म के पाँच तत्त्वों तथा पाँच संख्या वाले अन्य विषयों का विवेचन किया गया है। यह निपात साधना तथा तत्त्व ज्ञान से सम्बद्ध है। इसी तरह **छक्क निपात** में छह संख्या वाले आध्यात्मिक और साधनात्मक विषयों का निर्वचन हुआ है। **सत्तक निपात** में सम्बोधि के सात अङ्गों, सत् धर्म के सात स्वरूपों, सत् पुरुष के सात लक्षणों तथा सात संख्या वाले अन्य धर्म विषयों का निर्वचन हुआ है। **अट्ठक निपात** में बुद्ध द्वारा प्रदर्शित अष्टाङ्गिक धर्म मार्ग, आठ प्रारब्ध वस्तु, आठ विमोक्ष तथा आठ संख्या वाले अन्य धर्म विषयों का वर्णन किया गया है। **नवम निपात** में तृष्णा के नौ

भेदों, सत्त्वावास के नौ स्वरूपों तथा नौ संख्या वाले अन्य विषयों का विवेचनात्मक उपदेश किया गया है। **दसक निपात** में यह बताया गया है कि तथागत के दस बल और श्रेष्ठ पुरुषों के दस बल क्या हैं? **एकादसक निपात** में निर्वाणप्राप्ति के ११ उपायों की व्याख्या की गयी है।

यद्यपि अङ्गुत्तरनिकाय में धर्म, आचार नीति सम्बन्धी शुष्क विषयों का आद्यन्त निर्वचन किया गया है, किन्तु इसके प्रवचन की शैली अत्यन्त आकर्षक है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी इस निकाय का बहुत अधिक महत्व है; क्योंकि इसमें बुद्ध के समकालीन नगरों, राज्यों और व्यक्तियों का भी पर्याप्त उल्लेख हुआ है। उदाहरणार्थ इस निकाय से यह ज्ञान होता है कि बुद्ध के शिष्यों में कौन किस दृष्टि से प्रमुख था? और उसकी क्या विशेषताएँ थी? ऐसे ७५ भिक्षुओं के नाम गिनाये गये हैं। जिससे ज्ञात होता है कि बुद्ध के शिष्यों में भिक्षु एवं गृहस्थ, पुरुष एवं स्त्री, राजा और सामान्य नागरिक सभी सम्मिलित थे। इस निकाय से यह भी ज्ञात होता है कि बौद्ध धर्म के इतने व्यापक प्रचार का मूल कारण यह था कि गौतम बुद्ध स्वयं कुशल वक्ता थे, उन्होंने अपने शिष्यों को भी इस रूप में दीक्षित किया था, उनकी वक्तृताएँ इतनी तर्कपूर्ण और व्यावहारिक जीवन से सम्बद्ध होती थीं कि वे जिस क्षेत्र में जाते थे वहाँ के लोग उनके धर्म को स्वीकार कर लेते थे। इस निकाय में उल्लिखित बुद्ध की चारिकाओं के विवरण से यह बात प्रमाणित हो जाती है।

(१२) खुद्दकपाठ– यह सुत्तपिटक के खुद्दकनिकाय का अङ्गभूत एवं लघुसङ्कलन ग्रन्थ है। जिसमें सुत्तपिटक एवं विनयपिटक के सुत्तों का सङ्कलन नैत्यिक पाठ के लिये किया गया है। बौद्ध मठों, मन्दिरों एवं उपासक गृहस्थों के घरों में आज भी इसका पाठ होता है। इन सुत्तों में बौद्ध धर्म एवं सङ्घ की शरणागति तथा धर्माचरणसम्बन्धी विविध बातों का उपदेश दिया गया है। इसमें निम्नलिखित पाठ हैं– (१) सरणत्तय, (२) दस सिक्खापद, (३) छत्तिसाकार, (४) कुमारपञ्ह, (५) मङ्गलसुत्त, (६) रतनसुत्त, (७) तिरोकुड्डसुत्त, (८) निधिकण्डसुत्त एवं (९) मेत्तसुत्त।

(१३) धम्मपद– यह खुद्दकनिकाय का दूसरा ग्रन्थ है। इसमें धर्म, नीति, आचार–सम्बन्धी उपदेश हैं इसमें कुछ २६ वग्ग हैं। इस ग्रन्थ का उपयोग बौद्ध देशों में भिक्षु एवं गृहस्थ नित्य पाठ के लिये करते हैं। इस ग्रन्थ में गाथाएँ अनुष्टुप् छन्द में लिखी गयी हैं और इनको बुद्ध–वचन के रूप में माना जाता है। इस ग्रन्थ को 'बौद्ध धर्म की आचार–संहिता' कहना चाहिये। इसके विभिन्न वर्गों में आत्मसंयम, अप्रमाद, मैत्री भाव, मूर्ख एवं पण्डित–लक्षण, सदाचार, दुःख–मुक्ति, निर्भयता, अक्रोध, निलोभता, वाक्संयम, अहिंसा, राग, द्वेष, अनासक्ति आदि का विशद एवं सरल वर्णन किया गया है। इस तरह 'धम्मपद' बौद्ध धर्म का उतना ही लोकप्रिय ग्रन्थ है, जितना भारत में ब्राह्मणधर्मावलम्बियों में श्रीमद्भगवद्गीता। इसके कुछ अंश अत्यन्त काव्यमय हैं। किन्तु धर्म एवं आचार की अधिकता के कारण इसे काव्यग्रन्थ नहीं माना जा सकता।

(१४) इतिवुत्तक– यह खुद्दकनिकाय का चौथा ग्रन्थ है, इसमें बुद्ध के मुख से निकली हुई बातों को सुनने वालों द्वारा कहा गया है और इसे प्रत्येक सुत्त में स्पष्ट कह दिया गया है कि ''भगवान् ने ऐसा कहा और मैंने ऐसा सुना''। इसलिये इस ग्रन्थ को 'इतिवुत्तक' (इतिउक्तम्) कहा गया है। इन वचनों में, धर्म, आचार, नीति सम्बन्धी बातें कहीं गयी हैं। ये गद्य एवं पद्य–दोनों में उल्लिखित हैं।

(१५) विनयपिटक– यह त्रिपिटक का एक मुख्य पिटक है। इसको तीन भागों

में— विभङ्ग, खन्धक एवं परिवार में—विभक्त किया गया है। खन्धक के अतिरिक्त पूरे विनयपिटक में धर्म, आचार एवं नीति को ही उपदेश दिया गया है। वैसे तो खन्धक के महावग्ग एवं चुल्लवग्ग में भी ये बातें हैं; परन्तु इसमें ऐतिहासिक तथ्यों, जैसे—बुद्ध के जीवन से सम्बद्ध घटनाओं का बाहुल्य है। इस प्रकार पूरे विनयपिटक को हम बौद्ध सङ्घ की आचारसंहिता ही कह सकते हैं। इसके अन्तर्गत भिक्षुओं एवं भिक्षुणियों को किस प्रकार सङ्घ में रहना चाहिये या अष्टाङ्गिक मार्ग आदि का ही विशेष रूप से उल्लेख है। इसमें भिक्षुओं एवं भिक्षुणियों को २२७ शिक्षापदों या विनय—सम्बन्धी नियमों का ज्ञान कराया गया है। इन २२७ शिक्षापदों में ४ पाराजिक, १३ सङ्घादिसेस, २ अनियता, ३० निस्सग्गिय, ९२ पाचित्तिय, ४ पटिदेसनिय, ७५ सेखिय, ७ अधिकरणसमथ हैं। इन नियमों का विश्लेषण सुत्त—विभङ्ग में किया गया है। विनयपिटक के तीसरे खण्ड 'परिवार' में १९ परिच्छेद हैं, जिसमें पूर्व के खण्डों के विषयों की प्रश्नोत्तर के रूप में पुनरावृत्ति की गयी है। विनयपिटक के नियमों को समझने के लिये इस खण्ड का उपयोग है। इसे विनयपिटक की विषयानुक्रमणिका भी कह सकते हैं। यह वेदों की अनुक्रमणिका की पद्धति पर बाद में जोड़ा गया अंश है।

प्राचीन भारतीय समाज के विषय में अध्ययन के लिये विनयपिटक का बहुत अधिक महत्त्व है। उसमें तत्कालीन धार्मिक स्थिति का चित्रण तो हुआ ही है साथ ही सामाजिक एवं राजनीतिक गतिविधियों का चित्रण भी दृष्टिगत होता है। विनयपिटक में यह भी ज्ञात होता है कि गौतमबुद्ध ने बौद्ध सङ्घ को समाजवादी आकार (ढाँचें) में ढालने का प्रयास किया था; क्योंकि सङ्घ में किसी भिक्षु को कोई व्यक्तिगत सम्पत्ति या सामग्री रखने का अधिकार नहीं था। इसके 'खन्धक' भाग में ऐतिहासिक सामग्री बहुत है, इसके सम्बन्ध में पृथक् से विचार किया जायगा।

(१६) बुद्धघोषकृत विसुद्धिमग्ग एवं अन्य अट्ठकथाएँ— पालि—साहित्य में बुद्धघोष द्वारा लिखित रचनाओं का भी बहुत अधिक महत्व है। उन्होंने प्रायः १८ ग्रन्थों की रचना की। जिनमें से 'विसुद्धिमग्ग' संयुक्तनिकाय की दो गाथाओं की व्याख्या के रूप में लिखित एवं मौलिक ग्रन्थ है तथा शेष रचनाएँ त्रिपिटक के विभिन्न भागों की अट्ठकथाओं (भाष्य) के रूप में है। इन अट्ठकथाओं में धम्मपद—अट्ठकथा, अट्ठसालिनी (धम्मसङ्गणि की अट्ठकथा) परमत्थजोतिका (खुद्दकपाठ एवं सुत्तनिपात अट्ठकथा) मनोरथप्रपूरणी (अङ्गुत्तरनिकाय की अट्ठकथा), सुमङ्गलविलासिनी (दीघनिकाय की अट्ठकथा) और समन्तपासादिका (विनयपिटक की अट्ठकथा) सर्वप्रमुख है। इनमें विसुद्धिमग्ग तो बौद्धसम्मत योग का विश्वकोश ही है। त्रिपिटकों में जो कुछ विकीर्ण रूप में वर्तमान है, उन सबको विसुद्धमग्ग में क्रमबद्ध रूप में समझाया गया है। दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, अङ्गुत्तरनिकाय की बातों का सार ग्रहण करते हुए भी विसुद्धमग्ग की रचना की गयी है। इस प्रकार बौद्ध धर्म की साधना, भूमियों एवं अष्टाङ्गिक मार्ग से सम्बद्ध आचारों आदि का इसमें सम्यक् विवेचन किया गया है। बुद्धघोष के अन्य ग्रन्थों में त्रिपिटक के विभिन्न अंशों का भाष्य (अट्ठकथा) लिखा गया है। उनमें कोई नवीनता न होने के कारण यहाँ उनके सम्बन्ध में विशेष विचार करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

२. दर्शन

'दर्शन' का सामान्य अर्थ वह ज्ञान है जो चक्षु-द्वारा देखने से उपलब्ध होता है। किन्तु चक्षुर्ज्ञान अथवा अन्य इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान केवल बाह्य ज्ञान होता है। जीवन और

जगत् की रहस्यमय स्थितियों तथा सत्य के वास्तविक ज्ञान को सही अर्थ में 'दर्शन' कहा जा सकता है और इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग होता है। इसलिये इसे 'तत्त्व दर्शन' या 'तत्व ज्ञान' भी कहा जाता है। यह ज्ञान इन्द्रियगम्य नहीं, अपितु बुद्धिगम्य अथवा अनुभूतिगम्य होता है। अत्यन्त प्रज्ञावान् एवं प्रातिभ व्यक्ति ही जीवन और जगत् की गहराई में प्रवेश करके सत्य के वास्तविक रूप को देखते तथा अपने अनुभूति–ज्ञान को तर्कपूर्ण शैली में प्रस्तुत करते हैं। तत्त्व–दर्शन के लिये विज्ञान की पद्धतियां कार्यकर नहीं हो सकतीं; क्योंकि विज्ञान केवल भौतिक वस्तुओं के अन्तर्निहित सत्यों का अन्वेषण करता है। इसके विपरीत दर्शन जीव और जगत् की उत्पत्ति, नाश एवं उसके विविध पक्षों के सम्बन्ध में विचार करता है। दर्शन का प्रारम्भ सम्भवतः उसी समय हुआ जब मनुष्य इस जगत् में एक बुद्धिशील प्राणी के रूप में जीवनयापन करने लगा। तब से अब तक जीवन और सृष्टि के मूल रहस्यों और सत्यों को समझने के लिये विभिन्न कालों के दार्शनिक अपनी अपनी दृष्टि से निरन्तर तत्त्वचिन्तन करते आये हैं। बौद्धधर्म भी एक विशेष दार्शनिक चिन्तन का परिणाम है। गौतम बुद्ध ने कठिन तपस्या के बाद जिस सत्य की उपलब्धि की थी उसी के आधार पर बौद्ध दर्शन का विकास हुआ। आगे चलकर यह दर्शन चार सिद्धान्तों के रूप में विकसित हुआ, जो ये हैं— सौत्रान्तिकवाद, वैभाषिकवाद, योगाचारवाद (विज्ञानवाद) एवं शून्यवाद।

त्रिपिटक से प्रारम्भ कर आठवीं सदी तक इन दर्शनों का विविध ग्रन्थों में विवेचन हुआ है। यहाँ उन्हीं ग्रन्थों का समीक्षण होगा।

(क) पालि ग्रन्थ

(१) **ब्रह्मजालसुत्त**— यह सुत्तपिटक के दीघनिकाय के सीलक्खन्धवग्ग का प्रथम सुत्त है। इसमें बुद्ध के दार्शनिक विचारों को सङ्कलित किया गया है। बुद्ध ने इस सुत्त में ६२ मिथ्यादृष्टियों का निराकरण कर अपना अनात्मवादी दर्शन प्रतिपादित किया है। सामाजिक जीवन की भ्रान्तियों तथा धार्मिक कर्मकाण्डों का भी इसमें विरोध किया गया है तथा मध्यमा प्रतिपदा पर आधृत जीवन–दर्शन की स्थापना की गयी है। इसमें तत्कालीन समाज का भी चित्रण पर्याप्त मिलता है।

(२) **जालियसुत्त**— यह भी दीघनिकाय के सीलक्खन्धवग्ग के अन्तर्गत दर्शन–सम्बन्धी सुत्त है। जिसमें जीव, शरीर, शील, समाधि एवं प्रज्ञा का विवेचन किया गया है। यह जालिय नामक परिव्राजक और भगवान् बुद्ध के सम्वाद के रूप में लिखित है।

(३) **महानिदान सुत्त**— यह दीघनिकाय के महावग्ग का द्वितीय सुत्त है। इसमें बौद्धदर्शन के प्रतीत्यसमुत्पादवाद के सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन किया गया है। दार्शनिक दृष्टि से यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सुत्त है।

(४) **मज्झिमनिकाय के दार्शनिक सुत्त**— सुत्तपिटक के मज्झिमनिकाय का १५वां वग्ग सळायतनवग्ग मुख्यतया दर्शन प्रधान है, किन्तु इसके अनेक वग्गों में भी कुछ दार्शनिक सुत्त हैं; जैसे— सिंहनादवग्ग का महाहत्थिपदोपमसुत्त, महायमकवग्ग का चूळसच्चक सुत्त, भिक्खुवग्ग का चूळमालुङ्क्यसुत्त, देवदहवग्ग का पञ्चत्तयसुत्त और महापुण्णिमसुत्त। सळायतनवग्ग के नन्दकोवादसुत्त, चूळराहुलोवादसुत्त, छछक्कसुत्त और महासळायतनिकसुत्त में दार्शनिक विषयों की ही विवेचना की गयी है।

उपर्युक्त सुत्तों में प्रतीत्यसमुत्पादवाद, चार आर्यसत्य, पञ्चस्कन्ध, और अनात्मवाद, लोक की अशाश्वतता आदि का, तृष्णा और दुख का विस्तृत निरूपण तथा आत्मवाद का

खण्डन किया गया है। एवं ६ धातुओं (पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश और चित्त) का सम्यक् विश्लेषण किया गया है। इन्हीं विवेचनों के आधार पर परवर्ती युगों में बौद्ध दर्शन की विविध शाखाओं का विकास हुआ।

(५) संयुत्तनिकाय के दार्शनिक सुत्त— संयुत्तनिकाय के दार्शनिक सुत्तों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। इसके निदानवग्ग के धातुसंयुत्त और निदानसंयुत्त में क्रमशः प्रतीत्यसमुत्पादवाद एवं विज्ञानवाद का सम्यक् विवेचन किया गया है। इसी प्रकार खन्धवग्ग के खन्धसंयुत्त, दिट्ठिसंयुत्त, ओक्कन्तिकसंयुत्त, नागसंयुत्त, सुपण्णसंयुत्त और वच्छगोत्तसंयुत्त में भी रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान के सम्बन्ध में चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, शरीर और मन के सम्बन्ध में, उत्पत्ति के विषय में, मिथ्या धारणाओं के सम्बन्ध में बहुत ही स्पष्ट रीति से विवेचन किया गया है।

(६) पटिसम्भिदामग्ग— यह खुद्दकनिकाय का १२वाँ ग्रन्थ है, जो तीन भागों में विभक्त है। प्रत्येक भाग में १० परिच्छेद हैं। इसमें भगवान् बुद्ध की प्रतिसंविद दार्शनिक विचारधारा का विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ पर अभिधम्मपिटक का अधिक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। अतः इसके सम्बन्ध में अभिधम्मपिटक की विवेचना करते समय विचार किया जायगा।

(७) अभिधम्मपिटक— यह त्रिपिटक का तृतीय मुख्य भाग है जिसमें बौद्ध धर्म के दार्शनिक आधार का व्याख्यान किया गया है। यदि धर्म बाह्य आचार कर्त्तव्य और चर्चा से सम्बद्ध है तो अभिधम्म द्वारा मन की आन्तरिक वृत्तियों, उनके प्रभावों और जगत् तथा जीव की विविध स्थितियों और विभागों का दार्शनिक विश्लेषण किया गया है। सत्य की उपलब्धि के लिये अभिधम्मपिटक में तर्क की गम्भीर विवेचनापद्धति का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार यह तत्त्व–दर्शन मनोविज्ञान और तर्कशास्त्र का महाग्रन्थ है। इसमें कुल ७ ग्रन्थ सम्मिलित हैं। (क) धम्मसङ्गणि, (ख) विभङ्ग, (ग) धातुकथा, (घ) पुग्गलपञ्ञत्ति, (ङ) कथावत्थु, (च) यमक (छ) पट्ठान। जिनका विवरण निम्नलिखित है—

(क) धम्मसङ्गणि— यह अभिधम्मपिटक का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके चार परिच्छेद (काण्ड) हैं— (१) चित्त, (२) विभत्ति, (३) रूपविभत्ति, (४) अत्थुद्धार। इस ग्रन्थ में कर्म के शुभ, अशुभ और दोनों से व्यतिरिक्त और अव्याख्येय विपाकों के रूप में व्याख्या की गयी है। इसके मुख्य भाग में चित्त और संयुक्त अवस्थाओं (चेतसिक) का कुशल, अकुशल और अव्याकृत के रूप में व्याख्या की गयी है। इसमें नीतिवाद का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है। यह गणनात्मक शैली में है।

(ख) विभङ्ग— यह अभिधम्मपिटक का दूसरा ग्रन्थ है इसमें धर्मसङ्गणि की बातों को ही विस्तृत रूप में व्याख्या की गयी है। धर्म अर्थात् कर्त्तव्यों को समझाने के लिये इसमें प्रश्नोत्तर की शैली अपनायी गयी है और स्कन्ध, आयतन, धातु, इन्द्रिय, प्रतीत्यसमुत्पाद आदि के सन्दर्भ में धर्मों का स्वरूप समझाया गया है। इसी प्रसङ्ग में स्कन्ध, आयतन एवं धातु का वर्गीकरण तथा धर्मों का विश्लेषण भी किया गया है। यह ग्रन्थ १८ विभागों में विभक्त है जिनके विषय स्कन्ध आयतन, धातु सत्य इन्द्रिय, ध्यान, ज्ञान आदि हैं।

(ग) धातुकथा— इसमें पाँच स्कन्ध, १८ आयतन, ४ सत्य, ५ इन्द्रियाँ, ४ स्मृतिप्रस्थान, ४ सम्यक्प्रधान, ५ बल, ७ बोध्यङ्ग, ८ आर्यमार्ग आदि का १४ अध्यायों में प्रश्नोत्तर–शैली में विवेचन किया गया है।

(घ) **पुग्गलपञ्ञति (पुद्गलप्रज्ञप्ति)**— इसमें पुद्गलों अर्थात् व्यक्तियों के विविध प्रकारों का विवेचन किया गया है। यह विश्लेषण व्यक्ति के स्वरूप, गुण, कर्म और स्वभाग के आधार पर किया गया है। यह ग्रन्थ दस अध्यायों में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय में एक-एक प्रकार के व्यक्ति का लक्षण बताया गया है। इस तरह यह ग्रन्थ मनोवैज्ञानिक और चारित्रिक अध्ययन की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

(ङ) **कथावत्थु**— यह स्थविरवाद का पोषक दार्शनिक ग्रन्थ है, जिसमें अशोक के काल में प्रचलित १८ बौद्ध दार्शनिक मतों में से १७ मतवादों का खण्डन करके केवल थेरवाद के दार्शनिक सिद्धान्तों का ही समर्थन किया गया है। पाटलिपुत्र की सङ्गीति के सभापति महास्थविर मोग्गलिपुत्र तिष्य ने इस ग्रन्थ की रचना की थी। यह दार्शनिक सिद्धान्तों के खण्डन-मण्डन का ग्रन्थ है। इसमें २३ अध्यायों, २१६ शङ्काओं का समाधान प्रस्तुत किया गया है। इसमें आत्मा, ब्रह्म, देवता, चित्त, काल, ज्ञान, दुःख, विज्ञान, विमुक्ति, आर्यसत्य, धातु, रूप, पुनर्जन्म, शील, योग, समाधि, सम्यग्दृष्टि तथा मानसिक दृष्टियों का विस्तृत विवेचन किया गया है।

(च) **यमक**— यह अभिधम्मपिटक का छठा ग्रन्थ है। इसमें प्रश्नों को दो-दो करके युग्म रूप में रखा गया है। इसलिये इसका नाम 'यमक' है। इसके दस अध्याय हैं; जिनमें ३ मूल धर्म, ५ स्कन्ध, १८ आयतन, १८ धातु, ४ सत्य, ३ संस्कार, ७ अनुशय, २२ इन्द्रिय तथा चित्त और धर्म सम्बन्धी प्रश्न और उनके उत्तर हैं। यह बौद्ध धर्म के दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रश्नोत्तर शैली में निरूपण है। इसे अभिधम्म का पारिभाषिक कोश भी कहा जा सकता है।

(छ) **पट्ठान**— यह अभिधम्मपिटक का सातवाँ ग्रन्थ है। इसमें बौद्ध दर्शन की गम्भीर विवेचना की गयी है। इस तरह इस ग्रन्थ में गौतम बुद्ध के प्रतीत्यसमुत्पा-दवाद की वृहद् व्याख्या की गयी है। यह महाग्रन्थ चार बड़े भागों में विभक्त है— १. अनुलोम पट्ठान, २. पच्चनिय पट्ठान, ३. अनुलोम पच्चनिय पट्ठान, ४. पच्चनिय अनुलोम पट्ठान। जिनमें २४ प्रत्ययों का पृथक् पृथक् विभागों में वर्णन किया गया है। सूक्ष्म दार्शनिक विवेचना एवं आकार की विशालता के कारण यह महाग्रन्थ सामान्य जन के लिये दुःसाध्य है।

(८) **नेत्तिप्पकरण**— यह बुद्ध-वचनों की व्याख्या है। यद्यपि बुद्ध वचन स्वयं सरल थे; किन्तु उन्हें सामान्य जनता के लिये क्रमबद्ध और सुनियोजित बनाने के लिये ईसवी सन् की प्रथम सदी में कच्चायन नामक भिक्खु ने इसकी रचना की थी। इसमें संग्रहवार एवं विभागवार दो खण्ड हैं। संग्रहवार में सम्पूर्ण ग्रन्थ की समष्टिगत विषयसूची दी गयी है और विभागवार में उपसूची के विषयों का वर्गीकरण किया गया है। इस तरह इसमें १६ हार, ५ नय और १८ मूल पदों का विवेचन किया गया है। इस तरह नेत्तिप्पकरण में अभिधम्मपिटक की निर्वचन प्रणाली अपनायी गयी है। जिस प्रकार उपनिषदों के वेदान्त दर्शन को परवर्ती अद्वैत वेदान्ती दार्शनिकों ने अत्यन्त सूक्ष्म एवं तलस्पर्श (गहराई) से विवेचित किया है उसी प्रकार नेत्तिप्पकरण में भवान् बुद्ध के दार्शनिक सिद्धान्तों को अपनाकर उनका तर्कपूर्ण ढंग से अत्यन्त सूक्ष्मतापूर्वक व्याख्यान किया गया है। सामाजिक अध्ययन के लिये इसमें विशेष सामग्री नहीं है।

(९) **पेटकोपदेस**— यह नेत्तिप्पकरण के समान ही उसी तरह की विषयवस्तु वाली एक दूसरी रचना है। इसमें नेत्तिप्पकरण के दुरूह स्थलों की व्याख्या सरल ढंग से

की गयी है। चार आर्यसत्यों की दृष्टि से इसमें विषय का विन्यास किया गया है। जो बुद्ध शासन के मूल उपादान हैं। इसके रचयिता महाकच्चायन ही माने जाते हैं।

(१०) **मिलिन्दपञ्ह**— यह बौद्ध दर्शन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। जो यवनशासक मिलिन्द (मिनेण्डर) और बौद्ध भिक्खु नागसेन के सम्वाद के रूप में लिखा गया है। शैली की दृष्टि से यह प्लेटो के सम्वादों के समान है। जिस प्रकार प्लेटो अपने सिम्पोजियम रिपब्लिक आयोम आदि सम्वादों में किसी न किसी व्यक्ति के प्रश्नों के उत्तर में स्वयं उस व्यक्ति से प्रश्न करके उसी के माध्यम से उत्तर प्रस्तुत करता है; उसी तरह मिलिन्दपञ्ह में भी मिलिन्द नागसेन से प्रश्न करता है कि आपका नाम क्या है? बस, यहीं से तत्त्वदर्शन का चिन्तन प्रारम्भ हो जाता है। नागसेन उसे समझाते हैं कि व्यक्ति का नाम उसके पञ्चस्कन्ध, इन्द्रियाँ आदि व्यक्ति नहीं है; अपितु धर्मों का निरन्तर प्रवाह ही व्यक्ति हैं। नामरूप व्यक्ति नहीं है; अपितु धर्मसन्तति का संस्मरण ही व्यक्ति का जीवन-प्रवाह है जो एक जन्म से दूसरे जन्म तक प्रवहमाण रहता है।

इस प्रकार मिलिन्दपञ्ह में एक प्रश्न से दूसरा प्रश्न निकलता जाता है। यों क्रमशः बौद्ध दर्शन के प्रत्येक सिद्धान्त की स्वयं विवेचना होती जाती है। यह ग्रन्थ सात अध्यायों में विभक्त है। बाहिरकथा, लक्खणपञ्ह, विमतिच्छेदनपञ्ह, मेण्डकपञ्ह, अनुमानपञ्ह, धुतङ्गकथा और ओपम्मकथापञ्ह। इन अध्यायों में अनात्मवाद, पुनर्जन्मवाद, निर्वाण आदि दार्शनिक विषयों का प्रश्नोत्तर रूप में विवेचन किया गया है।

मिलिन्दपञ्ह में प्लेटो के सम्वादों का जो शैलीगत साम्य दिखायी देता है उसका कारण यह है कि सिकन्दर के पूर्व ही भारतीय उपनिषदों एवं गौतम बुद्ध के उपदेशों की सम्वाद-शैली मध्य एशिया के यूनानी स्रोतों से होती हुई यूनान में पहुँच गयी थी। इसीलिये दार्शनिक सम्वादों की यह शैली दोनों देशों में समान रूप से प्रचलित दिखायी देती है।

मिलिन्दपञ्ह अन्य कतिपय दृष्टियों से भी महत्त्वपूर्ण है। इसमें ईसा से पहली शताब्दी के भारतीय समाज की छवि (झलक) दिखायी पड़ती है। नागसेन और मिलिन्द के शास्त्रार्थ के मध्य प्रसङ्ग-प्रसङ्ग पर पाटलिपुत्र, सागल (शाकल्य) आदि नगरों तथा तत्कालीन धार्मिक मतवादों पर भी इस ग्रन्थ से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

(ख) संस्कृत ग्रन्थ

(११) **महाप्रज्ञापारमिताशास्त्र, मध्यमककारिका और विग्रहव्यावर्तनी**—ये नागार्जुन द्वारा संस्कृत में लिखित दार्शनिक ग्रन्थ हैं। इनमें नागार्जुन ने महायान सम्प्रदाय के अन्तर्गत शून्यवादी दार्शनिक सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं। महाप्रज्ञापारमिता शास्त्र महायान सम्प्रदाय के नवीन अभिधर्म की भूमिका है। मध्यमककरिका तथा विग्रहव्यावर्तनी में नागार्जुन ने गम्भीर तर्क-पद्धति द्वारा पूर्ववर्ती अभिधर्म का खण्डन किया है और सर्वप्रथम दार्शनिक पद्धति से शून्यता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। भारतीय तर्कशास्त्र में इन दोनों ग्रन्थों का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

(१२) **अभिधर्मकोश**— यह संस्कृत भाषा में वसुबन्ध द्वारा लिखित दर्शन-ग्रन्थ है। ये वसुवन्धु चतुर्थ शताब्दी में हुए थे। अभिधर्मकोश में आठ कोशस्थान हैं। उसमें ६०० कारिकाएँ हैं जिन पर वसुबन्धु ने स्वयं ही भाष्य लिखा था। इस ग्रन्थ में आठ कोशस्थान इस प्रकार हैं— १. धातु, २. इन्द्रिय, ३. लोकधातु, ४. कर्म, ५. अनुशय, ६. आर्य पुद्गल, ७. ज्ञान एवं ८. ध्यान। इसमें पुद्गलवाद का खण्डन करने के लिये परिशिष्ट रूप में एक

अन्य कोशस्थान (पुद्गलविनिश्चय) की रचना की गयी है। यह ग्रन्थ अभिधम्मपिटक के सिद्धान्तों पर आधृत है। इसमें सौत्रान्तिक मत का समर्थन किया गया है।

(१३) प्रकरणपाद– यह कनिष्क के समकालीन सर्वास्तिवादी दार्शनिक वसुमित्र द्वारा संस्कृत भाषा में रचित ग्रन्थ है। इसके आठ भाग हैं; जिनमें–रूप, चित्त, संस्कार, ज्ञान, आयतन, धातु, स्कन्ध, अनुशय, विज्ञेय, अनुमेय आदि धर्मों का विवेचन किया है।

३. साहित्य

साहित्य वाङ्मय का वह स्वरूप है जिसमें हृद्गत भावानुभूतियों को कलात्मक और चित्ताकर्षक शैली में अभिव्यक्त किया जाता है। आचार्यों ने साहित्य की परिभाषा विविध प्रकार से की है। उन सब परिभाषाओं का मूल मन्तव्य यही है कि साहित्य वाङ्मय की सौन्दर्यानुभूति और कल्पनाश्रयी विद्या है जिसमें पहुँचकर कोई भी विषय रूक्षता एवं शुष्कता खोकर रसमय अथवा चमत्कारपूर्ण बन जाता है। प्राचीन भारतीय साहित्याचार्यों ने रसात्मक उक्ति को ही 'काव्य' या 'साहित्य' माना था।[1] इसके विपरीत पाश्चात्य देशों के आचार्यों ने सौन्दर्यानुभूति और कल्पनाधर्मिता को साहित्य का अनिवार्य तत्त्व माना है। साहित्य, चाहे वह किसी भी देश या युग का क्यों न हो, एक ही लक्ष्य की पूर्ति करता है। वह लक्ष्य है–आनन्द प्रदान करना। जिस भाषित संरचना से मानसिक तनाव दूर होता हैं और भौतिक सुख से भिन्न एक लोकोत्तर आनन्द या मनःशान्ति की उपलब्धि होती है उसी को 'साहित्य' कहा जाता है। इसके अन्तर्गत अनेक विधाएँ प्रचलित हैं, जैसे–काव्य, नाटक, वृहत्कथा, उपन्यास, लघु कथा–कहानी, ललित निबन्ध आदि। इन विधाओं के शास्त्र को 'साहित्य शास्त्र' कहा जाता है और उसे ही साहित्य में परिगणित किया जाता है।

बौद्ध साहित्य में वाङ्मय के विविध रूप दिखायी पड़ते हैं जिनका वर्गीकरण पहले किया जा चुका है। धर्म, नीति, दर्शन, इतिहास, पुराण आदि विषय शास्त्र के अन्तर्गत आते हैं; क्योंकि उनसे मनुष्य के बौद्धिक स्तर का विकास होता है और ज्ञानात्मक जिज्ञासाओं की तृप्ति होती है। किन्तु मनोविकारों के उदात्तीकरण और हृदय उत्फुल करने की क्षमता उनमें नहीं है। केवल साहित्य में ही वह शक्ति है जो मनुष्यमात्र को, चाहे वह अपढ़ हो चाहे सुशिक्षित, धनी हो या गरीब, उच्चवर्गीय हो या निम्नवर्गीय, आनन्द प्रदान करती है। इस प्रकार साहित्य का क्षेत्र वाङ्मय की अन्य विधाओं की अपेक्षा अधिक व्यापक है और उसका प्रभाव अधिक गहरा होता है। इसी कारण संसार के किसी भी देश में कोई भी समाज ऐसा नहीं होता जिनमें लिखित या अलिखित उच्चस्तरीय या सामान्यस्तरीय किसी न किसी प्रकार का साहित्य (काव्य, नाटक कथा) आदि न प्रचलित हों। बौद्ध वाङ्मय में साहित्य के कुछ रूप अवश्य दिखायी पड़ते हैं जिनमें काव्य और कथा–साहित्य प्रमुख हैं, यहाँ उन्हीं के सम्बन्ध में विचार किया जायगा।

(क) पालि साहित्य

(१) भिक्खुणीसंयुत्त–यह सुत्तपिटक के संयुत्तनिकाय के 'सगाथवग्ग' का पाँचवाँ संयुक्त है। इसमें गौतमी, उत्पलवर्णा, वज्रा आदि दस भिक्खुणिओं का सुन्दर काव्यात्मक आख्यान वर्णित है। ये भिक्खुणियाँ सङ्घ में दीक्षित होकर क्रमशः आत्मसङ्घर्ष करती हुई 'मार' पर विजय प्राप्त करती हैं। इस तरह यह शान्तरस का धार्मिक आख्यानक काव्य है।

---

१. विश्वनाथ कविराज, साहित्यदर्पण–

'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्

(३) सुत्तनिपात— यह खुद्दकनिकाय का पाँचवाँ ग्रन्थ है जिसमें पाँच वर्ग और ७२ सुत्त हैं। प्रत्येक सुत्त में कोई न कोई आख्यान गद्य या पद्य में वद्ध है। इन सुत्तों की विशेषता है कि ये वैदिक सुत्तों के समान काव्यात्मक है। इनमें धर्म एवं दर्शन की बातें भी हैं, किन्तु रसात्मकता और शिल्प—सौन्दर्य के कारण इन्हें धर्म या दर्शन के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। इसके कुछ सुत्तों में प्राचीन भारतीय गीतकाव्य का सुन्दरतम उदाहरण मिलता है। धनियसुत्त, कसिकभारद्वाज सुत्त आदि में काव्यात्मक प्रसङ्गों की अधिकता देखी जा सकती है। धनियसुत्त का एक गीत द्रष्टव्य है जिसमें धनिय गोप ने अपने गृहस्थ जीवन को शान्ति की चित्रात्मक और हृदयस्पर्शी वर्णन किया है—

पक्कोदनो दुद्धखीरो हमस्मि, अनुतीरे महिया समानवासो।
छन्ना कुटि आहितो गिनि, अथ चे पत्थयसी पवस्स देवा।।
अंधकमकसा न विज्जरे कच्छे रूल्हतिणे चरन्ति गावो।
वुट्ठिंपि सहेय्युमागतं अथ चे पत्थयसी पवस्स देवा।।
नन्दति पुत्तेहि पुत्तिमा गोया गोहि तथेव नन्दति।
उपधी हि नरस्स नन्दना, नहि सो नन्दति यो निरूपधि।।[1]

(३) थेरगाथा, थेरीगाथा— ये दोनों खुद्दकनिकाय के आठवें एवं नवें ग्रन्थ हैं। साहित्य की विशेषताओं की दृष्टि से बौद्ध साहित्य में इनका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। बौद्ध सङ्घ में श्रमणो का जीवन अत्यन्त तपश्चर्यापूर्ण एवं व्रताचारों से नियन्त्रित होता था। ऐसी दशा में भिक्षुओं एवं भिक्षुणियों द्वारा भावात्मक काव्यरचना के लिये अवकाश पाना कठिन था; फिर भी कुछ भिक्खुओं एवं भिक्खुनियों ने अपनी मनःशान्ति के लिये जो भावोद्गार गाथाओं के रूप में व्यक्त किये थे उन्हें थेरगाथा व थेरी गाथा में सङ्कलित किया गया है। ये दोनों ही विशुद्ध गीतकाव्य हैं।

थेरगाथा में २१ निपात एवं २६४ थेरों द्वारा रचित गाथाएँ हैं। थेरीगाथा में ७३ भिक्खुनियों की ५२२ गाथाएँ हैं जो १६ निपातों में विभक्त हैं। थेरगाथा की रचनाएँ प्राकृतिक दृश्यों की सुन्दरता और भिक्षुओं की भावात्मक उक्तियों के वर्णन से ओत—प्रोत हैं।

थेरीगाथा में भिक्षुणियों ने अपनी हृदय की अनुभूतियों को अत्यन्त सहजता और सच्चाई से व्यक्त किया है। इन कविताओं में मानसिक विकारों का चित्रण नहीं हुआ है;अपितु आन्तरिक एवं बाह्य शान्ति का स्वर मुखरित हुआ है। अतः इन्हें शान्तरस की कविता का प्राचीनतम उदाहरण माना जा सकता है।

(४) निद्देस— यह खुद्दकनिकाय का ग्यारहवाँ ग्रन्थ है, इसके दो भाग हैं— (१) महानिद्देस (२) चुल्लनिद्देस। 'महानिद्देस' में सुत्तनिपात के अट्ठक वग्ग और चुल्लनिद्देस में सुत्तनिपात के ही खग्गविसाणसुत्त और परायणवग्ग की व्याख्या के रूप में लिखा गया है। सुत्तनिपात आख्यानक साहित्य का ग्रन्थ है। अतः उसकी व्याख्या होने के कारण 'निद्देस' भी साहित्य के अन्तर्गत ही माना जायगा। इस ग्रन्थ में बौद्धकालीन भारत की धार्मिक एवं व्यापारिक गतिविधियों का वर्णन विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

(५) दीपवंस एवं महावंस— ये दोनों ग्रन्थ पालि भाषा में लिखित ऐतिहासिक शैली के प्रबन्ध—काव्य हैं जिनकी रचना प्रायः (लगभग) चौथी—पाँचवीं शताब्दी में श्रीलङ्का

१. सुत्तनिपात, पृष्ठ ५०६।

में हुई थी। इनमें से 'दीपवंस' पूर्ववर्ती रचना है जिसमें सिंहली अट्ठकथा के आधार पर सिंहल द्वीप के आरम्भिक काल से लेकर महासेन (चौथी शताब्दी) तक के राजाओं का क्रमबद्ध इतिहास दिया गया है। महावंस परवर्ती रचना है जो सम्भवतः धातुसेन के राज्यकाल (५वीं शताब्दी) में दीपवंस के आधार पर ही अधिक विस्तार से समकालीन इतिहास को समेटते हुए अधिक काव्यात्मक शैली में लिखा गया है।

भारतीय साहित्य के इतिहासकार विण्टरनित्ज ने इन दोनों ग्रन्थों को 'ऐतिहासिक महाकाव्य' की संज्ञा दी है।[1] इन दोनों ग्रन्थों में गौतमबुद्ध, अशोक, महेन्द्र और सङ्घमित्रा से सम्बद्ध बातों का भी वर्णन किया गया है।

श्रीलङ्का प्राचीन भारतीय महादेश का अङ्ग रहा है। इसलिये प्राचीन भारतीय समाज की धार्मिक राजनीतिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों का इन दोनों ग्रन्थों से भी पर्याप्त ज्ञान होता है।

(ख) संस्कृत साहित्य

पालि भाषा में शुद्ध साहित्य के ग्रन्थों का अभाव सा है। थेरगाथा व थेरीगाथा तथा पूर्व वर्णित अन्य आख्यानों को त्रिपिटक का अङ्ग मानने के कारण 'धार्मिक साहित्य' भी कहा जा सकता है। शुद्ध लौकिक साहित्य की रचना पालि भाषा में हुई या नहीं, यह कहना कठिन है। पहली शताब्दी ई० के बाद बौद्ध भाषा में भी पालि भाषा का प्रचलन कम हो गया और संस्कृत धार्मिक ग्रन्थों की रचना होने लगी, फलतः बौद्ध लेखकों ने भी संस्कृत में काव्य तथा अन्य साहित्यों की रचना की।

अश्वघोष बौद्ध भिक्षु और महान् पण्डित थे, किन्तु अपने समय की संस्कृत–काव्यशैली के प्रभाव से वे अस्पृष्ट (अछूते) नहीं रह सके। उनके दोनों ही काव्य–ग्रन्थ. **बुद्धचरित** एवं **सौन्दरनन्द** शास्त्रीय शैली के प्रबन्ध–काव्य हैं। यद्यपि उनकी शैली कालिदास जैसी परिष्कृत और रसान्वित नहीं है, किन्तु उसमें नैसर्गिक ओजस्विता और सौन्दर्य विद्यमान है।

बुद्धचरित में गौतम बुद्ध के जन्म से उनके महापरिनिर्वाण तक के प्रमुख जीवन–वृत्त का काव्यात्मक वर्णन किया गया है।

सौन्दरनन्द में बुद्ध के चचेरे भाई 'नन्द' और उसकी पत्नी 'सुन्दरी' की कथा वर्णित है। नन्द का कुछ समय पूर्व ही विवाह हुआ था तब तक चारिका करते हुए गौतमबुद्ध कपिलवस्तु पहुँच गये। उन्होंने अपने पिता के महल में जाकर भिक्षा मांगी। उनकी पत्नी यशोधरा ने पुत्र राहुल को ही भिक्षा में दान कर दिया। साथ ही चचेरे भाई नन्द ने भी उनसे प्रव्रज्या लेनी चाही। नन्द की पत्नी सुन्दरी रोती विलखती रह गयी, किन्तु नन्द ने बुद्ध धर्म और सङ्घ की शरण में आश्रय लिया।

इस तरह दोनों ही ग्रन्थ शान्त रस के महाकाव्य हैं, किन्तु उनमें अङ्गरूप में शृङ्गार रस का भी परिपाक दिखायी पड़ता है। अश्वघोष कनिष्क की राज्यसभा में कवि थे, अतः उन्हें दरबार, राजनीति, समाजनीति का व्यावहारिक ज्ञान था। इसी कारण उनके इन दोनों काव्यों में तत्कालीन भारतीय धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक

---

१. विण्टरनित्ज, हिस्ट्री ऑफ इण्डिन लिटरेचर, खण्ड–२, पृष्ठ २०८.

'द पालिक्रानिकल्स ऑफ सिलोन : दीपवंस ऐण्ड महावंस कैन नाट बी टर्म एक्कुवल हिस्ट्रीज, बट बवनी हिस्टारिकल पोयम्स।'

स्थिति का वर्णन प्रसङ्गानुरूप पर्याप्त मात्रा में दिखायी पड़ता है। अतः प्राचीन भारतीय समाज के अध्ययन की दृष्टि से भी इन दोनों काव्यों का अत्यधिक महत्त्व है।

४. पुराकथा और मिथक

पुराण, पुराकथा और मिथक प्रायः समानार्थक शब्द हैं। पुराण में ऐतिहा–सिक सामग्री के साथ–साथ सृष्टि की उत्पवि, नाश, जीवों की उत्पत्ति देवताओं तथा राक्षसों आदि से सम्बद्ध अनेकानेक कल्पित घटनाओं और कथाओं का वर्णन रहता है। पुरा–कथाओं में प्राचीन काल की ऐसी कथाएँ होती हैं जिनके पात्र ऐतिहासिक व्यक्ति जैसे प्रतीत होते हैं। किन्तु वे वस्तुतः काल्पनिक (लिजेन्डरी) व्यक्ति होते हैं। किसी ऐतिहासिक व्यक्ति के साथ जब बहुत सी कल्पित कथाएँ, किंवदन्तियाँ सम्पृक्त हो जाती हैं तो उसे 'काल्पनिक व्यक्ति' कहा जाता है। पुराणों की अवतारसम्बन्धी कथाएँ अथवा ऋषियों, मुनियों एवं राजाओं के चरित्र जन्म–जन्मान्तर की जीवनकथाएँ आदि पुराकथा के अन्तर्गत ही आती हैं। इन सभी को 'मिथक' भी कहा जा सकता है।

मिथक भी ऐसी ही कथाएँ अथवा विश्वास हैं, जो किसी की जाति एवं जीवन के अनिवार्य अङ्ग बन जाते हैं। ये मिथक समाज के धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन के अविच्छेद्य अङ्ग होते हैं। पूजा–पाठ, रीति–रिवाज, रहन–सहन, खान–पान, साहित्य एवं कला—सबमें इन मिथकों की निरन्तर अभिव्यक्ति होती रहती है। जीवन की समस्त सामाजिक परम्पराओं की पृष्ठभूमि में मिथकीय धारणाएँ सूक्ष्म रूप से काम करती रहती हैं। समाज के लोग अपने दैनन्दिन जीवन में बहुत से ऐसे कार्य करते हैं जिन्हें वे तर्क और बौद्धिकता की कसौटी पर नहीं कसते, अपितु रूढ़ व अन्धविश्वास की कसौटी पर दुहराये जाते हैं। इस तरह सामाजिक संरचना की विकासप्रक्रिया में मिथकों का प्रभाव बहुत अधिक होता है। इसी प्रकार जादू–टोना, भूत–प्रेत, स्वर्ग–नरक, जन्म–जन्मान्तर, ईश्वर एवं जीव, देवता एवं राक्षस आदि सभी बातें मिथकीय विश्वासों पर आधृत होती हैं। किसी जाति की पुराकथाओं में मिथकीय विश्वासों की ही प्रधान भूमिका होती है।

सभ्यता के विकास के साथसाथ ज्योंज्यों वैज्ञानिक एवं तार्किक बोध का विकास होता गया, त्योंत्यों पुराकथाओं एवं मिथकों के प्रति समाज का विश्वास भी कम होता गया। आधुनिक युग के प्रारम्भ के साथ जब विज्ञान ने मानव जीवन में अपना प्रमुख स्थान बना लिया तो सामान्यतः प्रबुद्ध वर्ग के लोगों में पुराकथाओं एवं मिथकों के प्रति आस्था कम हो गयी; किन्तु प्राचीनकाल में बड़े से बड़ा बुद्धिवादी व्यक्ति भी पुराकथाओं एवं मिथकों के प्रति कुछ न कुछ तो आस्थावान् होता ही था। गौतम बुद्ध जैसे प्रत्यक्षवादी एवं बुद्धिवादी व्यक्ति भी पुनर्जन्म और उस पर आधृत पुराकथाओं पर विश्वास करते थे। त्रिपिटकों में सङ्कलित समस्त जातक कथाएँ तथा बुद्ध के पुनर्जन्म की अन्य कथाएँ इसी प्रकार की हैं। त्रिपिटक के अनुसार गौतम बुद्ध ने पूर्वजन्म की कथाएँ स्वयं अपने श्रीमुख से कही थी। ये कथाएँ, चाहे बुद्ध द्वारा कही गयी हो या परवर्ती लोगों ने उन्हें गढ़कर प्रचलित कर दिया हो, प्रत्येक स्थिति में यह तो स्पष्ट ही है कि ऐसी कथाओं को ऐतिहासिक सत्य नहीं माना जा सकता। इसलिये यहाँ ऐसी समस्त कथाओं एवं प्रसङ्गों को पुराकथा वर्ग के अन्तर्गत रखा जा रहा है। परवर्ती अवदानकथाओं एवं अट्ठकथाओं को भी इसी वर्ग में रखा जायगा।

(क) पालि ग्रन्थ

(१) **कूटदन्तसुत्त**— यह सुत्तपिटक के दीघनिकाय के सीलक्खन्धवग्ग का पाँचवाँ

सुत्त है। यद्यपि इसे कुट्टदन्त एवं बुद्ध के संवाद के रूप में लिखा गया है; किन्तु वस्तुतः यह एक पुराकथा है, जिसमें जातक कथाओं की भाँति गौतम बुद्ध ने ,क पूर्व भव का वर्णन किया गया गया है। उस भव में गौतम बुद्ध महाविजित नामक राजा थे जिन्होंने पशुघात (पशुबलि) से रहित द्रव्य एवं दान यज्ञ कराया। पुराकथा के माध्यम से इस सुत्त में याज्ञिक कर्मकाण्डों, पशुबलि एवं दास–प्रथा का खण्डन किया गया है।

(२) **महापदानसुत्त**– यह दीघनिकाय के महावग्ग का प्रथम सुत्त है, जिसमें गौतम बुद्ध के पूर्ववर्ती छह बुद्धों का जीवनवृत्त वर्णित है। यह वृत्त जातक कथाओं के समान बुद्ध के पूर्व भवान्तरों का वर्णन करते हैं।

(३) **महासुदस्सनसुत्त**– यह दीघनिकाय के महावग्ग का चतुर्थ सुत्त है इसमें बुद्ध के एवं पूर्व भव का वर्णन है। जिसमें वे एक 'महासुदस्सन' नामक एक चक्रवर्ती राजा थे।

(४) **जनवसभसुत्त, महागोविन्दसुत्त, महासमयसुत्त एवं सक्कपञ्हसुत्त**– दीघनिकायान्तर्गत महावग्ग के इन चारों सुत्तों में इन्द्र आदि देवताओं से या यज्ञ, स्वर्ग, ब्रह्मा आदि से सम्बद्ध मिथकीय घटनाओं का वर्णन किया गया है। स्पष्टतः ये घटनाएँ बौद्धधर्म की महत्ता प्रतिपादित करने के लिये त्रिपिटक के सङ्कलन–काल में किंवदन्ती (पुराकथा) के रूप में प्रचलित हो गयी थीं। अलौकिक एवं अतिप्राकृत घटनाओं पर आधृत होते हुए भी इन सुत्तों में तत्कालीन भारत की राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थिति का पर्याप्त चित्रण हुआ है।

(५) **मज्झिमनिकाय का मखादेवसुत्त**– सुत्तपिटक के मज्झिमनिकाय के अन्तर्गत राजवग्ग के इस मखादेव सुत्त में बुद्ध के एक पूर्व भव की कथा का वर्णन किया गया है। उस भव में बुद्ध मिथला के राजा मखादेव के रूप में थे। यह जातक कथाओं जैसी ही एक कथा है।

(६) **संयुत्तनिकाय नें पुराकथा एवं मिथक**– सुत्तपिटक के संयुत्तनिकाय में सगाथवग्ग के वनसंयुत्त, सक्कसंयुत्त, वलाहसंयुत्त में वनदेवताओं के उपदेश, ऋग्वेद का वज्रधारी, इन्द्र का क्षमाशील बनना, देवासुर–संग्राम का वर्णन, गन्धर्व जाति के देवताओं का वर्णन मेघ रूपी काया वाले देवताओं का वर्णन है। इनके अन्तर्गत भी बुद्ध के पूर्वजन्म की घटनाओं का उल्लेख प्राप्त होता है। अतिप्राकृत शक्तियों से सम्बद्ध होने के कारण उपर्युक्त घटनाएँ मिथकीय पुराकथाओं से सम्बद्ध हैं।

(७) **विमानवत्थु एवं पेतवत्थु**– ये दोनों खुद्दकनिकाय के छठे एवं सातवें ग्रन्थ हैं। विमानवत्थु के सात वग्गों में ६३ कथाएँ और पेतवत्थु में ४ वग्ग हैं। इन सभी वग्गों में देवताओं एवं प्रेतों की कथाएँ कहीं गयी हैं। यद्यपि गौतम बुद्ध स्वर्ग–नरक, भूत–प्रेत एवं अन्य अतिप्राकृत शक्तियों में विश्वास नहीं करते थे, किन्तु भारतीय समाज में इस प्रकार की कथाएँ मिथक के रूप में प्रचलित थी और परवर्ती बौद्धौं के लिये भी उन विश्वासों से दूर रहना सम्भव नहीं था। इसलिये बौद्धसङ्गीतियों के काल तक बौद्ध धर्म में भी देवताओं एवं प्रेतों से सम्बद्ध कथाएँ प्रचलित हो गयी थीं। किन्तु उनकी मान्यता की यह विशेषता थी कि वे मनुष्यों को ही कर्म के अनुसार स्वर्ग या नरक में, देवयोनि या प्रेतयोनि में अपने पुण्य या पाप का भोग करने में विश्वास रखते थे। इसी विश्वास के आधार पर इन दोनों ग्रन्थकथाओं की रचना हुई है।

विमानवत्थु में यह दिखाया गया है कि बुद्ध की शरण में आनेवाले पुण्यवान् व्यक्ति मृत्यु के बाद स्वर्ग में पहुँचकर स्वर्ग के सुखों का भोग करते हैं। और शास्ता के धर्म से विमुख पापी व्यक्ति मृत्यु के बाद प्रेत बनकर नारकीय दु:खों का भोग करते हैं।

विमानवत्थु में भिक्खुओं का देवताओं से प्रश्न और देवताओं का उत्तर वर्णित है। उदाहरण के लिये एक सुत्त में भिक्खु (मोग्गलान) एक अन्तरिक्ष स्थानीय प्रकाशमान देवता से पूछता है कि मनुष्य होते हुए भी यह सुन्दर स्वरूप प्रकाशमान स्थान और सम्पूर्ण सुखों का भोग तुम्हें किस पुण्य के फलस्वरूप प्राप्त हुआ है। इस पर देवता कहता है कि भगवान् बुद्ध की शरण में पहुँचकर प्राणिहिंसाविरत रहते हुए धर्मानुशासन का पालन कर मैंने यह देवतापद प्राप्त किया है। विमानवत्थु में इसी प्रकार के ८५ प्रश्नोत्तरों का उल्लेख है।

इसी तरह पेतवत्थु में ५० प्रेतों की कथाएँ कहीं गयी हैं। भिक्षुओं द्वारा प्रश्न किये जाने पर एक प्रेत अपनी मनुष्य योनि के पाप–कर्मों का वर्णन करता हैं।

इस तरह ये दोनों ग्रन्थ पौराणिक हिन्दू धर्म की पाप–पुण्यसम्बन्धी मान्यताओं एवं प्रेतसम्बन्धी मिथकीय विश्वासों से प्रभावित होकर लिखे गये हैं।

(८) **अपदान**— यह खुद्दकनिकाय का तेरहवाँ ग्रन्थ है। इसकी कथाएँ दो प्रकार की हैं— पूर्वजन्मसम्बन्धी एवं वर्तमानजन्मसम्बन्धी। यह समग्र ग्रन्थ दो भागों में विभक्त है। १. थेरापदान, एवं २. थेरीअपदान। थेरापदान में ५५ वग्ग है जिनमें कुल ५४७ अवदान–कथाएँ हैं। इसी तरह थेरीअपदान में ४ वर्ग हैं और प्रत्येक में १० अपदान हैं। इस तरह सब मिलाकर ५८७ अवदान–कथाएँ हैं। इनमें से जो पूर्वजन्म सम्बन्धी कथाएँ हैं उन्हें पुराकथा के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद उनके पूर्वजन्मों से सम्बद्ध असङ्ख्य पौराणिक आख्यान प्रचलित हो गये थे, जिन्हें सङ्गीतियों के समय सङ्कलित कर लिया गया था। अति प्राकृत और अलौकिक शक्तियां अविश्वसनीय घटनाओं एवं पूर्व जन्म के वृत्तों की स्मृति भारतीय मानस में विजड़ित मिथकीय विश्वासों के परिणामस्वरूप बौद्ध साहित्य में भी ग्रहण कर ली गयी थीं। अवदान–कथाएँ, जातक–कथाओं की भाँति भगवान् की किसी न किसी विशेषता को अपदानों में प्रदर्शित करने के लिये रची गयी थीं। पूर्वजन्मसम्बन्धी आधार पर तत्कालीन इतिहास का पुनर्निर्माण नहीं हो सकता। किन्तु वर्तमान जीवनसम्बन्धी अपदानों से समाज की धार्मिक, राजनैतिक और भौगोलिक स्थिति की कुछ परिदृश्य (झाँकी) अवश्य मिल जाती है।

बुद्धवंस— यह खुद्दकनिकाय का १४वाँ ग्रन्थ हैं तथा इसमें २८ परिच्छेद है जिनमें गौतम बुद्ध एवं उनके पूर्ववर्ती २४ अन्य बुद्धों की जीवनियाँ बतायी गयी हैं। गौतम बुद्ध के सम्बन्ध में केवल २५ गाथाएँ हैं जो ऐतिहासिक प्रतीत होती है किन्तु २४ अन्य बुद्धों की जीवनी काल्पनिक पुराकथामात्र है। भारतीय धार्मिक परम्परा अवतारवाद में विश्वास करती रही है। इस विश्वास को गीता में इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्''॥ (भ० गी०, ४–७)

इसी के परिणामस्वरूप पौराणिक हिन्दू धर्म में दस अवतारों, जैन मत में २४ तीर्थङ्करों और बौद्ध मत के २५ बुद्धों के अवतार की कल्पना इसी परम्परागत विश्वास की देन है। गौतम बुद्ध के पूर्वजन्म की कथाएँ जो अवदानों एवं जातकों में वर्णित है, अवतारों से भिन्न है; क्योंकि पूर्वजन्मों में बुद्ध बोधिसत्त्वमात्र थे, बुद्ध नहीं थे। ऐसा प्रतीत होता है

कि तृतीय सङ्गीति के समय तक पौराणिक ब्राह्मणधर्म के अवतारसम्बन्धी विश्वासों का प्रभाव बौद्ध धर्म पर पड़ने लगा था जिसके फलस्वरूप २५ बुद्धों की कल्पना की गयी। बुद्धवंस में २५वें बुद्ध शाक्यसिंह गौतम बुद्ध हैं और उनके विषय में जो कुछ वर्णित है वह अवश्य ऐतिहासिक वृत्त है, किन्तु अन्य बुद्धों की कथा केवल कल्पना पर आधृत है। उस समय प्रचलित किंवदन्तियों या पुराकथाओं पर आधृत है। इस तरह बुद्धवंस को मुख्यतः पुराकथा–विषयक ग्रन्थ मानना ही समीचीन है।

जातक– यह खुद्दकनिकाय का दसवाँ ग्रन्थ है जो गद्यबद्ध है। जिसमें ५४७ जातक कथायें हैं। कुछ कथाओं में तो अनेक अवान्तर कथाएँ सम्मिलित हैं जिन्हें मिलाकर इन कथाओं की समग्र संख्या ३००० हो जाती है। इन कथाओं में यह कहा गया है कि गौतम बुद्ध ने अपने शिष्यों से अपने पूर्व जन्म से सम्बद्ध कथाएँ स्वयं कहीं थी, किन्तु वास्तविकता यह है कि ये सभी कथाएँ तत्कालीन प्रचलित लोककथाओं एवं पुराकथाओं के आधार पर बौद्ध मतावलम्बियों की कल्पनाप्रसूत थीं। यह बहुत सम्भव है कि सामान्य जनता में बौद्ध धर्म के प्रति विश्वास जगाने और आकर्षण उत्पन्न करने के लिये बौद्ध भिक्षुओं ने भी इस प्रकार बोधिसत्वविषयक काल्पनिक कथाओं की रचना करके उन्हें लोक में प्रचलित कर दिया हो। तृतीय बौद्ध सङ्गीति के समय तक इस प्रकार प्रचलित कथाओं की सङ्ख्या अधिक हो गयी होगी जिन्हें सङ्कलित करके त्रिपिटक में सम्मिलित करा लिया गया होगा।

इन जातककथाओं में से कुछ आकार में छोटी हैं किन्तु कुछ इतनी बड़ी हैं कि वे स्वयं स्वतन्त्र ग्रन्थ प्रतीत होती हैं। इन कथाओं पर देशविदेश की पशु–कथाओं का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। पूर्व प्रचलित कथाओं को ही बौद्ध धर्म के शील, दया, अहिंसा, मैत्री, करुणा, आत्मत्याग, अक्रोध आदि गुणों के प्रकाशन के लिये अपना कर उनमें बोधिसत्व की प्रतिष्ठा कर दी गयी एवं इस प्रकार कथाओं का रूप धर्मप्रधान एवं उपदेशात्मक हो गया। सामान्य जनता काव्य एवं कथा से अधिक प्रभावित होती, इसलिये बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ जातककथाओं की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी। इनमें ऐतिहासिकता केवल इसी अर्थ में है कि ये तत्कालीन भारतीय समाज की राजनीतिक, आर्थिक, भौगोलिक, धामिक एवं सांस्कृतिकजीवन का पर्याप्त परिचय देती है। धर्म नीति, आचार के उदाहरण के रूप में इन्हें प्रस्तुत किया गया है। इसीलिये इन्हें आख्यानक साहित्य नहीं माना जा सकता। अलौकिक, असम्भव एवं अतिप्राकृत बातों की अधिकता होने के कारण पुराकथा के अन्तर्गत रखना उचित है।

चरियापिटक– यह खुद्दकनिकाय का पन्द्रहवाँ ग्रन्थ है इसमें अकित्ति, हत्थि एवं युद्धञ्जय वग्ग है। इसमें बुद्ध के पूर्वजन्मों की चर्चाओं का वर्णन किया गया है। ये जातककथाओं से बहुत अधिक साम्य रखती हैं। दोनों में अन्तर यह है कि जातककथाओं में बोधिसत्व के गुण अथवा स्वभाव का वर्णन किया गया है। जबकि चर्चाओं में उनकी पारमिताओं अर्थात् दान, शील, नैष्काम्य, अधिष्ठान, सत्य आदि का निरूपण किया गया है। ये सभी बातें बुद्ध का महत्व प्रतिपादित करने के लिये ही कही गयी है। अतः इन्हें पौराणिक कथाओं के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है।

(ख) संस्कृत ग्रन्थ

महावस्तु– यह संस्कृत में लिखित पुराकथा–सम्बन्धी ग्रन्थ है। इसकी भाषा

हेब्रिड (गड़बड़) संस्कृत है; क्योंकि उसमें पाणिनि के व्याकरण के नियमों का पालन नहीं हुआ। यह महासाङ्घिक सम्प्रदाय की मान्यताओं के आधार कर रचित है। इसकी रचना सम्भवतः ईसापूर्व पहली या दूसरी शताब्दी में हुई थी। यह एक विद्वान् की रचना नहीं, अपितु ऐसा लगता है कि सैकड़ों वर्षों में सङ्कलन के रूप में इसका विकास हुआ। इस पर खुद्दकनिकाय के विमानवत्थु एवं पेतवत्थु का प्रभाव स्पष्ट दिखायी पड़ता है, तथा अपदान का भी कुछ प्रभाव है। इसमें तीन भाग हैं। पहले भाग में पूर्ववर्ती बुद्धों के समय के बोधिसत्त्वों का जीवन वर्णित है। दूसरे भाग में बोधिसत्वों के जन्म ग्रहण से प्रारम्भ कर सम्बोधिलाभ तक का जीवन वर्णित है। तीसरे भाग में सङ्घ के उदयवर्णन के साथ साथ बहुसङ्ख्यक जातक एवं अवदानकथाओं का वर्णन है। इस तरह इस महानग्रन्थ में ऐतिहासिक सामग्री से कहीं अधिक पुराकथाओं एवं मिथकीय विश्वासों पर आश्रित घटनाओं एवं प्रसङ्गों का वर्णन किया गया है।

इस तरह यह महायान सम्प्रदाय के सर्वास्तवादियों में प्रचलित पुराकथाओं एवं कल्पित वृत्तों का संकलन है। इसमें बौद्धकालीन भारतीय समाज का विस्तृत एवं बहुरंगी चित्र दृष्टिगत होता है।

ललितविस्तर— इस ग्रन्थ में भी सर्वास्तिवादियों द्वारा मान्य बुद्ध के पूर्व जीवन तथा अनेक पुराकथाओं का वर्णन किया गया है। यह भी महावस्तु के समान मिश्रित संस्कृत में लिखित है। गौतमबुद्ध के जीवन से सम्बद्ध अनेक घटनाओं का इसमें वर्णन हुआ है, फिर भी इसे जीवनी या इतिहास से अधिक पुराकथा का ही ग्रन्थ कहा जा सकता है।

सद्धर्मपुण्डरीक— यह महायान सम्प्रदाय का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है जो संस्कृत भाषा में अंशतः गद्य एवं पद्य में लिखा गया है। इसकी रचना प्रथम शताब्दी के बाद तथा तृतीय शताब्दी के पूर्व कभी हुई थी। इसमें कुल २७ अध्याय हैं जिसमें पूर्वबुद्धों के जीवन तथा बोधिसत्त्वों की विभिन्न कथाएँ लिखी हैं। इसमें वर्णित कथाओं एवं घटनाओं में अलौकिकता और मिथकीय विश्वासों की अधिकता दिखायी पड़ती है। इसके कुछ अध्यायों में धर्म एवं आचार सम्बन्धी बातों का भी वर्णन किया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से तत्कालीन समाज के अध्ययन की भी इसमें विपुल सामग्री है।

अवदान— त्रिपिटक के सुत्तपिटक में खुद्दकनिकाय के अन्तर्गत 'अपदान' नामक एक ग्रन्थ है जिसका विवेचन पहले किया जा चुका है। संस्कृत में वही 'अपदान' 'अवदान' बन गया है। संस्कृत भाषा में लिखित अवदानों की लम्बी परम्परा दिखायी पड़ती है। त्रिपिटक में गौतम बुद्ध के पूर्व जन्म अथवा पूर्ववर्ती बुद्धों के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा गया है उसी का विकसित रूप संस्कृत का विपुल अवदान–साहित्य है। इनमें से अवदानशतक सर्वाधिक प्राचीन अवदान साहिन्य का ग्रन्थ है। दिव्यावदान यद्यपि परवर्ती है, किन्तु महत्त्व की दृष्टि से अवदानशतक के बाद उसका ही स्थान है। इन अवदान ग्रन्थों में बुद्ध से सम्बद्ध कथाओं के माध्यम से यह दिखाया गया है कि मनुष्य जैसा कर्म करता है उसे वैसा ही फल प्राप्त होता है।

अवदानशतक की रचना लगभग दूसरी शताब्दी में हुई होगी; क्योंकि तीसरी शताब्दी के मध्य में चीनी भाषा में इसका अनुवाद हो चुका था। नेपाल में अवदानशतक की जो हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई है उसमें केवल ९० अवदान या पुराकथायें हैं।

दिव्यावदान में कुल २२ अवदान हैं। इसमें से कुछ अवदान शुद्ध संस्कृत में लिखित हैं किन्तु शेष की भाषा अर्ध–पाणिनीय संस्कृत है।

प्राचीन भारतीय समाज के अध्ययन के लिये 'अवदानशतक' या 'दिव्यावदान' बहुत ही महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि उनमें प्रथम शताब्दी से प्रारम्भ कर पाँचवीं शताब्दी तक की राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक दशा का वैविध्यपूर्ण चित्र दिखायी पड़ता है।

५. इतिहास और जीवनी

समाज का विकास एक चिरकालिक प्रक्रिया है, जिसमें व्यक्ति अपने कार्यकलापों द्वारा योगदान करते रहते हैं। इस तरह व्यक्तियों के जीवनवृत्त से समाज के सामूहिक जीवन का निर्माण एवं विकास होता है। व्यक्तियों के समग्र कार्यकलाप को जीवन और समाज के विकासोन्मुख कार्यकलाप को इतिहास कहा जाता है। इस तरह इतिहास मानव की जीवनधारा के नैरन्तर्यपूर्ण विकास का ही दूसरा नाम है। व्यक्तियों का जीवनवृत्त अल्पकालिक होता है, जबकि देश या समाज का इतिहास चिरकालिक होता है। समाज के जीवन का जो वृत्त वर्तमान काल में दृश्यमान होता है उसे इतिहास नहीं कहा जा सकता और जो सामाजिक स्थितियां अतीत के गर्भ में विलीन होकर साहित्य, अभिलेख, पुरातत्त्व आदि के रूप में अपनी स्मृति छोड़ती जाती हैं, उन्हीं का सङ्कलन करके इतिहासकार किसी देश या समाज का पुनर्निर्माण करता है। इस तरह इतिहास सामाजिक जीवन के अतीत की स्मृतियों का सङ्कलित और पुनर्निर्मित रूप होता है।

इतिहास का वही रूप सत्य के अधिक निकट माना जायगा, या माना जा सकता है जो स्मृत रूप में अवशिष्ट प्रामाणिक अभिलेखों तथा अन्य स्रोतों के आधार पर पुनर्निर्मित हो। काव्य, कथा, साहित्य, दर्शन, धर्मशास्त्र आदि में अतीत की जिन सामाजिक स्थितियों का उल्लेख होता है, वे इतिहास का कच्चा माल हैं, ऐसे ग्रन्थों को इतिहास–ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता, किन्तु जिन ग्रन्थों में किसी व्यक्ति की आत्मकथा अथवा किसी समकालीन व्यक्ति, उसके शिष्य या वंशज द्वारा लिखित जीवनवृत्त का सङ्कलन हो उन्हें जीवनी और इतिहास की संज्ञा दी जा सकती है। ऐतिहासिक सामग्री को लेकर समकालीन व्यक्तियों द्वारा लिखित जिन कथा, नाटक, काव्य ग्रन्थों की रचना होती है उन्हें भी ऐतिहासिक साहित्य माना जा सकता है, पर उन्हें इतिहास नहीं कहा जा सकता। यदि इस कसौटी पर बौद्ध साहित्य का परीक्षण किया जाय तो उसमें ऐसे अनेक ग्रन्थ मिल जाते हैं जिनकी ऐतिहासिकता को प्रमाणित माना जा सकता है। इस वर्ग के अन्तर्गत ऐसे ही ग्रन्थों या ग्रन्थांशों के सम्बन्ध में विचार किया जायेगा।

(१) दीघनिकाय का महापरिनिब्बानसुत्त– यह सुत्तपिटक के दीघनिकाय के महावग्ग का तृतीय सुत्त है। इसमें भगवान् बुद्ध के जीवन के अन्तिम काल का बहुत ही विस्तृत एवं क्रमवद्ध वर्णन किया गया है। इसी सुत्त के आधार कर गौतम बुद्ध के जीवन का अन्तिम भाग वृव चित्रित किया गया है। अतः इस सुत्त को बुद्ध की आंशिक जीवनी माना जा सकता है।

(२) मज्झिमनिकाय के कुछ सुत्त– सुत्तपिटक के मज्झिमनिकाय के १५ वग्गों में वर्गीकृत सुत्तों में ११ सुत्त ऐसे हैं जिनमें आत्मकथा, बुद्ध की तथा अन्य भिक्षुओं की जीवनी तथा कुछ राजाओं के इतिहास का वर्णन किया गया है।

सिंहनादवग्ग के महासिंहनादसुत्त में गौतम बुद्ध ने सारिपुत्र को अपनी आत्मकथा का एक अंश सुनाया था इसमें उनकी पूर्ववर्ती कठोर तपस्या का वर्णन किया गया है।

इसी तरह द्वेधावितक्कसुत्त में बुद्ध ने अपने पूर्व अनुभवों का तथा अरियपरि–येसनसुत्त में अपनी महाभिनिष्क्रमण, सम्बोधिप्राप्ति एवं धर्मचक्रप्रवर्त्तन की बातों का वर्णन किया है।

इसी प्रकार बोधिराजकुमारसुत एवं अङ्गुलिमालसुत्त में गौतम बुद्ध ने स्वयं अपने से सम्बद्ध घटनाओं का वर्णन प्रमुख रूप से किया है।

ब्रह्मायुसुत्त में, अच्छरिय धम्मसुत्त में बुद्ध की जीवनी वृत्त की कुछ बातें बतायी गयी हैं।

वक्कुलसुत्त, अनाथपिण्डकसुत्त और छन्नोवादसुत्त में क्रमशः स्थविर वक्कुल, अनाथपिण्डक और छन्न के जीवन की घटनाओं का वर्णन किया गया है। इस तरह से ये सुत्त गौतमबुद्ध के जीवन एवं उस काल के इतिहास के वास्तविक परिदृश्य (झांकी) प्रस्तुत करते हैं।

(३) **जीवनी एवं इतिहास से सम्बद्ध संयुत्तनिकाय के संयुत्त**– संयुत्तनिकाय के सगाथवग्ग के कोसलसंयुत्त, मारसंयुत्त, ब्रह्मसंयुत्त, ब्राह्मणसंयुत्त और वङ्गीससंयुत्त में कोशलराज प्रसेनजीत, बुद्ध की मार–विजय, बुद्ध के धर्मचक्रप्रवर्तन, वङ्गीस नामक भिक्खु की काम–विजय आदि से सम्बद्ध ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन किया गया है।

(४) **उदान**– यह खुद्दकनिकाय का तीसरा ग्रन्थ है जिसमें सब मिला कर आठ वग्ग तथा ७९ सुत्त हैं। प्रत्येक सुत्तों में कोई न कोई बुद्धवचन गाथा के रूप में दिया गया है। और उसकी पृष्ठभूमि को गद्य में स्पष्ट किया गया है जिसमें उस अवसर और घटना का वर्णन किया गया है जब बुद्ध के मुख से वे वचन सहसा भावोच्छ्वास (हृदयोद्गार) के रूप में निकले थे। त्रिपिटक में इन उदानों के सङ्कलित होने का यह अर्थ है कि इसमें वर्णित घटनाएँ ऐतिहासिक सत्य के रूप में बौद्ध सङ्घ में ज्ञात थी, अतः उदान को इतिहासपरक ग्रन्थ माना जा सकता है। इस ग्रन्थ से न केवल गौतम बुद्ध के जीवन के सम्बन्ध में अपितु उनके समकालीन अन्य व्यक्तियों और घटनाओं के सम्बन्ध में भी जानकारी प्राप्त होती है। अतः ये उदान बौद्धकालीन भारतीय इतिहास के महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं।

(५) **खन्धक**– यह विनयपिटक का दूसरा भाग है तथा इसमें दो ग्रन्थ हैं– महावग्ग तथा चुल्लवग्ग। इन दोनों ग्रन्थों में से महावग्ग में गौतम बुद्ध की यात्राओं और उनके जीवन से सम्बद्ध अनेक घटनाओं का वर्णन किया गया है; जैसे–बुद्धत्व की प्राप्ति के बाद सात सप्ताह तक गौतम बुद्ध की बोधिसुखानुभूति, उरुवेला से वाराणसी तक की यात्रा में तपस्सु तथा भल्लिक को धर्म की दीक्षा देना, वाराणसी में धम्मचक्कपवत्तन, काश्यप बन्धुओं को प्रव्रज्या, महाराज बिम्बसार का उपासकत्व, सारिपुत्र, मौद्गल्यायन, महाकाश्यप, नन्द और राहुल की प्रव्रज्या आदि बातों का वर्णन क्रमानुसार किया गया है।

इसी तरह चुल्लवग्ग में अनाथपिण्डक की दीक्षा, और जेतवन के दान का वर्णन है तथा महाप्रजापति गौतमी की प्रव्रज्या का भी वर्णन है। यहीं से सङ्घ में भिक्खुनियों के प्रवेश का द्वार खुलता है। चुल्लवग्ग के अन्त में प्रथम दो बौद्ध सङ्गीतियों का भी वर्णन है।

इस तरह खन्धक में बौद्ध धर्म के इतिहास की पर्याप्त सामग्री विद्यमान है। यही नहीं, तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक स्थिति का भी इसमें प्रसङ्गानुसार उल्लेख किया गया है। अतः बौद्धकालीन भारत की सामाजिक स्थिति के अध्ययन के लिये खन्धक के ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

६. तन्त्र तथा गुह्याचार

आदिम मानवसमाज में धर्म का स्वरूप बहुत कुछ जादू–टोने पर आधृत तथा टोटका, लाञ्छन (टोटेम) तथा निषेधों (टेबुर्ज) से सम्बद्ध था। ज्यों ज्यों मानव बुद्धि का विकास होता गया, त्यों त्यों धर्म बुद्धिप्रधान तथा आचारपरक बनता गया। बौद्धिक विकास के साथ ही आध्यात्मिक और दार्शनिक चिन्तन का भी प्राधान्य होता गया। इस तरह प्राचीन काल में ही धर्म अपने विकसित रूप में दार्शनिक एवं आध्यात्मिक आधार पर प्रतिष्ठित होकर जीवन के सभी अङ्गों से संयुक्त हो गया। इस तरह नैतिकता, सामाजिक आचार, राजनीति, अर्थनीति आदि सभी बातें धर्म के भीतर ही समाविष्ट हो गयी; किन्तु आदिम मानव समाज में जादू–टोने और टोटका, लाञ्छन की प्रवृत्ति वर्तमान थी। वह धर्म के पूर्ण रूप से विकसित हो जाने पर भी मानव समाज से पृथक् नहीं हुई। यह प्रवृत्ति अप्रबुद्ध जनता के बीच बहुत बाद में भी, धर्म का पर्याय बनकर, जीवित रही। मानव मन मिथकों एवं रूढ़ियों से इतने प्रगाढ़ रूप में बद्ध होता है कि वह इनके प्रति अनास्थावान् होकर भी उनका सर्वथा त्याग नहीं कर पाता। इस तरह आज के बौद्धिक एवं वैज्ञानिक युग में भी न केवल आदिम जातियों एवं अप्रबुद्ध जनता में अपितु शिक्षित एवं प्रबुद्ध जनता में भी जादू–टोना, मन्त्र–तन्त्र, टोटका, लाञ्छन, निषेध आदि मिथ्या विश्वासों के प्रति किसी न किसी मात्रा में विश्वास बना हुआ है।

भारत में धर्म का प्रारम्भिक स्वरूप वेदों में दिखायी पड़ता है। वैदिक धर्म मन्त्र और कर्मकाण्ड प्रधान था जिसमें प्राकृतिक शक्तियों में देवत्व की कल्पना करके मन्त्रों द्वारा उन्हें आहूत करने तथा यज्ञ–आहुति, सोमरस और पशुबलि द्वारा उन्हें प्रसन्न करने का विधान था। इस तरह वैदिक ऋचाओं को मन्त्र मान लिया गया था। जिनके द्वारा देवताओं का आह्वान किया जाता था। यही नहीं, वैदिक समाज में भूत–प्रेत, राक्षस, पिशाच तथा अन्य अति प्राकृत शक्तियों में विश्वास किया जाता था। और यह धारणा प्रचलित थी कि मन्त्रों तथा कुछ विशेष तान्त्रिक क्रियाओं द्वारा अतिप्राकृत शक्तियों, रोग व्याधि, मृत्यु आदि को दूर भगाया जा सकता है। इन सभी कार्यों के लिये ऋग्वेद विशेषतः अथर्ववेद में सूक्तों की रचना की गयी थी जिनसे तत्कालीन तान्त्रिक क्रियाओं का पता चलता है। वैदिक ब्राह्मण धर्म जब परवर्ती काल में पौराणिक धर्म में परिवर्तित हो गया उस समय इन तान्त्रिक क्रियाओं का स्वरूप और भी विकृत एवं व्यापक हो गया। पौराणिक युग में शैव आदि सम्प्रदायों में तान्त्रिक क्रियाओं का प्राधान्य हो गया। इसी तरह बौद्ध और जैन धर्म में तान्त्रिक पद्धतियाँ प्रचलित होती गयी।

महायान के विकास के साथ बौद्ध धर्म में तिब्बत, मंगोलिया, चीन आदि देशों की तान्त्रिक क्रियाएँ भी बौद्ध धर्म का अङ्ग बनती गयीं। महायान की एक शाखा सहंज यान में तान्त्रिक पद्धतियों का ही प्राधान्य था। बौद्ध धर्म के भीतर तान्त्रिकता के बढ़ते हुए प्रभाव का प्रमाण त्रिपिटकों से ही मिलने लगता है।[1] परवर्ती काल में बौद्ध धर्म से सम्बद्ध ऐसे ग्रन्थ लिख गये हैं जिनमें तान्त्रिक पूजा, अभिचार तथा तान्त्रिक क्रियाओं का वर्णन है। सहजयानी सिद्धों की साधनापद्धति पञ्चमकार के सेवन पर आधृत एवं गुह्य क्रियाओं से युक्त थी। आठवीं सदी तक इस प्रकार के अनेक ग्रन्थ लिखे गये। यहाँ ऐसे ही ग्रन्थों के सन्दर्भ में विचार किया जाया जायगा।

---

१. द्र०–दीघनिकाय का आटानाटियसुत्त।

आटानाटियसुत्त

यह सुत्तपिटक के दीघनिकाय के महावग्ग का नवम सुत्त है। इसमें रक्षा–सम्बन्धी मन्त्रों का विधान है। इसमें सात बुद्धों को नमस्कार की क्रिया एवं भूतों और यक्षों से रक्षा का उपाय बताया गया है। इस तरह यह तान्त्रिक सुत्त है।

इसके अतिरिक्त बौद्ध साहित्य के ग्रन्थों में ऐसे तान्त्रिक सुत्त भी पाये जाते हैं जो कि बहुत ही बाद के हैं और जिसका हमारे विषय से कोई सम्बन्ध नहीं है।

बौद्ध साहित्य के उपर्युक्त सर्वेक्षण में केवल अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा प्रख्यात ग्रन्थों के सन्दर्भ में ही विचार किया गया है। वैसे तो बौद्ध साहित्य इतना विस्तृत एवं विपुल है कि किसी भी व्यक्ति के लिये यह सम्भव नहीं है कि वह अपना पूरा जीवन लगाकर भी उसे पूरी तरह पढ़ एवं समझ सके। यह विशाल साहित्य जितना भारत में लिखा गया उससे कई गुना अधिक भारत से बाहर के देशों—श्रीलङ्का, वर्मा, कम्बोडिया, थाइलैण्ड, मलयदेश, चीन, नेपाल, तिब्बत, तुर्कीस्तान, मंगोलिया, जापान, कोरिया आदि में लिखा गया। इन सभी देशों की भाषाओं में ईसापूर्व तीसरी शताब्दी से ही पालि एवं संस्कृत में भारतीय भिक्षुओं द्वारा लिखित ग्रन्थों का अनुवाद हजारों वर्षों तक निरन्तर होता रहा। उन देशों के विद्वानों ने भी अपनी अपनी भाषा में बौद्ध साहित्य के ग्रन्थों का अनुवाद किया एवं मूल ग्रन्थ भी उनके द्वारा रचे गये। उन सभी रचनाओं का एक व्यक्ति द्वारा अध्ययन करना सम्भव नहीं है। भारत में ही बुद्ध के जीवनकाल से लेकर बारहवीं शताब्दी तक बौद्ध धर्म का जो विकास एवं विस्तार हुआ उसके परिणामस्वरूप उसमें अनेक सम्प्रदाय एवं मत–मतान्तर हो गये। इन सम्प्रदायों के विद्वानों ने बौद्ध विहारों एवं शिक्षा संस्थानों में रहकर अपना पूरा जीवन मनन, चिंतन, साधना एवं लेखन में ही लगाया। उनके द्वारा लिखित अधिकांश साहित्य या तो कालकलवित हो गया या मुस्लिम आक्रमण काल में या बाद में विदेशों में रक्षित रहने के लिये पहुँच गया। उनकी रक्षा के लिये उन देशों के विद्वानों ने लिप्यन्तर भी किया। अतः वे ग्रन्थ भारत से तो लुप्त हो गये परन्तु विदेशों में बचे रह गये।

अंग्रेजी शासन–काल में भी कश्मीर, नेपाल, भूटान, तिब्बत आदि स्थानों में जो प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ खोज द्वारा उपलब्ध हुए वे इग्लैण्ड, फ्रान्स एवं जर्मनी के पुस्तकालयों तथा संग्रहालयों में पहुँच गये। ऐसे सम्पूर्ण ग्रन्थों की पूर्णतः विषयानुसार सूची तक नहीं तैयार हो सकी है।

ऐसी स्थिति में समस्त बौद्ध साहित्य का अध्ययन एक स्वप्नमात्र है। इस अध्याय में कुछ महत्त्वपूर्ण एवं ख्यातिप्राप्त ग्रन्थों तथा सुत्तों का चयन करके उन्हें छहः वर्गों में इसलिये वर्गीकृत किया गया है कि अध्ययन में सुविधा हो सके। उपर्युक्त वर्गीकृत ग्रन्थ अथवा सुत्त अपने अपने वर्ग के प्रतिनिधि ग्रन्थ या ग्रन्थांश है। अगले अध्यायों में इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर भारतीय समाज के विविध पक्षों और अवयवों का ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचन किया जायगा।

द्वितीय अध्याय

बुद्धपूर्व भारतीय समाज का ऐतिहासिक विकासक्रम

द्वितीय अध्याय

बुद्धपूर्व भारतीय समाज का ऐतिहासिक विकासक्रम

भारतीय समाज का ऐतिहासिक विकासक्रम

प्रथम अध्याय में बौद्ध साहित्य एवं उसकी पृष्ठभूमि के रूप में वैदिक युग एवं परवर्ती साहित्य का विवेचन किया जा चुका है। साहित्य अपने आप में स्वतन्त्र एवं शेष जगत् से विच्छिन्न वस्तु नहीं है। साहित्य में विभिन्न युगों की सामाजिक स्थितियों एवं मानवीय संवेदनाओं के अन्योन्याश्रित सम्बन्धों और जीवन पर उनके प्रभावों की ही कलात्मक विधि से अभिव्यक्ति होती है। अतः साहित्य समाज की विभिन्न प्रवृत्तियों के युगानुरूप परिवर्तन एवं प्रवाह की ही अभिव्यञ्जना होती है। बौद्ध साहित्य के सन्दर्भ में भी यही बात चरितार्थ होती है। सर्वप्रथम दो विचारणीय विषय हैं—प्रथम 'समाज' क्या है?, द्वितीय उसके विकास का भारतीय सन्दर्भ में ऐतिहासिक विकासक्रम क्या रहा है? इन दोनों प्रश्नों के विवेचन की प्रक्रिया में इस अध्याय के उद्देश्य की पूर्ति हो जायगी।

समाज मनुष्यों की आकस्मिक समूह (भीड़) नहीं है, अपितु वह विभिन्न व्यक्तियों एवं वर्गों के पारस्परिक सम्बन्धों पर आधृत एक सुनियोजित एवं सुनिश्चित सङ्गठन है, जिसमें व्यक्ति पहली (निचली) इकाई है और देश या राज्य अन्तिम (ऊपरी) इकाई है। इन दोनों के मध्य परिवार, कुल, वर्ण, जाति, ग्राम, नगर एवँ राज्य आदि का स्थान होता है। इस प्रकार सामाजिक सम्बन्धों का विस्तार ही समाज है, जिसमें व्यक्ति वस्तुतः अपनी बुद्धि, चरित्र एवं आदर्शों से महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है। सामाजिक सम्बन्धों के विकास के क्रम में ही संस्कृति एवं सभ्यता का विकास होता है। सामाजिक सङ्गठन के सञ्चालन के लिये राजा, दार्शनिक, पुरोहित, साहित्यकार, कलाकार आदि सभी अपनी अपनी विधि से योगदान करते हैं। उन्हीं के प्रयासों से संस्कृति एवं सभ्यता की नयी नयी भूमियों और आयामों का उद्घाटन होता है। इन्हीं सबके प्रामाणिक साक्षात्कार के आधार पर विकासक्रम का जो अभिलेख प्रस्तुत किया जाता है उसी का नाम 'इतिहास' है। इस प्रकार व्यक्तियों का, चाहे वे कितने भी महत्त्वपूर्ण एवं महान् क्यों न हो, अभिलेख नहीं होता, अपितु पूरे समाज एवं उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों का होता है। इसी सिद्धान्त के अनुसार यहाँ भारतीय समाज के विकास-क्रम का अध्ययन नृतत्त्वशास्त्र, पुरातत्त्व, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, और राजनीतिशास्त्र के आधार पर किया जायगा।

समाज के ऐतिहासिक विकासक्रम की अवस्थाएँ

समाजशास्त्र, पुरातत्व, अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र अपने अपने ढंग से मानव समाज के अब तक के विकास के इतिहास को चार-चार युगों में विभाजित करते हैं। अधोलिखित सारिणी से इन युगों की अवस्थाओं का परिचय प्राप्त हो सकता है—

क्र०सं०	दृष्टियां	प्रथम अवस्था	द्वितीय अवस्था	तृतीय अवस्था	चतुर्थ अवस्था
१.	समाजशास्त्रीय दृष्टि	वन्यावस्था	वर्वरावस्था	प्रारम्भिक सभ्यावस्था	विकसित सभ्यावस्था
२.	पुरातात्त्विक दृष्टि	प्रस्तरयुगीन अवस्था	ताम्र एवं कांस्ययुगीन	लौहयुगीन अवस्था	यन्त्रयुगीन अवस्था
३.	अर्थशास्त्रीय दृष्टि	शिकारयुगीन अवस्था	पशुपालन की अवस्था	कृषियुगीन अवस्था	औद्योगिकयुगीन अवस्था
४.	राजशास्त्रीय दृष्टि	कवीलायुगीन अवस्था	अराजकयुगीन अवस्था	सामन्तयुगीन अवस्था	लोकतन्त्र या राष्ट्रयुगीन अवस्था

उपर्युक्त सारिणी से यह स्पष्ट है कि अपने इतिहास के आदिम (प्रारम्भिक) काल से लेकर अब तक मनुष्य ने जो विकासयात्रा की है उसे विभिन्न दृष्टियों से मोटे तौर पर चार–चार अवस्थाओं में विभक्त किया जा सकता है कि जिनका विश्लेषण नीचे किया जा रहा है।

समाजशास्त्रीय दृष्टि से सामाजिक विकास की अवस्थाएँ

समाजशास्त्र सभ्यता के विकास की विभिन्न अवस्थाओं और सामाजिक संरचना के विविध तत्त्वों का अध्ययन करता है। ऐतिहासिक दृष्टि से मानव सभ्यता विकसित होती हुई आदिकाल से अब तक वह जिन अवस्थाओं से निकली है उन्हें समाजशास्त्रियों ने ये चार नाम दिये हैं–

(१) वन्यावस्था, (२) बर्वरावस्था, (३) प्रारम्भिक सभ्यावस्था एवं (४) विकसित सभ्यावस्था।

(१) वन्यावस्था–यह अवस्था आदि मानव से सम्बद्ध थी। विकासवाद के सिद्धान्त के अनुसार मानव का उद्भव वनमानुष (एप) से हुआ था। वनमानुष वन्दरों की वह जाति थी जो पैरों से सीधे खड़ी होकर पीठ की रीढ सीधी करके चलने लगी थी। इस तरह, पिछले दो पैरों पर खड़े होकर चलना तथा अगले दो पैरों को हाथ के रूप में प्रयुक्त करना मानव को बन्दरों से पृथक् करने वाला प्रथम लक्षण था। इस प्रकार बाह्य शरीर में परिवर्तन हो जाने के बाद धीरे–धीरे वनमानुष की पूँछ भी समाप्त हो गयी और उसके गुण एवं स्वभाव में भी परिवर्तन हुआ। अब वह 'वनमानुष' न रहकर सोच–विचार करने वाला तथा हंसने वाला मानव बन गया।[1] फलतः वह बन्दरों की तरह पेड़ों पर न रहकर अब भूमितल पर निवास करने लगा। वह धूप, वर्षा, आँधी, तूफान तथा जङ्गली जानवरों आदि से अपने को सुरक्षित रखने के लिये पहाड़ों की गुफाओं में रहने लगा। आत्मरक्षा के लिये वह पशुओं के झुण्ड में रहता था तथा पत्थरों से जानवरों का शिकार करके उनका कच्चा मांस खाता था। पत्थर के टुकड़ों से तीक्ष्ण (धारदार) अस्त्र बनाकर उन्हीं से जानवरों को

१. तर्कशास्त्र में मनुष्य की परिभाषा इस प्रकार बतायी जाती है 'मैन इज ए लाफिंग एनीमल'। कुछ अन्य लोगों के अनुसार मनुष्य की परिभाषा है कि "मनुष्य एक चिन्तनशील प्राणी है।" (मैन इज ए थिंकिंग एनीमल)।

मारता था। वह प्रायः नदियों के किनारे पहाड़ी गुफाओं में ही रहता था, ताकि सुविधा से जल प्राप्त किया जा सके।

धीरे–धीरे जङ्गलों में लकड़ियों के घर्षण (रगड़) से जो अग्नि लगती थी उसे देखकर आदिम मानव ने चक्र–भस्म पत्थर के घर्षण से अग्नि उत्पन्न करना सीखा। इस तरह मानव के विकास में अग्नि दूसरा बड़ा आविष्कार था। इस अग्नि में वह शिकार को भूनकर खाने लगा तथा अग्नि जलाकर अंधेरे में प्रकाश (रोशनी) भी करने लगा। विकास की इसी अवस्था को 'वन्यावस्था' कहा जाता है। जबकि मनुष्य में पशु के गुण ही अधिक थे। वह नग्न और झुण्डों में रहता था तथा सभी कार्य समूह में करता था। वस्तुतः यह मानव समाज के विकास की प्रथमावस्था थी, जिसमें मनुष्य का जीवन पूर्णतः प्रकृति पर निर्भर था। वह प्रकृति से सीधे अपनी खाद्यसामग्री एकत्र करता और उसमें बिना कोई परिवर्तन किये उसे खा जाता था। मानव जाति के इतिहास में यह अवस्था लाखों वर्ष तक विद्यमान रही। समाजशास्त्रियों ने इसे अपर सेवेजरी (पूर्ववर्ती वन्यावस्था) और लोअर सेवेजरी (परवर्ती वन्यावस्था) में विभक्त किया है। यहाँ उनके सूक्ष्म विश्लेषण की आवश्यकता नहीं हैं।

(२) **वर्वरावस्था**– वन्यावस्था से आगे बढ़कर मनुष्य विकास की दूसरी अवस्था में पहुँचा जिसे 'वर्वरावस्था' कहा जाता है। 'वारवेस्स' का तात्पर्य असभ्य और अमानवीय होता है। इस अवस्था में भी मनुष्य नंगा रहता था, किन्तु खाद्यसञ्चय के उपायों में उसने कुछ नवीन आविष्कार किये। जंगल में घूम–घूम कर शिकार खेलने की अपेक्षा अब वह जङ्गल के अनेक जानवरों को पकड़कर उन्हें पालतू बनाने लगा। इन जानवरों से ही वह दूध प्राप्त करता तथा उन्हीं को काट कर खाता भी था। साथ ही वह पेड़–पौधों का रोपण भी करने लगा। इस प्रकार विकास की इस अवस्था में प्राकृतिक स्रोतों के साथ कृत्रिम उत्पादन–साधनों का भी आविष्कार हुआ। अब मनुष्य कांस्य एवं ताम्र जैसी धातुओं से भाला, छुरा, बर्तन, आभूषण आदि का सामान्य प्रयोग करने लगा। इस अवस्था में परिवार अथवा व्यक्ति समाज की इकाई नहीं था और न विवाह की ही संस्था प्रचलित थी। वस्तुतः मानव इस अवस्था में भी कबीलों में ही रहता था, किन्तु विभिन्न कबीलों की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता अब समाप्त हो चुकी थी और वे अब पड़ोसी के रूप में साथ–साथ रहने लगे तथा सहयोग करने लगे थे। समाजशास्त्रियों के अनुसार, इस अवस्था के भी वन्यावस्था की तरह दो भाग थे– १. पूर्ववर्ती वर्वरावस्था एवं २. परवर्ती वर्वरावस्था। सही अर्थों में सुसङ्गठित और सामाजिक सम्बन्धों के जाल में बद्ध समाज का प्रारम्भ परवर्ती वर्वरावस्था में हुआ, जबकि मनुष्य कबीलों की सामूहिक जीवनपद्धति को त्यागकर परिवार को विकास की दिशा में अग्रसर हुआ।

(३) **प्रारम्भिक सभ्यावस्था**– वर्वरावस्था की समाप्ति उस समय हुई जब मनुष्य अपना यायावरी (घुमक्कड़) जीवन छोड़कर बस्तियाँ बसाकर रहने लगा। इस समय तक मनुष्य ने कांस्य, ताम्र आदि धातुओं के धारदार अस्त्र तैयार कर लिये थे। जिनकी सहायता से वह पशु–पक्षियों का शिकार कर सकता था। पेड़–पौधों को काट सकता था और धरती को खोद सकता था। भाला, बर्छी, छुरा, चाकू, हल, फावड़ा, खुरपी आदि शिकार, कृषि आदि के आविष्कार के कारण मिट्टी खोदकर, लकड़ी काटकर घर बनाना, कूआँ खोदना, खेत जोतना, बाग–बगीचा लगाना और पशुओं को हल, गाड़ी आदि कार्यों

में प्रयुक्त करना सीख लिया था। वर्वरावस्था में वह एक स्थान से दूसरे स्थान तक घूमता रहता था। जङ्गल को जलाकर बीज बो देता था और कुछ वर्षों बाद उस स्थान को छोड़कर अन्यत्र चला जाता था। प्रारम्भिक सभ्यावस्था में धातु–शस्त्रों का आविष्कार कर लेने के बाद, वह अपनी सुविधा के अनुसार, स्थान देखकर वहीं बसने लगा तथा जङ्गलों को साफ कर हल की सहायता के बीज बोने एवं हंसुओं की सहायता से फसल काटने लगा।

मनुष्य द्वारा बनाये गये तत्कालीन हथियारों, मकानों, गाँवों आदि की पुरातात्त्विक उपलब्धि यह प्रमाणित करती है कि यह प्रारम्भिक सभ्यावस्था ही प्रारम्भिक कृषियुगीन सामाजिक अवस्था थी। इस काल में एक कुल या गोत्र में अनेक परिवारों के लोग रहने लगे। जिनके पास अपनी–अपनी पृथक् व्यक्तिगत सम्पत्ति थी। ये सभी लोग अपने ग्राम, नगर तथा राज्य, धर्म आदि के विषय में भी चिन्तन करने लगे। इस काल में अभी तक राजतन्त्र का सम्यक विकास नहीं हुआ था। वस्तियों की आबादी का सामाजिक सङ्गठन सहयोग और समानता पर आधृत था। अब ये लोग प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के लिये अपनी बुद्धि तथा बल से अनेक उपाय करने लगे थे और उत्पादन के कृत्रिम साधनों का भी अधिक से अधिक उपयोग करने लगे थे। इस तरह मानव–सभ्यता का विकास तीव्र गति से प्रारम्भ हुआ।

प्रारम्भिक सभ्यावस्था का काल कई हजार वर्षों का था। इसी काल में मनुष्य ने कार्य की सुविधा के लिये श्रम–विभाजन की पद्धति अपनायी जिसकी परिणति वर्ण–व्यवस्था एवं जाति–व्यवस्था में हुई। इस काल में राजतन्त्र का पूर्ण विकास हुआ। सामन्तों और पुरोहितों की श्रेष्ठता मान्य थी। निम्नवर्गीय जनता राजा और सामन्त के नियन्त्रण में रहने के लिये विवश थी। स्त्रियों की समाज में अत्यन्त दयनीय स्थिति हो गयी। वे पुरुष की दासी बनकर जीवन व्यतीत करने लगी। इसी काल में बड़े नगरों का विकास हुआ, किन्तु ये नगर राज्यों की राजधानी होते थे या वाणिज्य के केन्द्र। किन्तु नगर और ग्रामीण जीवन के स्वरूप में अधिक अन्तर नहीं था। मनुष्य मुख्यतः कृषि पर ही अवलम्बित था। जिससे भोजन (खान–पान), या वेश–भूषा (रहन–सहन) आदि में अधिक कृत्रिमता नहीं थी।

वर्वरावस्था में मनुष्य ने भाषा का भी विकास किया था। प्रारम्भिक सभ्यावस्था में उसने भाषा को लिखित रूप में सम्प्रेषित करने के लिये लिपियों का विकास किया। इसी तरह वर्वरावस्था में जादू, टोना आदि के स्थान पर अब धर्म का प्रादुर्भाव हुआ। इस काल में साहित्य तथा कलाएँ धर्म में ही समाविष्ट थीं। पुरातत्त्व, राजशास्त्र एवं अर्थशास्त्र की दृष्टि से यह क्रमशः लौहयुगीन, सामन्तयुगीन एवं कृषियुगीन सभ्यता की अवस्था थी, जिनके सम्बन्ध में आगे विचार किया जायगा।

(४) विकसित सभ्यावस्था– इस अवस्था में मनुष्य ने भौतिक उन्नति के विविध साधनों का आविष्कार किया। अपने बुद्धि–बल से वह भाषा, बिजली तथा अन्य शक्तियों से यन्त्रों का सञ्चालन करके बहुत बड़े पैमाने पर जीवनोपयोगी वस्तुओं का उत्पादन करने लगा एवं तीव्र गति से चलने वाले यान्त्रिक यानों (सवारियों) का उपयोग करने गला। रासायनिक क्रियाओं द्वारा अनेक प्रकार की कृत्रिम वस्तुओं का भी निर्माण होने लगा। फलतः सामाजिक भेदभाव में कमी हुई और स्त्रियों को शिक्षा एवं स्वतन्त्रता के अधिकार प्राप्त हुए। उनकी वेश–भूषा, खान–पान, रहन–सहन आदि में मौलिक परिवर्तन हो गया।

पुरानी मान्यताएँ अब आधुनिक सभ्यता के कारण हटने लगीं। इस तरह आधुनिक सभ्यता ही, जिसका प्रारम्भ यूरोप में १५वीं, १६वीं शताब्दी में हुआ था, मानव समाज की विकसित सभ्यावस्था है। अन्य दृष्टियों से इसे यन्त्रयुग, औद्योगिक युग तथा लोकतान्त्रिक युग भी कहा जा सकता है।

पुरातात्त्विक दृष्टि से सामाजिक विकास की अवस्थाएँ

जहाँ तक आदिम मानव की शारीरिक संरचना और जीवन–विधि का प्रश्न है इस विषय में नृतत्त्वशास्त्रियों और पुरातत्त्वविदों के विचारों में समानता है। मानव के शरीरिक तथा मानसिक विकास का पता लगाने के लिये भूमि में सुरक्षित प्राचीन अस्थियों, मूर्तियों, रत्नों, धातुखण्डों आदि का अन्वेषण पुरातत्त्वशास्त्र करता है। नृतत्वशास्त्र एवं पुरातत्त्वशास्त्र में मानव जाति के विकास की विभिन्न अवस्थाओं का नामकरण, उत्पादन की साधक धातुओं को ध्यान में रखकर, किया जाता है। वे नाम निम्नलिखित हैं–

(१) प्रस्तरयुगीन अवस्था, (२) ताम्र एवं कांस्ययुगीन अवस्था,
(३) लौहयुगीन अवस्था, एवं (४) यन्त्रयुगीन अवस्था।

(१) प्रस्तरयुगीन अवस्था– मानव जाति के विकास के इतिहास में यह प्रारम्भिक काल लाखों वर्ष का था। मनुष्य ने दो पांव पर खड़े होकर जिस दिन चलना प्रारम्भ किया, तब से लेकर वर्वरावस्था के पूर्व तक मानव अपने खाद्य–सञ्चय तथा अपनी आत्मरक्षा के लिये जिन अस्त्रों का उपयोग करता था वे प्रस्तर के ही बने होते थे। इस काल में मानव पर्वतों की गुफाओं में रहता था और पत्थर के अनेक प्रकार के आयुध (हथियार) बनाता था। दक्षिणी अफ्रीका में आदिम मानव के जो अवशेष प्राप्त हुए हैं, उससे यह प्रमाणित होता है कि यहाँ का आदिम मानव (आस्ट्रैलोपिथैक्स) नदी, झीलों के किनारे या गुफाओं में रहता था। वह नदी–तट के गोल पत्थरों को एक तल या दोनों तलों से तोड़कर अपने उपकरण बनाता था। ऐसे पत्थरों को 'चापर' कहा जाता है। यह मानव आज से प्रायः २० लाख वर्ष पूर्व विद्यमान था। इसे 'पूर्व पुरायुगकालीन' मानव कहा जाता है।

मानव जाति के विकास का दूसरा क्रम एशिया महाद्वीप में प्रारम्भ हुआ। इस काल के मानव को 'पिथेकथ्रोपस' नाम दिया गया है। इसके अवशेष जावा (इण्डोनेशिया) में प्राप्त हुए हैं। इसलिये इसे 'जावा–मानव' कहते हैं।[१] 'पेकिंग–मानव' का अवशेष भी जावा–मानव के कुछ समय बाद का ही है। एशिया और अफ्रीका का यह आदिम मानव पत्थर के खण्डों से हस्त–कुठार (हैन्डेक्स), खुर्चनी (स्क्रैपर) आदि उपकरण भी बनाता था, जिससे वह खाद्य–सामग्री कुचलने एवं काटने का कार्य करता था। यह प्रस्तर–युग का प्रारम्भिक काल था जिसे 'पूर्व पुराश्मकाल' कहा जाता है। उत्तरोत्तर आदिम मानव अन्य प्रकार के प्रस्तर–अस्त्रों को बनाने लगा। ऐसे पत्थरों के अवशेष विश्व के विभिन्न स्थानों की खुदाइयों में प्राप्त हुए हैं। ये सभी मनुष्य के वन्यावस्था के अस्त्र हैं। उनके ये अस्त्र यह सिद्ध करते हैं कि तत्कालीन मानव अभी वन्यावस्था (एज ऑफ वेवेजरी) में था और सभ्यता से अभी दूर था।

प्रस्तरयुग को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है–

१. पुरा पाषाण युग (पैलियोलिथिक),

---

१. विदुला जायसवाल, 'पूर्व–पुराश्म कालीन मानव और उसका सांस्कृतिक विकास' पुराकल्प, अंक–१०, जुलाई–१९७४, पृष्ठ ३४–३५।

२. मध्य पाषाण युग

३. नव पाषाण युग (नियोलिथिक)

नव पाषाण युग में मानव प्रस्तर के बड़े–बड़े खण्डों से शवगर्त (कब्र) ढकने लगा तथा प्रस्तर के बर्तन, सन्दूक आदि का प्रयोग करने लगा।

(२) ताम्रयुगीन एवं कांस्ययुगीन अवस्थाएँ– इस अवस्था में मनुष्य ताम्र (तांबा) एवं कांस्य (कांसा) नामक धातुओं का संग्रह कर उनसे अस्त्रों का निर्माण करने लगा। इन धातुओं को खनि (खदानों) अथवा नदियों के कगारों से निकालकर इन को अग्नि में तपाकर पत्थर, हथौड़े आदि से पीटकर उन्हें आकार दिया जाता था। परन्तु बाद में आकार (सांचे) में ढालकर अस्त्र और पात्र (बर्त्तन) का रूप दिया जाने लगा। इस कला का उन्हें जो ज्ञान था उससे प्रमाणित होता है कि इस काल का मनुष्य बस्तियां बसाकर रहने लगा था और उसकी बुद्धि पर्याप्त विकसित हो चुकी थी। इस तरह वह बर्बरावस्था में रहते हुए भी सभ्यता की देहली पर पहुँच चुका था। पुरातात्त्विक उत्खनन में सबसे निचले स्तर में पाषाण–युग के अस्त्र एवं उपकरण तथा उसके ऊपरी स्तर पर ताम्र एवं कांस्ययुग के अस्त्र एवं उपकरण प्राप्त होते हैं। यह इस बात का प्रमाण है कि पाषाणयुग के बाद ही कांस्ययुग और ताम्रयुग का प्रारम्भ हुआ था।

(३) लौहयुगीन अवस्था– धातुओं में प्लैटिनम के बाद लोहा ही सबसे कठोर धातु है। यह अधिक मात्रा में पाया भी जाता है। इसी का विशुद्ध रूप स्पात है। जो अत्यन्त क़ठोर होता है। मानव सभ्यता के विकास में लोहे के आविष्कार से एक बहुत बड़ी क्रान्ति हुई। प्रस्तर के अस्त्र अधिक तेज नहीं होते थे और अधिक आघात से टूट भी जाते थे। कांस्य और ताम्र में भी नरमी होती है जिससे उनसे बने हथियार भी कठोर नहीं होते थे। इसलिये लोहे की उपलब्धि मनुष्य के लिये बहुत ही महत्त्वपूर्ण थी। इससे मनुष्य विभिन्न प्रकार के अस्त्रों का, जैसे–छुरा, भाला, तीर, चाकू, तलवार आदि घरेलू उपयोग की वस्तुएँ, कील, छड़, कांटें, स्तम्भ, दरवाजे, सन्दूक आदि बनाने लगा। लोहे के प्रयोग के कारण मनुष्य की शक्ति बढ़ गयी और सैनिक एकत्र करके युद्ध करने लगा। राज्यों की स्थापना होने लगी। लौह यन्त्र, जैसे–हल का फाल, कुदाली, फावड़ा, खुरपी, गँड़ासा, हँसिया आदि के प्रयोग द्वारा सफलतापूर्वक कृषि–कार्य होने लगा जिससे उत्पादन में वृद्धि हुई। पश्चिम एशिया में १४०० ई०पू० तक ताम्र अथवा कांस्य का मुख्य रूप से प्रचलन था; किन्तु उसके बाद प्रायः ८०० ई०पू० तक प्रत्येक देश में लोहे का प्रचलन भी हो गया।[1]

(४) यन्त्रयुगीन अवस्था– लौहयुगीन अवस्था का ही विस्तृत रूप यन्त्रयुगीन अवस्था थी। यद्यपि मनुष्य, अपने श्रम की बचत के लिये, यन्त्रों का आविष्कार बहुत पहले ही कर चुका था, किन्तु यन्त्र मानवीय शक्ति से ही सञ्चालित होते थे। इस तरह ओखली, मूसल, सूप, चलनी, पत्थर एवं लोहे के अस्त्र, कोल्हू, हल तथा अन्य खेती के यन्त्र ही थे जिनकी सहायता से मनुष्य अपना समस्त कार्य करता था। किन्तु इन सब कार्यों में उत्पादन की गति अधिक तीव्र नहीं थी। ज्यों–ज्यों मनुष्य की बुद्धि अधिक विकसित होती गयी वह विज्ञान की सहायता से ऐसी शक्तियों की खोज करने लगा जिनसे यन्त्रों को सञ्चालित कर उत्पादन की गति बढ़ायी जा सके।

इस प्रयास में इसे १६वीं शताब्दी के बाद सफलता भी मिलने लगी। वाष्प की

---

१. श्यामाचरण दूबे, मानव और संस्कृति, प्रथम संस्करण–१९६० (दिल्ली), पृष्ठ–४४।

शक्ति के आविष्कार के बाद रेल, जहाज, मोटर, तेल–इंजन आदि में मनुष्य का हाथ नहीं लगता, अपितु वाष्प, तेल, बिजली आदि शक्तियों द्वारा गति उत्पन्न कर यन्त्र को चालित किया जाता है। ऐसे ही यन्त्र को आधुनिक युग में वास्तविक यन्त्र माना जाता है। इन यन्त्रों की सहायता से आधुनिक मानव ने प्रकृति पर विजय प्राप्त करने का सतत प्रयास किया है। ज्यों–ज्यों उसे सफलता मिलती गयी त्यों–त्यों आज की सभ्यता भी अत्यन्त जटिल वैज्ञानिक और तीव्र गति वाली होती गयी है।

इस वैज्ञानिक प्रगति ने न केवल मनुष्य के भौतिक जीवन, भोजन–वस्त्र, रीति–रिवाज, आवास, व्यवसाय आदि में आमूल परिवर्तन कर दिया, अपितु उसकी चिन्तनधारा एवं दृष्टिकोण को भी प्रभावित किया। इसी कारण आधुनिक समाज में राजतन्त्र, धर्म, पौराणिकता आदि के प्रति विद्रोह की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई तथा उसमें जीवन को यान्त्रिक उपकरणों पर निर्भर करने के लिये विवशता आ गयी। मानवसभ्यता के इतिहास में यह बहुत बड़े परिवर्तन का युग है, जबकि मनुष्य ने पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण को अतिक्रान्त कर अन्तरिक्ष में प्रवेश किया है।

अर्थशास्त्रीय दृष्टि से सामाजिक विकास की अवस्थाएँ

कार्ल मार्क्स ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'केपिटल' में यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि मनुष्य का जीवन एवं संस्कृति मूलतः अर्थ पर ही आधृत है। मानव सभ्यता का जो भी विकास हुआ है वह भवन के ऊपरी ढाँचें (दिवाल, छत आदि) के समान है और अर्थ इसकी नींव है। यदि मानव जाति के आर्थिक इतिहास को इस दृष्टि से विवेचित किया जाय तो हमें सामाजिक विकास की अधोलिखित चार अवस्थाएँ दिखायी पड़ेंगी–

(१) शिकारयुगीन अवस्था, (२) पशुपालनयुगीन अवस्था, (३) कृषियुगीन अवस्था, (४) औद्योगिकयुगीन अवस्था।

(१) शिकारयुगीन अवस्था– दो पैरों पर खड़ा होने वाला (इरेक्ट्स) मानव वन्यावस्था में अनेक अर्थों में पशु से अधिक विकसित नहीं था। शक्तिशाली जङ्गली जानवर छोटे बलहीन जानवर का शिकार कर अपना उदर–पोषण करते हैं। इसी तरह वन्यावस्था का मानव भी प्रायः शिकार द्वारा ही अपना खाद्य–सञ्चय करता था। वह शेर चीते आदि के समान शक्तिशाली नहीं था कि उन्हें दबोच कर मार डालता! अतः इस काल का मानव समूह बनाकर पशुओं पर हाँका डालता और उन्हें दौड़ाकर ऊँची चट्टान से नीचे गिरा देता था अथवा पत्थर के धारदार अस्त्र (वर्छी, गदा, पाषाणफलक, खुरचनी आदि) बनाकर उनसे पशुओं का शिकार करता था। वह पशु–चर्म की ताँत से रस्सी का कार्य लेता और पशुओं की पिछली टांगों को उनमें फंसाकर उन्हें पकड़ लेता था। वह गेरु से अपनी गुफाओं में जो चित्र बनाता था उनमें शिकार के इन दृश्यों का चित्रण हुआ है।[1] इस अवस्था में शिकार की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान पर वह समूह के साथ घूमा करता था। शिकार के अतिरिक्त वह पेड़–पौधों के फलों और कन्द–मूल को खाकर भी अपना उदर पोषण करता था। खाद्य–सञ्चय की इस प्रक्रिया में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। बड़े पशुओं का शिकार अकेले करना सम्भव नहीं था, दूसरे सामूहिक शिकार करने के कारण वन्यावस्था के मानव को सामूहिक रूप में रहकर जीवन बिताना आवश्यक था। अपनी जीवन–रक्षा के लिये तथा शिकार की सुविधा की दृष्टि से वह नदी या झील के

१. रिपुदमन सिंह, शारीरिक मानव विज्ञान, प्रथम संस्करण–१९७४ (लखनऊ), पृष्ठ–२५६।

किनोर, पहाड़ी गुफाओं या आगे उभरी हुई चट्टानों के नीचे निवास करता था। शिकार प्राप्त करने पर पूरे कबीले के लोग सामूहिक नृत्य करते थे। वे भोजन भी समूह में ही करते थे और अवकाश के समय दीवारों पर अपने जीवन के कार्यों से सम्बद्ध दृश्यों को चित्राङ्कित कर दिया करते थे। ये गुफा–चित्र और शिला–चित्र वन्यावस्था के मानव की आर्थिक क्रियाओं का स्पष्ट रूप प्रदर्शित करते हैं।

(२) पशुपालनयुगीन अवस्था– वन्यावस्था के बाद, विकास की द्वितीय (बर्बरावस्था) में मनुष्य में जब कुछ बुद्धि का विकास हुआ तो उसने पशुओं का मांस प्राप्त करने का एक नया मार्ग आविष्कृत किया। उसने वन्य पशुओं के बच्चों को पकड़कर उन्हें पालना प्रारम्भ किया। प्रजनन द्वारा इन पशुओं में सङ्ख्यावृद्धि होती गयी। इस तरह शिकार न मिलने पर ये पालित पशु ही तत्कालीन मानव की खाद्यसामग्री का कार्य करते थे। अथवा मनुष्य उनके दूध से ही अपनी भूख भी शान्त करता था। इस युग में विभिन्न कबीले अपने–अपने पशुओं के झुण्ड लेकर एक स्थान से दूसरे स्थान तक घूमते रहते थे। पशु–चारण–युग कब प्रारम्भ हुआ, यह कहना कठिन है। वस्तुतः बर्बरावस्था के दो भाग थे– १. पशुचारण–युग और २. हल–युग। वर्वरावस्था के साथ ही मनुष्य ने पशु–चारण की पद्धति अपनायी, किन्तु अनुभव से मनुष्य ने यह सीखा कि पशुओं के झुण्ड को लेकर इधर–उधर घूमते रहने से अनेक प्रकार के सङ्कट और असुविधाएँ उत्पन्न होती हैं।

अनुभव से मनुष्य ने यह भी जान लिया कि खाद्यान्नों और फलों के बीज गाड़ने पर उनमें पौधे निकल आते हैं और वे फिर बड़े होकर फल देने लगते हैं। अतः मनुष्य ने एक स्थान पर कुछ समय तक रहकर पेड़ों को काटना और प्रस्तर के हल से भूमि को जोतना, बीज बोना प्रारम्भ किया। उस समय पशुचारण के साथ यह भी कार्य होने लगा। इसलिये इस युग को 'हलयुग' कहा जाता है। ये दोनों युग एक ही कालविभाग के अन्तर्गत आते हैं; क्योंकि पशुचारण और बीजारोपण द्वारा सामान्य कृषि एक दूसरे के पूरक हैं। इस काल में एक स्थान में स्थिर होकर रहने के कारण मनुष्य मैदानों में झोपड़ियां बनाकर रहने लगा। यहाँ वह ताम्र और कांस्य के बने हुए कुदाल एवं हल की सहायता से खेती करने लगा।

कबीलों की भाषा, धर्म, पुराकथा, गीत, नृत्य एवं भौतिक साधनों का विकास एवं आदान–प्रदान भी इसी अवस्था में हुआ। इसी प्रक्रिया में विभिन्न कबीलों के बीच परस्पर सम्बन्ध होने से रक्त–मिश्रण भी होने लगा। इस युग में विनिमय का साधन पशु ही हुआ करते थे।[1]

(३) कृषियुगीन अवस्था– वर्वरावस्था के अन्तिम चरण में जब मनुष्य ने हल का आविष्कार किया तो क्रमशः कृषिसम्बन्धी विविध बातों की जामकारी उसे प्राप्त होती गयी। वन्य वनस्पतियों में जिस पौधे का बीज उसे खाने के लिये उपयुक्त जान पड़ा उसे वह खेत जोतकर उनमें बोने लगा। इस तरह जङ्गलों को काटकर मैदानी भू–भागों में खेती की जाने लगी। कृषि की यह अनिवार्यता थी कि ग्राम बसाये जाँय। ज्यों ज्यों मनुष्यों की सङ्ख्या बढ़ती गयी ग्रामीण त्यों त्यों वस्तियां भी बनती गयीं और कृषि से सम्बद्ध वस्तुओं का व्यवसाय भी प्रारम्भ हो गया। खेती में लोहे एवं लकड़ी के जिन उपकरणों का प्रयोग होता था, उन्हें बनाने वालों का पृथक् व्यवसाय बन गया। इसी तरह खाद्यान्नों को एक स्थान

१. रिपुदमन सिंह, शारीरिक मानव–विज्ञान, प्रथम संस्करण–१९७४ (लखनऊ), पृष्ठ–२५६।

से दूसरे स्थान तक ले जाने के लिये गाड़ियों, रथों, आदि का प्रयोग होने लगा। क्रमशः ग्रामों में विविध प्रकार के व्यवसायों का कार्य प्रारम्भ हुआ और इस प्रकार उनकी जातियां भी बन गयी, जैसे—लोहार, बढ़ई, कुम्हार, रथकार आदि।

निष्कर्ष यह है कि कृषि—व्यवस्था के प्रारम्भ के साथ ही श्रम—विभाजन की प्रथा भी प्रारम्भ हो गयी। अब कबीलों, कुलों, गोत्रों के स्थान पर व्यवसायी लोगों की बस्तियाँ बनने लगीं। पशुओं के चर्म एवं अस्थि से जूता, मशक तथा अस्थियों से अनेक प्रकार की वस्तुएँ बनायी जाने लगीं। इनका पेशा करने वाले चर्मकार, शिल्पकार आदि हुए। खेतों में कपास भी उत्पन्न की जाने लगी, जिससे कपड़े बनने लगे। इन कपड़ों को बुनने वालों का पृथक् व्यवसाय बन गया। ये विभिन्न व्यवसाय वाले लोग सहयोग के आधार पर ग्रामों में बस कर अपना जीवन व्यतीत करने लगे।

इस प्रकार सभ्यता के विकास में कृषियुग का सहयोग (देन) बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इस युग में मानव ने वन्य एवं बर्बर जीवन की सीमा से बाहर आकर सभ्यता के युग में प्रवेश किया और वह यायावरी (घुमक्कड़ी) वृत्ति को त्यागकर बस्तियों में अपने घर बनाकर रहने लगा। मकान बनाने की कला भी इस युग में उत्तरोत्तर विकसित होती गयी। कृषि द्वारा उत्पादित वस्तुओं में तेलहन भी था जिससे तेल पेरने वाली जाति भी बन गयी। ये व्यवसायी (पेशेवर) लोग तैयार माल को गाँव के लोगों को देते थे और बाजार में भी बेंचते थे। प्रारम्भ में यह कार्य विनिमय के आधार पर होता था। जब सोना, चांदी, तांबें आदि का आविष्कार हुआ, तब इन धातुओं से सिक्के बनाये जाने लगे जो कृषिसम्बन्धी तथा घरेलू उपयोगी वस्तुओं के क्रय—विक्रय के माध्यम बने।

नदियों में आवागमन के लिये मनुष्य ने बर्वरावस्था में ही नाव का आविष्कार कर लिया था। अब कृषियुग में बड़ी नावों से कृषि तथा लघु उद्योगों में उत्पादित वस्तुएँ एक स्थान या देश से दूसरे स्थान या देश को विक्रय के लिये भेजी जाने लगीं। इस तरह व्यापार भी विशाल परिमाण (बड़े पैमाने) में प्रारम्भ हो गया। व्यापार के साथ ही नगरों का बसना भी प्रारम्भ हो गया। ये नगर प्रायः अधिकतः नदियों के तट पर या राजमार्गों पर होते थे, जहाँ से होकर रथ, बैल, गाड़ी, घोड़ा, ऊँट अथवा नावों से व्यापारी अपना माल लेकर आते जाते थे। बड़ी बड़ी नावों से इस काल में व्यापारी सुदूर देशों में भी जाने लगे थे।

पहले कहा जा चुका है कि कृषि के प्रारम्भ के साथ ही उद्योगों का भी प्रारम्भ हो गया था। समाज के सभी लोग यदि कृषि ही करने लगते तो जीवन के लिये उपयोगी अन्य वस्तुओं का निर्माण कौन करता? इसलिये सामाजिक सङ्गठन के आलेखित नियम के अनुसार सभी लोगों ने एक ही कार्य नहीं चुना, अपितु पृथक् पृथक् उद्योग—धन्धों में लग गये। ये लोग अपने—अपने घरों में लघु परिमाण (छोटे पैमाने) पर अपने हाथ से ही विविध वस्तुओं का उत्पादन करते थे और अपने सीमित क्षेत्र में ही स्वयं विक्रय कर देते थे।

किन्तु एक ही व्यक्ति का विभिन्न स्थानों पर जाकर अपनी उत्पादित वस्तुओं का विक्रय करना सुविधाजनक या सम्भव नहीं था। इसलिये वाणिज्य का पृथक् व्यवसाय बन गया। इस व्यवसाय को अपनाने वाले 'वणिक्' कहलाये जो उत्पादकों से वस्तुओं को क्रय कर लेते थे और उपभोक्ताओं को लाभ (मुनाफा) लेकर उनके हाथ बेंच देते थे। इस तरह मुद्रा का प्रचलन हो जाने के कारण ये वणिक् लाभ की राशि सञ्चित करते रहते थे और

फिर अधिक मात्रा में वस्तुएँ खरीदकर दूर–दूर के क्षेत्रों में जल–मार्ग या स्थल–मार्ग से भेजते थे। जहां वे वस्तुएँ अधिक महंगी बिकती थी।

इस तरह वणिक् जाति के लोग अधिक धन–संग्रह करके श्रेष्ठी बनने लगे जो लोगों को ब्याज पर ऋण भी देते थे। कभी कभी वे बड़े बड़े राजाओं और सामन्तों को भी ऋण दिया करते थे। इस प्रकार ज्यों ज्यों कृषियुगीन सभ्यता आगे बढ़ती गयी त्यों त्यों मानवीय चेतना का भी विकास होता गया। अब मानव साहित्य, कला, शिल्प तथा ज्ञान–विज्ञान के क्षेत्र में भी तीव्र गति से आगे बढ़ने लगा।

(४) औद्योगिकयुगीन अवस्था– कृषियुग में वाणिज्य द्वारा जो लोग अधिकाधिक धन–संग्रह कर लेते थे वे अपनी सञ्चित पूँजी का उपयोग करने के लिये अनेक अन्य उपाय अपनाने लगे। अधिक ब्याज पर ऋण देना, ऋण न चुकाने पर दूसरों की सम्पत्ति ले लेना, सामाजिक जीवन में अपने धन के प्रभाव से उच्च स्थान प्राप्त कर लेना आदि ऐसी बातें थीं जो पूँजीवाद के उदय का कारण बनीं। पूँजी के संग्रह और उसके सामाजिक प्रभाव के परिणामस्वरूप औद्योगीकरण का प्रारम्भ हुआ। अब अपनी पूँजी के बल पर वाणिज्य करने वाले उद्योगों के क्षेत्र में घुसने लगे। वे वस्त्रों का उत्पादन करने वाले शिल्पियों (कारीगरों) को अपने घर पर नौकर रखकर या उन्हें कच्चा माल देकर उनसे वस्त्रों का निर्माण कराने लगे। इस तरह बड़े पैमाने के उद्योगों का प्रारम्भ हुआ, जिनमें उत्पादित वस्तुओं का स्वामी पूँजीपति होता था और निर्माता शिल्पी (कारीगर) उसके नौकर होते थे। जो कारीगर अपने घरों में स्वतन्त्र रूप से माल उत्पन्न करते थे वे अब पूंजीपतियों के लिये माल उत्पन्न करने लगे। पूंजीपति बड़े पैमाने पर माल तैयार करने के लिये अधिक से अधिक कारीगरों को नौकर रखकर और दूर–दूर तक अपने माल को भेजकर बहुत अधिक पूँजी एकत्र करने लगे। इतना होते हुए भी उत्पादन के ढंग पुराने ही थे। अतः कम से कम व्यक्तियों द्वारा अधिक से अधिक माल का उत्पादन कैसे हो? इसी विचार के परिणामस्वरूप वैज्ञानिक अपने बुद्धि के बल से यन्त्रों के आविष्कार की ओर अग्रसर हुए। भाप का इंजन आविष्कृत हो जाने के बाद सभी वस्तुओं के उत्पादन के लिये इस यन्त्र (इन्जिन) का प्रयोग होने लगा। पूँजीपति वर्ग के लोग उच्च स्तर (बड़े पैमाने) पर कल–कारखाने स्थापित करके तथा कम से कम मजदूरों को रखकर अधिक से अधिक उत्पादन कराने लगे। जब प्रत्येक उत्पादन–क्षेत्र में इन्जिन की शक्ति का प्रयोग होने लगा तो समाज में एक नये प्रकार की क्रान्ति हुई, जिसे औद्योगिक क्रान्ति कहते हैं। इस क्रान्ति के परिणामस्वरूप गृह–उद्योगों का उत्तरोत्तर ह्रास होता गया और सभी वस्तुएँ बड़े कारखानों में निर्मित होने लगी। वाष्प के बाद तैल (पैट्रोल) और फिर विद्युत् से शक्ति उत्पन्न करके विशालकाय इन्जन चलाये जाने लगे, जिनसे विशाल यन्त्रगृहों (कारखानों) में दिन रात उत्पादन कार्य होने लगा।

इस तरह विज्ञान की सहायता से यन्त्रों के आविष्कार और इन यन्त्रों की सहायता से विशाल परिमाण (पैमानें) पर उत्पादन का परिणाम यह हुआ कि कारखानों में जो माल उत्पन्न होता था वह कुटीर–उद्योगों में उत्पादित माल की तुलना में बहुत सस्ता पड़ने लगा। परिणामस्वरूप गृह–उद्योगों में उत्पादित माल का बाजार समाप्त होता गया जिससे इन उद्योगों में कार्य करने वाले लोग बेकार होते गये। वे या तो पूंजीपतियों के कारखानों में नौकरी पाने का प्रयास करने लगे या गांवों में ही खेती पर निर्भर रहने लगे। जिन कारीगरों के पास अपने खेत नहीं थे उन्हें खेतिहर मजदूर बनने के लिये विवश होना

पड़ा। यही नहीं, खेती पर जनसङ्ख्या का भार भी बढ़ता गया जिससे नागरिकों की अनुमित (औसत) आय भी बहुत कम हो गयी। इस औद्योगीकरण से यह प्रभाव पड़ा कि विश्व के बहुत से देश बहुत अधिक धनी हो गये और कुछ बहुत अधिक निर्धन (गरीब)।। मध्यकाल में जिन देशों ने वाणिज्य करके अधिक धन अर्जित किया वहाँ औद्योगीकरण बहुत तेजी से हुआ। परिणामतः इन देशों के पूंजीपतियों ने बड़ी-बड़ी कम्पनियां बनाकर दूसरे देशों में अपना माल भेजना प्रारम्भ किया। इस प्रकार इन्होंने विश्व के बाजार पर अपना एकाधिकार कर विभिन्न देशों के धन का शोषण करके अपने देश का भण्डार भर लिया। उन देशों में निर्यात अधिक और आयात कम होने लगा, जिससे राष्ट्रीय सम्पत्ति में अभिवृद्धि हुई और इन देशों के नागरिकों की औसत आय भी बहुत बढ़ गयी। दूसरी ओर ये विदेशी व्यापारी जिन अविकसित देशों में पहुँचे वहाँ की जनता का न केवल आर्थिक शोषण ही किया, अपितु वहाँ अपना राजनीतिक और सांस्कृति प्रभुत्व भी स्थापित किया। उन्होंने इन देशों को अपना उपनिवेश बनाया और विशाल साम्राज्य स्थापित करके अपनी भौतिक सभ्यता का सर्वत्र विस्तार किया। औद्यागिक सभ्यता और यान्त्रिक सभ्यता का यह काल (दौर) सोलहवीं शताब्दी से प्रारम्भ हुआ और आज भी तीव्र गति से आगे ही बढ़ता जा रहा है।

राजनीतिक दृष्टि से सामाजिक विकास की अवस्थाएँ

राजनीति मानव जीवन के लिये अर्थ की तरह अनिवार्य वस्तु नहीं है। वस्तुतः वह अर्थ-व्यवस्था और धर्म से उत्पन्न मानवीय क्रिया है। भौतिक जीवन के लिये अर्थ आवश्यक है और धर्म का उद्देश्य है आत्मिक सन्तोष और शान्ति प्राप्त करना। इन दोनों की मानवीय क्रियाओं से सामाजिक जीवन में पारस्परिक व्यवहार और आत्मसंरक्षण की जो पद्धतियां विकसित हुई उन्होंने ही राजनीति का रूप ग्रहण कर लिया। बाद में मानव-समूहों के घात-प्रतिघात तथा स्वार्थगत प्रवृत्तियों के कारण देशों और राष्ट्रों का उदय हुआ और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का विकास हुआ। मानव समाज के राजनीतिक इतिहास में इन्हीं व्यवस्थाओं और सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है। इस दृष्टि से मानव समाज के इतिहास की चार अवस्थाएँ दिखायी पड़ती हैं-

(१) कबीलायुगीन अवस्था, (२) अराजकयुगीन अवस्था, (३) सामन्तयुगीन अवस्था, एवं (४) लोकतन्त्र या राष्ट्रयुगीन अवस्था।

(१) कबीलायुगीन अवस्था- पहले कहा जा चुका है कि पुरापाषाणकालीन (इरेक्ट्स) मानव कबीलों में रहता था। ये कबीले सामूहिक रूप से खाद्यसञ्चय करते थे। वे यावावर जीवन व्यतीत करते थे और जब भी अन्य कबीलों से परस्पर युद्ध (मुठभेड़) होता तो ये पशुओं की तरह मानव का शिकार भी करते और पराजित पक्ष के मानवों के लोगों को मार-मार कर खा जाते थे। इस अवस्था (काल) में न तो धर्म का उदय हुआ था और न राजनीति का ही। सामूहिक और समानता पर आधृत उनकी राजनीति थी। यह एक प्रकार की आदिम (प्रारम्भिक) समाजवादी व्यवस्था थी जिसमें न तो कबीलों के पास उनकी सामूहिक सञ्चित सम्पत्ति थी और न उनके किसी सदस्य के पास ही कोई व्यक्तिगत सम्पत्ति थी। खाद्य सामग्री, आखेट के लिये पत्थर के अस्त्र, पर्वतीय गुफा और आस पास का पर्वतीय क्षेत्र ही सम्पत्ति थी। इस पर सब का सामूहिक अधिकार था।

(२) अराजकयुगीन अवस्था- वन्यावस्था को पारकर जब मनुष्य वर्वरावस्था में पहुँचा और पशुपालन तथा वृक्षारोपण करने लगा इस समय कबीलों में ही परिवार का

उदय हुआ। अब एक कबीले में अनेक परिवार हो गये और प्रत्येक परिवार अपना पृथक् पशुसमूह तथा वृक्ष आदि रखने लगा। इस प्रकार परिवार के उदय के साथ ही वैयक्तिक सम्पत्ति का रखना प्रारम्भ हुआ। कबीलायुग में कबीला ही सामूहिक इकाई था, व्यक्ति का कोई महत्त्व नहीं था। किन्तु इस युग में व्यक्तिवाद का भी उदय हो चुका था। कबीलों में जो व्यक्ति अधिक बलवान् अथवा बुद्धियुक्त होता था, वह अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा विशेष सम्मान प्राप्त करने लगा। इसी समय मनुष्य में अदृश्य एवं अज्ञात को जानने की जिज्ञासा भी उत्पन्न हुई। जिससे जादू, टोना, टोटम, गोत्र, पितृ–पूजा, भूत–प्रेत आदि से सम्बद्ध विश्वासों का जन्म हुआ। यही धर्म का आदिम रूप था। अब विभिन्न कबीलों के लोग किसी वृक्ष, पहाड़, पशु या पक्षी से अपने कबीले की उत्पत्ति मानने लगे। इसी को 'टोटम' या 'गोत्र' कहा जाता है। प्रत्येक कबीले के टोटम से सम्बद्ध पुराकथाएँ कल्पित कर (गढ़) ली गयीं और उनकी पूजा के रूप में में नृत्य, गीत, मन्त्र तथा जादू–टोना आदि का प्रचलन हुआ, यही धर्म का आदिम रूप था। विभिन्न कबीलों के टोटम से सम्बद्ध भेदों के आधार पर ही उनके पारस्परिक सम्बन्धों का विकास हुआ। इस तरह कबीलों की पारस्परिक शत्रुता, मैत्री, विवाह आदि सम्बन्धों का विकास हुआ, इसे राजनीति का प्रारम्भिक रूप माना जा सकता है।

समाज के विकास की इस अवस्था में राजतन्त्र का उदय नहीं हुआ था। शिकार तथा युद्ध में अपने शारीरिक शौर्य के कारण जो व्यक्ति ख्याति प्राप्त कर लेता था वही कबीलों का प्रधान (अगुआ=सरदार) बन जाता था और उसी के आदेशानुसार कबीले के सब लोग कार्य करते थे। प्रायः वही व्यक्ति धार्मिक क्रियाओं का प्रमुख (अगुआ) होता था और नृत्य, गीत, जादू, टोना की क्रियाओं का सञ्चालन करता था। इस तरह वही पुरोहित एवं सरदार दोनों होता था। सरदार या पुरोहित होने के कारण ही वह कबीले के अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक सम्पत्तिशाली या अधिकारों से युक्त नहीं होता था। कबीलों की जनसङ्ख्या बढ़ने के कारण एक ही कबीले की अनेक शाखाएँ हो गयीं जो पृथक्–पृथक् गांव बसाकर रहने लगीं। इन शाखाओं के सरदारों का पञ्चायती ढंग का सङ्गठन भी था। अन्य कबीलों के साथ युद्ध होने पर सभी शाखाओं के लोग एक साथ होकर लड़ते थे। इस प्रकार इस युग में न कोई राज्य था, न कोई राजा।

(३) सामन्तयुगीन अवस्था– कृषि युग के प्रारम्भ से ही मानव–समाज के सङ्गठनात्मक स्वरूप में मौलिक परिवर्तन प्रारम्भ हो गया। वर्वरावस्था में व्यक्तिगत सम्पत्ति का रखना प्रारम्भ हो गया था और प्राकृतिक सम्पदा पर सबका समान अधिकार था। कृषि युग में कबीलों के परिवार पृथक् पृथक् कृषिभूमि पर अधिकार कर खेती करने लगे और पृथक् पृथक् आवास बनाकर रहने लगे। श्रम–विभाजन के कारण इस काल में भिन्न व्यवसायों का प्रारम्भ हुआ और इन व्यवसायों से जातियों का विकास हुआ। इस तरह कबीलों के लोग अनेक पेशों तथा जातियों में विभक्त हो गये। इन्हें जोड़ने वाला तत्त्व वह सरदार था जो अपने शारीरिक शक्ति एवं जादू–टोना के ज्ञान के कारण पूरे समाज द्वारा प्रमुख माना गया था। यह पद वंशानुगत अथवा उत्तराधिकार प्राप्त नहीं था। जो भी व्यक्ति सर्वश्रेष्ठ योद्धा, तन्त्र–मन्त्र का ज्ञाता होता था, इसी को कबीले के लोग प्रधान (अगुवा) अथवा सरदार चुन लेते थे।

(क) राजतन्त्र का आरम्भिक रूप– कालान्तर में ये सरदार अपने को पूरे कबीले का स्वामी समझने लगे और अपनी विशिष्ट शक्ति तथा प्रतिभा से वे अन्य लोगों की

अपेक्षा अधिक सम्पत्ति भी रखने लगे। इन्हीं को बाद में 'राजा' कहा जाने लगा। प्रारम्भ में कबीलों के विभिन्न शाखाओं के सरदार अपने में से सर्वाधिक शक्तिशाली व्यक्ति को राजा चुन लेते थे। यह आवश्यक नहीं था कि राजा का पुत्र ही राजा हो। कालान्तर में सैन्यसङ्गठन और सम्पत्ति–संग्रह द्वारा जो राजा अधिक शक्तिशाली हो जाता उसके पुत्र–पौत्र भी वंशानुक्रम के आधार पर राजा बनने लगे। ये अपनी शक्ति से जितने ग्रामों पर अधिकार कर लेते थे वे सभी उनके राज्य के क्षेत्र में आ जाते थे। इन राजाओं के शक्तिशाली सैनिक सामन्त बन गये, जिन्हें राजाज्ञा से राज्य का एक अंश प्राप्त होता था। इस प्रकार सामन्ततन्त्र का उदय हुआ। इसमें राजा सभी सामन्तों का स्वामी होता था। इसी व्यवस्था का नाम 'सामन्ततन्त्र' या 'राजतन्त्र' हुआ।

(ख) गणराज्य का प्रारम्भिक रूप– जिन कबीलों की विभिन्न शाखाओं के सरदार अधिक शक्तिशाली होते थे वे किसी को भी राजा न चुनकर सामूहिक रूप में शासन–व्यवस्था देखते थे। यही गणराज्य का प्रारम्भिक रूप था। गणराज्यों में सामन्तों की परिषद् होती थी। युद्ध, मैत्री, शासन, नीति, धर्म–नीति, अर्थ–नीति आदि से सम्बद्ध सभी प्रश्नों का निर्णय इन परिषदों में मतदान द्वारा किया जाता था। इस प्रकार राजतन्त्र और गणतन्त्र का प्रचलन विभिन्न भूभागों में बहुत काल तक समानान्तर रूप में चलता रहा, किन्तु सम्पत्ति एवं प्रतिष्ठा के लोभ में कुछ राजा अपने राज्य की सीमा का विस्तार करने के लिये अन्य राज्यों पर आक्रमण करने लगे।

गणराज्यों में सङ्गठन–शक्ति के अभाव एवं पारस्परिक वैमनस्य होने पर धीरे–धीरे उनका पतन होने लगा और गणों में से ही कोई सामन्त स्वयं राजा बनने लगा।

(ग) साम्राज्यवाद का प्रारम्भिक रूप– राज्य–लोभ की इस प्रवृत्ति के कारण छोटे–छोटे राज्यों के स्थान पर बड़े राज्यों का भी उदय हुआ। ये साम्राज्य सैन्यशक्ति की सहायता से खड़े किये जाते थे। इनमें विजेता सम्राट् छोटे–छोटे राज्यों को विजित कर वहाँ अपना सामन्त रखते अथवा उन राज्यों के राजाओं को करद बना लेता था। इस प्रकार हजारों वर्षों तक बड़े–बड़े साम्राज्यों का युग वर्तमान रहा।

(४) लोकतन्त्र या राष्ट्रयुगीन अवस्था– सामन्ततन्त्र मध्यकाल के अन्तिम भाग में ह्रासोन्मुख हो गया। इस प्रारम्भिक सामन्तयुग में राजा और सामन्त अपने बाहुबल और पराक्रम से राज्यों की स्थापना करते और लोक–रक्षा एवं पोषण को ही अपना धर्म मानते थे, किन्तु कालान्तर में राजा स्वेच्छाचारी होने लगे। इनकी इच्छा ही राज्य का विधान (कानून) बन जाती थी। धर्माधिकारियों एवं पुरोहितों ने उनके साथ साँठ–गाँठ करके धर्मशास्त्रों में यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि राजा ईश्वर का अंश या उसका पुत्र या स्वरूप होता है। और उसे राजा बनने का दैवी अधिकार प्राप्त है। राज्यपद के उत्तराधिकार में कोई कठिनाई न रह जाने के कारण ये राजा उत्तरोत्तर निरंकुश उत्तरदायित्वहीन एवं विलासी होते गये। फलतः प्रजा का शोषण कर अपने ऐश्वर्य को बढ़ाना, विलास में उसे नष्ट करना और प्रजा के हित की चिन्ता न करना–उनके जीवन का सहज क्रम बन गया। अतः राजतत्त्व और सामन्ततत्त्व के विरुद्ध सामान्य जनता में असन्तोष बढ़ता गया। इसी काल में विश्व के अनेक देशों में व्यापारिकवर्ग ने सामुद्रिक व्यापार द्वारा अपार धन अर्जित किया। यन्त्रों की सहायता से उन्होंने अपने देशों का औद्योगीकरण प्रारम्भ किया। इस तरह कारखानों द्वारा उत्पादित वस्तु का निर्यात कर उन देशों के व्यापारी पूँजीपति बनने लगे। इन पूँजीपतियों को इस बात का बड़ा क्षोभ था कि एक राज्य से दूसरे राज्य में

राजाओं को चुंगी देनी पड़ती है। सामन्तवाद के कठोर नियन्त्रण से उनके उद्योगों का अधिक विकास नहीं हो पा रहा था।

इसी बीच यूरोप में वाल्टेयर एवं रूसों ने स्वतन्त्र बाजार और व्यक्ति–स्वतन्त्रता का सिद्धान्त प्रतिपादित किया, जिसे पूंजीपतिवर्ग ने अपना लिया। इस प्रकार लोकतांत्रिक आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ जिसमें पहले यह मांग की जाती थी कि राजकार्य में जनता के प्रतिनिधियों को भाग दिया जाय। परन्तु बाद में यह सिद्धान्त मान्य हुआ कि राजा को हटाकर जनप्रतिनिधियों द्वारा राज्य का सञ्चालन होना चाहिये। इस तरह मध्यवर्गीय पूँजीवाद की सहायता से विश्व के विभिन्न भागों में राजतन्त्र के स्थान पर लोकतांत्रिक शासन का प्रचलन हुआ।

यह पूँजीवादी लोकतन्त्र राजतन्त्र से अधिक भयानक रूप में जनता का शोषण करने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि मार्क्स द्वारा प्रतिपादित साम्यवादी सिद्धान्तों के आधार पर रूस एवं चीन तथा अन्य देशों में साम्यवादी अधिनायक तन्त्र की स्थापना हुई। सम्प्रति विश्व में इस साम्यवादी अधिनायकवाद के विरुद्ध असन्तोष उत्पन्न हो गया है और लोकतान्त्रिक समाजवाद की स्थापना के लिये प्रयास किया जा रहा है।

भारत में मानव का उद्भव और विकास

भारतीय समाज के विकास क्रम के अध्ययन में पहला प्रश्न यह उठता है कि 'भारत' से हमारा क्या तात्पर्य है? वर्तमान राजनीतिक सन्दर्भ में 'भारत उस देश का नाम है, जिसको पूर्वी सीमा बंगला देश और बर्मा से, पश्चिमी सीमा पाकिस्तान से और उत्तरी सीमा नेपाल चीन तथा एशियाई रूस देश से मिली हुई है और जिसके दक्षिण में हिन्द महासागर और पश्चिम में अरब सागर स्थित है'। किन्तु इतिहास में भारत की भौगोलिक स्थिति विभिन्न युगों में भिन्न भिन्न रही है। इतिहासकारों ने जिस भारत का इतिहास लिखा है, उसकी सीमाएं बहुत व्यापक थी। न जाने कितनी बार मध्य एशिया तथा अफगानिस्तान तक भारतीय साम्राज्य का विस्तार था, किन्तु किसी देश के साम्राज्य के अन्तर्गत सम्मिलित सभी भूभागों को उस देश का अङ्ग नहीं माना जा सकता। वस्तुतः देश की भौगोलिक सीमा की अवधारणा एक परम्परागत मान्यता है जो राजनीतिक सीमा–परिवर्तनों के बाद भी युग युग में जनमानस में निहित रहती है।

नृतत्त्वशास्त्र और पुरातत्त्वशास्त्र की दृष्टि से देशों की सीमाओं और नामों का विशेष महत्त्व नहीं है। आदिम (प्रारम्भिक) मानव–समाज में देश और राष्ट्र की कोई परिकल्पना नहीं थी। आदिम मानव केवल पृथ्वी को जानता था और समस्त पृथ्वी उसकी भोग्या थी। फिर भी भौगोलिक एवं प्राकृतिक परिस्थितियों ने आदिम मानवसमूहों को कुछ विशेष भौगोलिक सीमाओं में बाँध रखा था। 'भारत' नाम प्राचीन काल से ही ऐसे ही एक विशेष भूभाग का रहा है। यह भूभाग तीन ओर से समुद्र से घिरा है और उसके उत्तर में हिन्दुकुश और हिमालय की विशाल पर्वत शृङ्खलाएँ अरब सागर से बंगाल की खाड़ी तक अर्द्धचन्द्राकार रूप में फैली है। इसके पश्चिमोत्तर भाग में सिन्धु नामक विशाल नदी प्रवाहित होती है जो कैलाश पर्वत के निकट मानसरोवर से निकलकर पश्चिम दिशा में प्रवाहित होती हुई फिर दक्षिण में मुड़कर अरब सागर में मिल जाती है। ऐतिहासिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में इसी महानद 'सिन्धु' के नाम पर सप्तसिन्धु देश का नाम पड़ा और परवर्ती काल में 'सिन्धु' शब्द का ही विकृत (अपभ्रंश) रूप 'हिन्द' हुआ जिससे इस देश का नाम 'हिन्दुस्तान' और 'इण्डिया' हुआ। किन्तु 'भारत' नाम 'हिन्द' या

'हिन्दुस्तान' से बहतु अधिक प्राचीन (पुराना) है। ऐतिहासिक भारत के आदिकाल में 'भारत' उस देश का नाम था जो विशाल जम्बुद्वीप का एक खण्ड था। यह जम्बुद्वीप सम्पूर्ण मध्य एशिया और दक्षिणी-पूर्वी एशिया का सम्मिलित नाम था। इस महाद्वीप में भारत एक खण्ड या उपमहाद्वीप था। यह बात हिन्दुओं के सङ्कल्पमन्त्र से स्पष्ट हो जाती है।[1] इस विशाल भूखण्ड या उपमहाद्वीप में पुरातत्त्व की दृष्टि से हिन्दुकुश पर्वत के पश्चिम और काबुल के उत्तर के भूभाग भी सम्मिलित किये जाते हैं। प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता सर मार्टीमेर ह्वीलर के अनुसार हिमालय और हिन्दुकुश के दक्षिण, हेलमण्ड रेगिस्तान के पूर्व तथा चीन पर्वत-शृङ्खला के पश्चिम में स्थित समस्त भूगाग पुरातात्त्विक दृष्टि से 'भारत' है।[2] इस प्रकार यहाँ भारत से तात्पर्य उस विशाल भूभाग से है जिसमें अफगानिस्तान, पाकिस्तान, वर्तमान भारत और बंगला देश सम्मिलित हैं।

विकास का प्रथम चरण— मनुष्य जाति के प्राचीनतम इतिहास का ज्ञान उसके प्राचीनतम निवासस्थानों और अस्त्रों से चलता है। भारत में आदि मानव के जो प्रस्तरास्त्र उपलब्ध होते हैं उनसे ज्ञात होता है कि पुरापाषाणयुगीन मानव का उदय यहाँ भी अनेक स्थानों में हुआ था जहाँ वह हजारों वर्ष तक रहता रहा। यह बात उन प्रस्तरास्त्रों से प्रमाणित होती है जिन्हें आदिम भारतीय मानव शिकार मारने के लिये इधर-उधर फेंका करता था। ये अस्त्र चार लाख से लेकर एक लाख वर्ष पूर्व तक के हैं।[3]

भारत में सर्वप्रथम १८६३ में बुसफुट नाम प्रसिद्ध भूगर्ववेत्ता ने मद्रास के निकट पल्लवाल में पूर्व पाषाण युग का अस्त्र प्राप्त किया था। तब से लेकर अब तक भारत के विभिन्न भागों में पूर्व पाषाण युग, मध्य पाषाण युग एवं नवपाषाण काल के अनेक प्रकार के धारदार प्रस्तरास्त्र, जैसे-खुर्चनी (स्क्रैपर), हथौड़े, कुल्हाड़ी, सूक्ष्म प्रस्तरास्त्र (माइक्रोलिथ) जैसे-छुरी, सूई आदि हजारों की संख्या में प्राप्त हुए हैं। पंजाब की सोहन नदी की घाटी में नदी के गोल पत्थरों से निर्मित प्रस्तरास्त्र प्राप्त हुए हैं। इस तरह के प्रस्तरास्त्रों को 'सोहन प्रस्तरास्त्र' कहते हैं। इस प्रकार के प्रस्तरास्त्र हिमालय की निचली पर्वतश्रेणियों में सिरसा, सतलज, व्यास और पाण्डुगङ्गा नदियों की घाटी में अनेक स्थलों पर प्राप्त हुए हैं। राजस्थान एवं मालवा में भी चम्बल अथवा उसकी सहायक नदियों की तलहटियों में, विशेषकर चित्तौड़ जिले में पूर्व पाषाणयुगीन अस्त्रों की उपलब्धि हुई है जिनमें हथौड़े, कुल्हाड़ी, खुर्चनी आदि 'सोहन प्रस्तरास्त्रों' जैसे ही हैं। इससे पूर्व जमुना की घाटी में भी इस प्रकार के अस्त्र प्राप्त हुए थे। मालवा के दक्षिण, गुजरात में साबरमती, माही और नर्मदा तथा गोदावरी नदियों की घाटियों में, मध्य भारत में, बनारस के दक्षिण में स्थित कैमूर पर्वत-शृङ्खला में, विशेषतः सोन नदी की घाटी में गोल पत्थरों तथा तोड़े गये पत्थरों से निर्मित कुल्हाड़ी, हथौड़े, खुर्चनी आदि अस्त्रों की राशि प्राप्त हुई है। ये अस्त्र भी हिमालय घाटी के अस्त्रों जैसे ही हैं। इनमें पूर्व पाषाणयुग, मध्य पाषाणयुग और नव

१. *'....जम्बूद्वीपे भरतखण्डे बौद्धावतारे आर्यावर्तैकदेशे'......' सङ्कल्पमन्त्र।*

२. *सर मार्टीमेर ह्वीलर, 'अर्ली इण्डिया एण्ड पाकिस्तान', ''दी नेम आर इट्स सब्स्टेंस वाज एन्सिएण्टली इक्सटेन्डेड, हाऊएवर वेगली, टु दि होल सब काण्टीनेन्ट, एण्ड इवेन एक्रास दि प्रजेन्ट खैबर बैरियर टु दि रेंज ऑफ दि हिन्दुकुश, नार्थ ऑफ काबुल, इन दैट इनलार्ज्ड ज्योग्राफिकल कन्नोटेशन इट विल आन आकेजन बी यूज्ड इन दीज पेजेज, विथाउट रिफरेंस टु दि माडर्न पोलिटिकल मैप, इट विल रिलेट टु दि सब कान्टीनेन्ट साउथ ऑफ दि हिमालय एण्ड दि हिन्दुकुश, ईस्ट ऑफ दि हेलमण्ड डिजर्ट, ऐण्ड वेस्ट ऑफ दि चिन हिल्स।'' पृष्ठ-१५।*

३. *वही, पृष्ठ-३४।*

पाषाणयुग—तीनों कालों के अस्त्र सम्मिलित हैं। इसी तरह उड़ीसा के मयूरभंज जिले में तथा दक्षिण में गोदावरी नदी की घाटी में अहमदनगर तथा औरंगाबाद के पास सोहन अस्त्रों एवं मद्रास में प्राप्त अस्त्रों जैसे प्रस्तरास्त्र पाये गये हैं।

इस सर्वेक्षण से ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण भारत के विभिन्न भागों में जो पाषाणयुगीन प्रस्तरास्त्र प्राप्त हुए हैं उनमें आश्चर्यजनक समानता दिखायी पड़ती है। इस सम्बन्ध में डॉ० ह्वीलर यह मत व्यक्त करते हैं कि भारत ही नहीं, अफ्रीका में भी जो प्रस्तरास्त्र उपलब्ध हुए हैं वे भारतीय प्रस्तरास्त्रों से समानता रखते हैं। इसका कारण बताते हुए उन्होंने कहा है कि ''संस्कृति अथवा अस्त्रों का विश्व के एक भाग से दूसरे भाग में स्थानान्तरण का अर्थ यह नहीं है कि मनुष्यों का बड़े पैमाने पर स्थानान्तरण हुआ था। किसी विचार, विशेषतः क्रान्तिकारी विचार को स्थानान्तरित करने के लिये हजारों व्यक्तियों की आवश्यकता नहीं होती। मैं कभी कभी सोचता हूँ कि विचारों के भी पंख होते हैं जो तितलियों की तरह एक जगह से दूसरी जगह तक पहुँच कर प्रजनन करते हैं।''[1] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि पाषाण युग में भारतीय उपमहाद्वीप में सुदूरवर्ती स्थानों में भी जो एक ही प्रकार की अस्त्र-शस्त्रसम्बन्धी संस्कृति उपलब्ध होती है उसमें मूल कारण यही है कि हजारों वर्षों के लम्बे काल में विभिन्न स्थानों के मानवसमूहों में पारस्परिक सम्पर्क द्वारा सांस्कृतिक आदान-प्रदान होता रहता था।

वन्यावस्था तथा शिकारयुग के मानवों का इस प्रकार का सांस्कृतिक साम्य यह भी सिद्ध करता है कि भारत में आदिम मानव सम्भवतः एक ही जातिवर्ग से विकसित हुआ था। अफ्रीकी प्रस्तरास्त्रों की समानता से भी यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अफ्रीका एवं भूमध्यसागरीय देशों से लेकर भारत एवं मलाया तक के मानवसमूह पारस्परिक मिश्रण से विकसित हुए थे। डॉ० ह्वीलर का मत है कि मध्य प्रातिनूतन (Pleistocene) युग में भारत में अर्धमानव जाति के अनेक वर्ग निवास करते थे जो वनमानुष जाति से अधिक विकसित हुए थे। उनकी भाषा क्या थी? – यह सन्देहास्पद है। सम्भवतः वे नदियों की तटवर्ती पर्वतीय कन्दराओं में रहते थे जहां उन्हें शिकार के लिये पर्याप्त पशु मिलते थे। वे शिकार के लिये पत्थरों से धारदार अस्त्र बनाते थे जिनसे वे पशुओं को काट सकते थे। जब प्रातःकाल या सन्ध्यासमय वे पशु नदी तट पर जल पीने आते थे तो अन्य मानव अपने प्रस्तरास्त्रों से उन पर प्रहार करते थे। वे प्रस्तरनिर्मित हस्तकुठार से जड़ी-बूटियों की जड़ें भी खोद लेते थे अथवा पशुओं की हड्डियों को तोड़ते थे। हस्तकुठार-संस्कृति का मानव शाकाहारी नहीं था।[2]

विकास का द्वितीय चरण— पूर्व पाषाणयुग एवं मध्य पाषाणयुग की समाप्ति के बाद नव पाषाणयुग का प्रारम्भ हुआ। भारत में यह युग एक लाख वर्ष पूर्व से लेकर दस हजार वर्ष ई०पू० तक वर्तमान था। किन्तु श्री श्यामाचरण दूबे के मतानुसार भारत में नव पाषाणयुग लगभग ५ हजार वर्ष ई०पू० तक था। पर यह मान्यता सन्देहास्पद है; क्योंकि

१. सर मार्टीमेर ह्वीलर, 'अर्ली इण्डिया एण्ड पाकिस्तान', ''दी नेम आर इट्स सब्सटेंस वाज एन्सिएण्टली इक्सटेन्डेड, हाऊएवर वेगली, टु दि होल सब काण्टीनेन्ट, एण्ड इवेन एक्रास दि प्रजेन्ट खैबर बैरियर टु दि रेंज ऑफ दि हिन्दुकुश, नार्थ ऑफ काबुल, इन दैट इनलार्ज्ड ज्योग्राफिकल कन्नोटेशन इट विल आन आकेजन बी यूज्ड इन दीज पेजेज, विथाउट रिफरेंस टु दि माडर्न पोलिटिकल मैप, इट विल रिलेट टु दि सब कान्टीनेन्ट साउथ ऑफ दि हिमालय एण्ड दि हिन्दुकुश, ईस्ट ऑफ दि हेलमण्ड डिजर्ट, ऐण्ड वेस्ट ऑफ दि चिन हिल्स।'' पृष्ठ–६१–६२।

२. वही, पृष्ठ ६१–६२।

५ हजार ई०पू० में सिन्धु घाटी की सभ्यता का प्रारम्भ हो चुका था जो कृषियुगीन सभ्यता थी। लौह उपकरणों के बिना कृषि की उन्नत व्यवस्था सम्भव नहीं है। अतः यही मानना समीचीन है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता के काल में एक तरफ ताम्र एवं कांस्य युग अपनी अन्तिम अवस्था में था दूसरी तरफ लौह उपकरणों का प्रारम्भ भी हो गया था।

सिन्धु घाटी की सभ्यता से कम से कम ५००० (पाँच हजार वर्ष) पूर्व से ही ताम्र–कांस्य युग का आरम्भ हो चुका होगा और उसके भी पूर्व भारत में नवपाषाणकालीन अवस्था रही होगी। इस तरह भारत में नवपाषाणकाल की अवधि एक लाख वर्ष पूर्व से लेकर ईसापूर्व दस हजार वर्ष तक मानी जा सकती है। किन्तु श्री श्यामाचरण दूबे के मतानुसार नव पाषाणयुग का सूत्रपात भारत में लगभग ई०पू० डेढ़ लाख वर्ष पहले हुआ। इस युग के अस्त्रों की प्रविधि का क्रमशः विकास होता गया और 'नव पाषाणयुग' की संस्कृति ईसापूर्व ५००० वर्ष तक चली।[१]

नवपाषाणकाल में भारत का मानव प्रस्तरनिर्मित अस्त्रों पर चिकनी पालिश करने लगा था। इस काल में वह अधिकतर पत्थरों से अस्त्र तथा उपकरण बनाता था। इस कारण उसे लकड़ी काटने, पत्थर तोड़ने, हड्डी और मांस काटने तथा जमीन खोदने में सुविधा होने लगी, जिसके परिणामस्वरूप वह खाद सञ्चय की दृष्टि से अधिक उन्नत हो गया।

भारत में नव पाषाण युग की वस्तुएँ आन्ध्र, कर्नाटक, कश्मीर एवं पूर्वी भारत में प्राप्त हुई हैं। इस काल का मानव पत्थरों को घिस कर उपकरण बनाता तथा मिट्टी के काले एवं भूरे बर्तन भी निर्मित करता था।[२]

इस काल में मनुष्य अपनी गुफाओं में शिला–भित्तियों पर गेरु से रेखाचित्र बनाने लगा था जिन्हें आदिम चित्र या गुफाचित्र कहा जाता है।[३] इन चित्रों में विभिन्न पशुओं का शिकार करते हुए मानवों को दिखाया गया है। इन चित्रों में मानवों के हाथ में भाले और तीर धनुष हैं। इससे प्रमाणित होता है कि नवपाषाणयुग का मानव प्रस्तर के नोकदार फलों को बड़ी लकड़ी में जड़कर भाला, छोटी और पतली लकड़ी में जड़कर तीर बना लेता था और बांस को चीर कर उससे धनुष तथा चमड़े की तांत से उसकी डोरी बनाता था। चित्रों से यह भी ज्ञात होता है कि तत्कालीन मानव नंगा ही रहता था। वह सम्भवतः आग में मांस को भूनकर खाता था, क्योंकि अनेक गुफाओं में जली हुई हड्डियां और राख भी मिलती हैं। इन गुफाओं के अनेक स्थलों पर सूक्ष्माश्मास्त्र प्राप्त हुए हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि इन गुफाओं के निवासी नवपाषाणयुगीन मानव थे। ये मानव अब पत्थरों से मारकर नहीं, अपितु भाले और तीर फेंक कर शिकार करते थे।

उत्तरपाषाणकालीन मानव ने प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के लिये अपनी बुद्धि का प्रयोग करके खाद्यसञ्चय एवं निवास के लिये नये नये साधनों का आविष्कार किया था। वे सामूहिक जीवन व्यतीत करते थे और सहकारिता के आधार पर जीवनयापन करते थे वे मैदानी भागों में गोल या अण्डाकार गर्त (गड्ढा) खोदकर उसके किनारे पत्थरों के ढोंके रखते और गड्ढों पर पेड़ों की डालियां तथा घास–फूस रखकर अपना आवास बनाते थे। ओल्डवाई में प्राप्त आदिम मानव के आवास इसी प्रकार के हैं। मध्य तथा पूर्वी

१. श्यामाचरण दूबे, मानव और संस्कृति, पृष्ठ ४५।

२. वही, पृष्ठ ४६।

३. रिपुदमन सिंह, शारीरिक मानव विज्ञान, लखनऊ, १९७४, पृष्ठ २५३–२५४।

यूरोप में मैदानी भाग में इस काल का मानव झोपड़ीनुमा निवास बनाकर रहता था। ऐसे निवासों के अवशेष रूस में प्राप्त हुए हैं।

भारत में गुफाओं के अतिरिक्त मैदानी भागों में भी इस काल के मानव ने अपने निवास अवश्य बनाये होंगे। मोहनजोदड़ो, हड़प्पा तथा अन्य प्राचीन अवशेषों के निचले स्तरों से प्राप्त अश्मास्त्रों से यह सिद्ध होता है कि वहाँ पहले नवपाषाणकालीन मानव निवास करते थे।

इस काल के मानव प्रस्तर के अतिरिक्त हड्डियों से भी अस्त्रों एवं अन्य उपकरणों का निर्माण करते थे। वे पत्थर के फलक–उपकरण बनाकर उनसे हड्डी तथा लकड़ी को छीलकर उपयोगी उपकरण बनाते थे। वे हड्डी तथा सींगों से सूजा बनाकर चमड़ा सीते तथा उन्हीं को लकड़ी में बाँधकर वाण तथा भाले का काम लेते थे। वे मछली फंसाने के लिये कांटें भी इसी से बनाते थे। ऐसे उपकरण १७००० ई०पू० से १२००० वर्ष ई०पू० तक के हैं। भारत में इस प्रकार की अस्थिनिर्मित सामग्री का उल्लेख वैदिक साहित्य में मिलता है तथा सिन्धुघाटी के पुरा अवशेषों में भी अनेक अस्थिनिर्मित वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं। इससे सिद्ध होता है कि पश्चिमोत्तर भारत के मानवसमूह वैदिक काल से हजारों वर्ष पूर्व से ही प्रस्तर एवं अस्थिनिर्मित अस्त्रों एवं अन्य उपकरणों का प्रयोग करते आ रहे थे।

निष्कर्ष यह है कि भारत में नवपाषाणकालीन मानव की संस्कृति का जो सहज विकास हुआ था वही आगे चलकर ताम्र एवं कांस्य युगीन संस्कृति में परिवर्तित हो गया। वैदिक साहित्य एवं सिन्धु घाटी की सभ्यता के अवशेष इसके साक्षी हैं।

विकास का तृतीय चरण– भारतीय मानव के विकास का तृतीय चरण ५००० ई०पू० के लगभग प्रारम्भ हुआ था। विकास के इस चरण को ताम्र एवं कांस्य युग की संज्ञा दी जाती है। इस युग में मानवसमूह वन्यावस्था से निकलकर वर्वरावस्था में आ पहुँचा था। जब वह शिकारयुग की अवस्था से आगे बढ़कर पशुपालन एवं वृक्षारोपण करने लगा था, इस काल में उसने लकड़ी के हल बनाये जिसमें वह ताम्र या कांस्य का फल लगाकर सामान्य कृषिकार्य भी करने लगा था। प्रारम्भ में वह जंगली पशुओं को पालतू बनाकर उनके झुण्डों के साथ यायावर जीवन व्यतीत करता था। किन्तु बाद में आवास बनाकर तथा बस्तियाँ बनाकर रहने लगा। पाषाणयुग में वह धातुओं का प्रयोग करना नहीं जानता था, किन्तु नवपाषाणयुग के बाद वह ऐसी धातुओं का प्रयोग करने लगा, जिनमें कठोरता नहीं थी। ताम्र एवं उसके साथ रांगे के मिश्रण से निर्मित कांस्य इसी प्रकार की धातु थी। तत्कालीन मानव इन धातुओं से अस्त्रों एवं घरेलू उपयोग की वस्तुओं का निर्माण करने लगा।[1] भारत में मोहनजोदड़ों और हड़प्पा में ताम्र से निर्मित अनेक अस्त्र प्राप्त हुए हैं, जैसे– तलवार, कुल्हाड़ी, कुदाल, रम्भा, कटार, गँड़ासा आदि ताम्रनिर्मित अस्त्र एवं उपकरण प्राप्त हुए हैं।[2] विभिन्न विद्वानों ने मोहजोदड़ो, हड़प्पा आदि सिन्धु घाटी की सभ्यता के पुरा–अवशेषों का काल ईसापूर्व चतुर्थ सहस्राब्दी से ईसापूर्व द्वितीय सहस्राब्दी तक माना है। इन खण्डहरों से प्राप्त ताम्र एवं कास्य निर्मित सामग्री इतनी कलात्मक एवं वैविध्यपूर्ण है कि उससे यह अनुमान करना सहज है कि भारत में ताम्रयुग का प्रारम्भ उस समय से बहुत पहले हुआ होगा। इस काल में अन्य धातुओं का प्रयोग

---

१. एफ० म्यूलर लायर, दी हिस्ट्री ऑफ सोशल डेवलपमेन्ट, लन्दन, १९३५, पृष्ठ–१०२।

२. सर मार्टीमेर ह्वीलर, दी इण्डस सिविलाइजेशन, कैम्ब्रिज–१९५३, पृष्ठ ५३–५४।

आभूषण, बर्तन तथा अस्त्रों के लिये होने लगा था। सिन्धु घाटी के 'काठे' में स्थित पुरा-अवशेषों के अतिरिक्त विलोचिस्तान, पश्चिमोत्तर प्रान्त, अफगानिस्तान, पंजाब, गुजरात और राजस्थान में तत्कालीन सभ्यता के जो पुराअवशेष उत्खनित हुए हैं उनमें तांबा, कांसा, चांदी, एवं सोने-शीशे से बनी विविध प्रकार की वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं। मोहनजोदड़ो, हड़प्पा, कुल्ली, अलीमुरार, बहावलपुर, किले गुलमहमद, रूपा, रंगपुर, लोथल आदि सभी पुरा अवशेषों में सोने के बने आभूषण, मनके, बाजू, झूलन, सूइयाँ, तांबे की बनी तलवार, कटार, हथौड़ा, भाला, कुल्हाड़ी आदि अस्त्र बहुत अधिक सङ्ख्या में प्राप्त हुए हैं। इन नगरों और गाँवों की सभ्यता अत्यधिक विकसित थी। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि इस उच्च सभ्यता तक पहुँचने में भारतीय समाज को बहुत समय लगा होगा। दुर्भाग्यवश इससे प्राचीनतर धातु अस्त्र तथा आभूषण अधिक नहीं प्राप्त हुए हैं।

मोहनजोदड़ो, हड़प्पा आदि नगरों की सभ्यता से पता चलता है कि ये नगर कृषियुग में विकसित हुए थे, यद्यपि इनमें धातुओं के प्रयोग के आधिक्य की दृष्टि से ताम्र एवं कांस्य युग था। किन्तु तत्कालीन समाज में कृषियुगीन आर्थिक व्यवस्था की सुदृढ़ता देखकर यह कहा जा सकता है कि उस युग में कृषि एवं भवननिर्माण सम्बन्धी कार्यों के लिये लौह उपकरणों का प्रयोग भी अवश्य प्रचलित रहा होगा। कृषिव्यवस्था में मानव समाज वर्वरावस्था को पारकर प्रारम्भिक सभ्यावस्था में पहुँच गया था। सिन्धु घाटी एवं वैदिक सभ्यता भी सभ्यावस्था की सूचना देती है। अतः ताम्र-कांस्य युग में भारतीय मानव समाज वर्वरावस्था में था। जब उसने पशुपालन एवं वृक्षारोपण द्वारा जीवन यापन करना एवं झोपड़ियों वाले ग्राम बसा कर एक स्थान पर स्थिर होकर रहना प्रारम्भ किया था।

इसी काल में उसने चक्र का आविष्कार किया और चक्र पर मिट्टी के बर्तन तथा लकड़ी एवं पत्थर के पहिये बनाकर पशुओं द्वारा रथ या गाड़ी का चलाना प्रारम्भ किया था। वन्यावस्था में गुफाओं में भित्तियों पर चित्र बनाने की जो कला थी वह अन्य रूपों में विकसित हुई। अब वह चाक पर बने बर्तनों पर चित्रकारी करने लगा। ताम्र एवं कांस्य के उपकरणों के प्रयोग से वह लकड़ी काटने, लकड़ी से घरेलू उपयोग की वस्तुएँ बनाने, लकड़ी के सांचे बनाकर ईटें बनाने और लकड़ी से आँवा जलाकर चूल्हे बनाने का काम करने लगा था। धातुनिर्मित कुल्हाड़ी, आरी, छेनी, फरसा आदि से पशुओं को काटने और उनकी हड्डियों से घरेलू उपयोग के सामान बनाने का कार्य भी प्रारम्भ हो गया था। इस युग में मनुष्य-समाज में परिवार का प्रारम्भ हो गया था और वृक्षों की छाल तथा चमड़े से शरीर ढकने का आवरण भी बनाया जाने लगा। यही नहीं, मिट्टी और धातु के मनके, गुरिया आदि बनाकर इनमें छेद करके उन्हें गूँथ कर आभूषण भी बनाये जाने लगे थे। इस तरह ताम्रयुग में ही मनुष्य सभ्यता की देहली पर पहुँच गया था।

विकास का चतुर्थ चरण– भारतीय समाज के विकास का चतुर्थ चरण हमें प्रारम्भिक कृषियुगीन अवस्था में दिखायी पड़ता है जिसकी अभिव्यक्ति भारत के प्राचीनतम साहित्य ऋग्वेद तथा प्राचीनतम पुरातात्त्विक अवशेष सिन्धुघाटी-सभ्यता ध्वंसावशेषों में होती है। पहले कहा जा चुका है कि वर्वरावस्था को पार कर मनुष्य उस समय प्रारम्भिक सभ्यावस्था में पहुँचा था, जबकि उसने कृषि का सम्यक् विकास कर लिया था, ग्राम तथा नगर बसाकर रहने लगा। ये सभी बातें हमें विकास के इस चतुर्थ चरण में दिखायी पड़ती हैं। यद्यपि वन्यावस्था एवं वर्वरावस्था में भारत के सभी भागों में मानव जाति के होने का

पता चलता है, किन्तु कृषियुगीन सभ्यता का विकास पश्चिमी भारत तथा उसके भी पश्चिम के भूभाग–बलूचिस्तान, पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त और अफगानिस्तान में ही क्यों हुआ?– यह विचारणीय विषय है।

इस सम्बन्ध में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। कुछ लोगों का मत है कि सिन्धुघाटी सभ्यता के निर्माता मेसोपोटामिया के निवासी थे।[1] कुछ अन्य विद्वानों का यह मत है कि इस सभ्यता के जनक द्रविड़ जाति के लोग थे जिन पर लगभग १५०० ई०पू० के आस पास आर्य जाति के आक्रान्ताओं ने आक्रमण कर उनके नगरों को ध्वस्त कर दिया और इस आक्रमण के बाद द्रविड़ जाति के लोग पूर्वी एवं दक्षिण भारत की ओर चले गये। डॉ० हाल के मतानुसार द्रविड़ जाति के लोगों का मूल स्थान सिन्धुघाटी ही था जहाँ से उन्होंने पश्चिम मेसोपोटामिया में पहुँच कर सुमेरी सभ्यता का विकास किया था।[2] इस मत का खण्डन मार्शल, ह्वीलर तथा अन्य विद्वानों ने किया है।

ह्वीलर के मतानुसार ''ईस्वी पूर्व ५वीं सहस्राब्दी में हिमालय और हिन्दुकुश के पश्चिम ईरान तथा अनातोलिया के पहाड़ी भूभागों में जिनमें स्थान–स्थान पर घास के मैदान और पथरीले पठार भी हैं, परस्पर सम्बन्ध वाली विभिन्न जातियों का विकास हो रहा था। जिनकी बढ़ती जनसंख्या अपने सीमित भौगोलिक क्षेत्र में नहीं समा पायी, जिससे वे उस क्षेत्र से ई०पू० चतुर्थ सहस्राब्दी में दक्षिण पश्चिम दिशा में गये और वहाँ की पूर्ववर्ती जातियों के साथ इसी सहस्राब्दी के उत्तरार्ध में उन्होंने मेसोपोटामिया की सभ्यता का विकास किया। उन्हीं जातियों की एक शाखा दक्षिण पूर्व की दिशा में चलकर सिन्धु घाटी में पहुँची और सिन्धुघाटी की सभ्यता का विकास किया''।[3] इस तरह ह्वीलर सिन्धु घाटी की सभ्यता के निर्माताओं को ईरान से आया हुआ मानते हैं। उनका यह भी कहना है कि सिन्धुघाटी के नगरों का निर्माण मेसोपोटामिया के नगरों के कुछ समय बाद हुआ और उनका अस्तित्व ३ हजार ई०पू० से १५०० ई०पू० तक बना रहा।

१५०० ई०पू० के लगभग मध्य एशिया से आने वाली एक अर्द्ध सभ्य बर्बर जाति ने जिसे 'आर्य' कहा जाता है, सिन्धु घाटी के नगरों पर आक्रमण करके उन्हें नष्ट कर दिया और सम्पूर्ण क्षेत्र पर अपना अधिकार कर लिया।[4] ह्वीलर के शब्दों में– ''ईसापूर्व द्वितीय सहस्राब्दी के मध्य में आर्यों ने सिन्धुघाटी के नगरों पर आक्रमण किया और वहाँ के मूल निवासियों के दुर्ग जैसे नगरों को ध्वस्त कर दिया। ये आक्रामक नगरीय जीवन से कोई रुचि नहीं रखते थे; क्योंकि उन नगरों को ध्वस्त कर वे उन्हें वैसे ही छोड़ कर चले गये''।

इस तरह ह्वीलर सिन्धुघाटी के निर्माताओं और वैदिक जाति के लोगों को दो भिन्न जातियों से सम्बद्ध मानते हैं और दोनों को ईरान की तरफ से आया हुआ बताते हैं; किन्तु उनका यह अनुमान नृतत्त्वशास्त्रीय दृष्टि से असत्य सिद्ध होता है। प्रसिद्ध नृतत्त्ववेत्ता डी० के० सेन ने सिन्धु घाटी सभ्यता के निर्माताओं के सम्बन्ध में लिखा है कि ''हड़प्पा–कालीन भारतीय मानव समुदाय अपने अपने क्षेत्रों के पूर्ववर्ती मानव समुदाय के ही वंशज

---

१. सर मार्टीमेर ह्वीलर, दी इण्डस सिविलाइजेसन, पृष्ठ–९३।

२. केदारनाथ शास्त्री, हड़प्पा, दिल्ली–१९५६, पृष्ठ २७।

३. सर मार्टीमेर ह्वीलर, दी इण्डस सिविलाइजेशन, पृष्ठ–९३।

४. सर मार्टीमेर ह्वीलर, अर्ली इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, पृष्ठ ११३।

थे। क्षेत्रीय भिन्नता के कारण, उसके शिरों की बनावट और आकार में यह अन्तर दिखायी पड़ता है, जैसा आज भी देखा जा सकता है।''[१]

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि ह्वीलर, भारतीय समाज के प्रति पूर्वाग्रहयुक्त होने के कारण, यह मानते हैं कि सिन्धु–घाटी की सभ्यता के लोग तथा उन्हें ध्वस्त करने वाले आर्य तथाकथित दो भिन्न जातिवर्गों के थे और दोनों ही भारत में पश्चिमोत्तर दिशा से आये थे। यदि ह्वीलर की बात मान ली जाय तो भारतीय समाज की पूर्ववर्ती परम्परा का सम्बन्ध परवर्ती सभ्यता से नहीं हो सकता। किन्तु यह सर्वविदित है कि भारत में जो संस्कृति आदिकाल से प्रवाहित है, उसी की एक अजस्र परम्परा यह संस्कृति रही है। यह परम्परा पुरापाषाणयुग से प्रारम्भ होकर नवपाषाणयुग, ताम्रयुग एवं कांस्ययुग तथा लौहयुग में एक अखण्ड धारा के रूप में प्रवाहित होती आयी। अतः ह्वीलर तथा इसी तरह के अन्य लोगों के मत स्वीकार नहीं किये जा सकते। साहित्यिक एवं नृतत्त्वशास्त्रीय निकष (कसौटी) पर ऐतिहासिक तथ्यों का परीक्षण करने से उचित ज्ञात हो सकता है।

यहाँ एक और प्रश्न भी विचारणीय है कि सिन्धुघाटी सभ्यता के निर्माताओं और वैदिक जाति में परस्पर क्या सम्बन्ध था? क्या दोनों जातियां नृतत्त्वशास्त्रीय दृष्टि से भिन्न जातिवर्ग की थी, या एक ही जातिवर्ग की दो शाखाएँ थीं? अब तक किसी भी विद्वान् ने पूर्णतः प्रामाणिकता के साथ यह सिद्ध करने में सफलता नहीं प्राप्त की है कि आर्य भारत के बाहर के देश से यहाँ आये थे। सिन्धु घाटी के लोगों के विषय में तो बताया जा चुका है कि वे भारतभूमि के मूल निवासी थे। वे मोहनजोदड़ो–हड़प्पा ही नहीं, सिन्धु, पंजाब, विलोचिस्तान आदि भू–भागों के विभिन्न नगरों और ग्रामों में बसे हुए थे। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में जो अन्नागार प्राप्त हुए हैं वे इस बात के साक्षी हैं कि इतना अन्न पैदा करने वाले लोग कहीं दूर से नहीं, अपितु इन्हीं नगरों और ग्रामों के निकटवर्ती भू–भागों के ग्रामीण क्षेत्रों में ही रहते होंगे और खेती करके अपनी आवश्यकता से अधिक अन्न कर रूप में देते या नगरों में जाकर बेचते होंगे।

उन ग्रामों के निवासी सिन्धुघाटी के निर्माताओं की जाति के ही थे या अन्य किसी जाति के?— इस प्रश्न का समाधान आवश्यक है। सिन्धुघाटी के नगरों एवं ग्रामों के निवासी नृतत्त्वशास्त्रीय दृष्टि से एक ही जाति–वर्ग के थे, जिसे 'भारोभूमध्यसागरीय' जाति वर्ग (इन्डोमेडीटर नायड) या 'दक्षिणी यूरोपीय' जाति वर्ग कहा जाता है। भारोभूमध्यसागरीय जाति वर्ग के लोग मिश्र और मेसोपोटामिया, दक्षिणी ईरान, काकेश प्रदेश, मध्य एशिया के पामीर क्षेत्र आदि में फैले हुए थे। इन दोनों शाखाओं के लोगों में नृतत्त्वशास्त्रीय दृष्टि से कोई अन्तर नहीं था, किन्तु उनकी संस्कृतियों एवं धार्मिक विश्वासों में थोड़ा बहुत अन्तर अवश्य था। सिन्धुघाटी की सभ्यता का वृत्त 'नागर' सभ्यता का वृत्त था। इन नगरों के निवासी भूमध्यसागरीय जातिवर्ग दक्षिणी शाखा के थे। इसके विपरीत, पूर्वी एवं उत्तरी पंजाब के निवासी उत्तरी शाखा के थे और उनकी सभ्यता ग्रामीण सभ्यता थी। इन दोनों सभ्यताओं के रहन–सहन और व्यवसायों में बहुत अन्तर था। किन्तु जातीय दृष्टि से दोनों सभ्यताओं के लोगों में कोई अन्तर नहीं था। खोपड़ियों की जांच से यही बात सिद्ध होती है।[२]

१. डी०के० सेन– 'एनसिएन्ट इण्डिया' भाग २० और २१ – १९६४–६५, पृष्ठ २०५।

२. डी०एन० मजूमदार, रेजेज एण्ड कल्चर ऑफ इण्डिया, लखनऊ, १९४४, पृष्ठ १६।

डी०एन० मजूमदार के अनुसार भारत की दो प्राचीनतम खोपड़ियों–वेयाना (राजस्थान) एवं स्यालकोट खोपड़ी की नाल (विलोचिस्तान) की एक खोपड़ी से तुलना करने पर ज्ञात होता है कि तीनों खोपड़ियाँ परस्पर मिलती–जुलती एवं समकालीन हैं।[1] इसे यह प्रमाणित होता है कि नाल, साहिटम्प, मोहनजोदड़ो, चन्दुदहो, अमरी, हड़प्पा आदि ग्रामों एवं नगरों के निवासी तथा राजस्थान एवं पंजाब के तत्कालीन निवासी एक ही नृतत्त्वशास्त्रीय जाति वर्ग के थे। चन्दुदहो पञ्जाब एवं सिन्ध के निचले भूभाग में बसा हुआ था। नगरों में निवास करने वाले सम्भवतः पणि जाति के थे और ग्रामों में वैदिक गणों और गोत्रों के लोग निवास करते थे।

ऋग्वेद के सूक्तों से यह ज्ञात होता है कि वैदिक जाति पाँच जनों में विभक्त थी और ये जन तीन नदी–सप्तकों के भिन्न भिन्न भूभागों में निवास करते थे।[2] हिन्दकुश, हिमालय एवं दक्षिण भाग में रहने वाले उन पाँच जनों में से ही थे। एक जन जिसे 'पुरु' कहा जाता था, कई शाखाओं में विभक्त होकर सिन्धु के निचले भाग के निवासी भारतीय था। शेष जन सम्भवतः हिन्दकुश, हिमालय के पश्चिम एवं पश्चिमोत्तर भू–भागों में निवास करते थे, किन्तु आवश्यकता पड़ने पर वे पूरे जनपद में एकत्र भी होते थे। दसराजयुद्ध में त्रित्सुओं के राजा सुदास पर दस जातियों के लोगों ने मिलकर आक्रमण किया था, जिनमें पाँच वैदिक जन पुरु, यदु, तुर्वश, दुह्य, एवं अनु भी सम्मिलित थे। पुरु जन के लोग अनेक उपशाखाओं में विभक्त होकर, हिन्दूकुश से हिमालय की घाटियों से लेकर पूर्व में गङ्गा और यमुना नदियों तक, दक्षिण में खम्भात की खाड़ी तथा सिन्धु नदी के मुहाने तक तथा मध्य में राजस्थान के पश्चिमी भाग से बहती हुई सरस्वती नदी के किनारे तक फैले हुए थे। उन शाखाओं में त्रित्सु, भरत, सृञ्जय, आदि प्रमुख थे। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वैदिक काल अथवा सिन्धु घाटी की सभ्यता के काल में पश्चिमी और उत्तरी भारत में केवल सिन्धुघाटी सभ्यता के नगरों में निवास करने वाले पणि आदि ग्रामों में निवास करने वाले वैदिक जाति के लोग ही रहते थे, अपितु विभिन्न भागों में अन्य नृतत्त्वशास्त्रीय जातियों के लोग भी पर्वतों, जङ्गलों अथवा ग्रामों में निवास करते थे। दासराजयुद्ध में जिन जातियों के नामों की परिगणना की गयी है उनमें वैदिक एवं वैदिकेतर–दोनों जातिवर्ग के लोग थे। उनकी सूची निम्नलिखित है–

कुल या समुदाय– तुर्वशु, यक्षु या यदु, भृगु या भार्गव, दुध्य, पक्थ, मलानस, आलिन, अनास, विषाणिन, शिव, त्रित्सु, अज, वैकर्ण, काण्व, अनु, शिग्रु।

राजा– सुदास, शिम्यु, भेद, शम्बर, युध्यायधि, याद्ध, देवक मान्यमान, चायमान, कवि, सुत्तक, उचथ, श्रुत, वृद्ध, मन्यु, पृथु।

इनमें से वैदिक एवं वैदिकेतर जातियों एवं राजाओं को छाँटकर पृथक् करना अत्यन्त कठिन कार्य है।[3] वैदिक कवियों ने जिन शत्रु जातियों का नामोल्लेख किया है वे नृतत्त्वशास्त्रीय दृष्टि से वैदिक जाति से सम्भवतः अधिक भिन्न नहीं थी। उनमें से कुछ तो नृतत्त्वशास्त्रीय शब्दावली में दक्षिण यूरोपीय जाति वर्ग की शाखाएँ थीं; जैसे–असुर, पणि

---

१. डी०एन० मजूमदार, रेजेज एण्ड कल्चर ऑफ इण्डिया, लखनऊ, १९४४, पृष्ठ १६।

२. ऋग्वेद, प्रसुव आपो महिमानमुत्तमं कारुर्वोचाति सदने विवस्वतः।प्रसप्त सप्त त्रेधा हि चक्रमुः प्र सृत्वरीणामति सिन्धु रोजसा।। ऋ० १०–७५–१, (विवस्वान के स्थान के पवित्र जलो, कवि तुम्हारी उत्तम महिमा का वर्णन करता है। नदियाँ सात सात संख्या वाले तीन वर्गों (सप्तकों) में चलकर आयीं। उन सभी नदियों में सिन्धु सबसे बढ़कर है)।

३. डॉ० शम्भुनाथ सिंह, वैदिक काल, पृष्ठ ३४।

आदि। और कुछ भूमध्यसागरीय जातिवर्ग की थी, जैसे— दास या दस्यु, शिव आदि। कुछ जातियां नीग्रो जातिवर्ग की, अफ्रीकी, आस्ट्रेलियाई शाखा के मिश्र वर्ग की भी थीं, जैसे— विषाणिन, अनास आदि।[१] इनमें से किस जाति का निवासस्थान कहाँ था?— यह बता सकना अत्यन्त कठिन है। केवल एक सूक्त 'सरस्वतीसूक्त'[२]— में कुछ जातियों के निवास स्थान का पता चलता है।

सरस्वती नदी की स्तुति करते हुए वार्हस्पत्य भारद्वाज ऋषि ने लिखा है कि सरस्वती नदी तीन स्थानों (प्रदेशों) में बहती हैं, उसकी सात बहनें (सहायक नदियाँ) और उसके क्षेत्र में पंच जात (पाँच जातियां) निवास करते हैं। इन पंच जात या जातियों में या स्वयं वैदिक जाति में जो इन्द्र आदि देवताओं की उपासना करती थी दूसरी जाति पणियों की थी जो भूमध्यसागरीय जातिवर्ग में होने के कारण वैदिक जाति जैसी नहीं थी। यह समुद्री मार्ग से व्यापार करने वाली जाति थी। वे लोग सरस्वती नदी के तट पर नगर बसाकर रहते थे वे बहुत ही कंजूस और लोभी थे तथा वैदिक पुरोहितों को दान नहीं देते थे, किन्तु सरस्वती के तट पर रहते—रहते उनका शोधन हो गया, अर्थात् वे भी आर्यधर्म में दीक्षित हो गये। इसी तरह सरस्वती की घाटी में ही पारावत नामक एक जाति बसती थी, जो सम्भवतः शवरवर्ग अवैदिक जाति थी। वन्य जाति को वैदिक जाति के लोगों ने सरस्वती क्षेत्र से दूर भगाया। सरस्वती के तट पर वृषण जाति के लोग थे जो मायावी, छल—कपट करने वाले थे। वे वैदिक देवताओं के निन्दक थे। वैदिक जाति के लोगों का उनसे भी संघर्ष होता रहता था। इसी तरह वृत्र के वंशज दास जाति के लोग भी वहाँ निवास करते थे। जिन्हें वैदिक जाति के लोगों ने मार भगाया। इन पांचों जातियों में से ही वृषण तथा दास मूलतः एक ही जाति वर्ग के थे, किन्तु उनके धार्मिक आचार एवं संस्कृति में कुछ भिन्नता थी। इस तरह सिन्धु घाटी के पूर्वी भाग में स्थित सरस्वती घाटी में भी सिन्धु सभ्यता के निर्माता पणि और असुर तथा वैदिक देवपूजक आस—पास ही रहते थे।

निष्कर्ष यह है कि वैदिक जाति और सिन्धुघाटी की सभ्यता के निर्माताओं की जातीयता एक ही थी वे अनादिकाल से हिन्दकुश और हिमालय के पश्चिम में स्थित दूर—दूर के भू—भागों में साथ साथ रहते थे। इनके अतिरिक्त मंगोल जाति वर्ग की कतिपय शाखाएँ—किरात, गन्धर्व, किन्नर आदि भी हिमालय के पर्वतीय प्रदेश से नीचे आकर इनके साथ बस जाते थे। साथ ही आस्ट्रेलियाई, अफ्रीका की जाति वर्ग की शाखाओं की कुछ जातियां परावत (शवर) आदि भी सरस्वती नदी के काँठे के वनों में निवास करती थी। मायावी वृषण सम्भवतः भूमध्यसागरीय मिश्र वर्ग के लोग थे जिनकी नाक चौड़ी होती थी। इसीलिये उन्हें दसराज—युद्ध के प्रसङ्ग में 'अनास' कहा गया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जिसे सिन्धु घाटी सभ्यता का काल कहा जाता है, वस्तुतः वही वैदिक काल भी है। ऋग्वेद के शतशः (सैकड़ों) सूक्तों में वैदिक जाति और सिन्धु घाटी के नगरों में निवास करने वाली जातियों के पारस्परिक युद्धों का वर्णन किया गया है। सर्वश्रेष्ठ वैदिक देवता इन्द्र को 'पुरन्दर' (पुरों या दुर्गों को नष्ट करने वाला) कहा गया है और यह भी बताया गया है कि इन्द्र ने असुरों, दासों और पणियों के ९९ पुरों को

---

१. डॉ० शम्भुनाथ सिंह, वैदिक काल, पृष्ठ ३४।

२. ऋग्वेद, ७/९५—१,२।

नष्ट कर दिया।[1] पुर से तात्पर्य किलेवन्दी वाले नगरों से है जिसे परवर्ती काल में दुर्ग कहा जाता था। ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में यह भी बताया गया है कि असुर और पणि ग्रामों में निवास करने वाली जाति के लोगों की गायें चुरा लेते थे तथा रात्रि में उनके ग्रामों पर आक्रमण कर देते थे। फिर भी उनका पारस्परिक सम्बन्ध था। ग्रामों के निवासी वैदिक जाति के लोग अपना–अपना अन्न नगरवासियों के हाथ बेंचते थे तथा उनसे आभूषण, वस्त्र, बर्तन आदि खरीदते थे। वे नगरवासी पणियों से व्याज पर उधार धन भी लेते थे।[2] इन नगरवासी व्यवसायी लोगों का सम्पर्क वहरीन द्वीप मेसोपोटामिया के उर, अवकाद, वेविलोन तथा मिश्र नगरों से था। जहाँ से वे समुद्री मार्ग से व्यापार करने जाते थे।

इन बातों का प्रमाण मोहनजोदड़ो, हड़प्पा आदि सिन्धु घाटी के ध्वंसावशेषों से प्राप्त सुमेरियन सभ्यतावाली वस्तु तथा सुमेरियन नगरों के ध्वंसावशेषों में प्राप्त सिन्धुघाटी की मुहरें आदि हैं।[3] इसी तरह ऋग्वेद के सूक्तों में भी बड़ी नावों से समुद्रयात्रा का वर्णन मिलता है।[4] जिससे प्रमाणित होता है कि उस काल के लोग समुद्री मार्ग से अन्य देशों की यात्रा करते थे। इस प्रकार सिन्धु सभ्यता एवं वैदिक साहित्य का काल एक ही सिद्ध होता है। सिन्धुघाटीसभ्यता का काल अधिकतम विद्वानों ने ४ हजार अथवा ३ हजार ई०पू० तक माना है। समकालीन सभ्यता का प्रतिनिधित्व करने के कारण वैदिक जाति की सभ्यता का काल भी यही मानना पड़ेगा। यह काल आज ऐतिहासिक दृष्टि से ताम्र और कांस्य का काल माना जाता है; क्योंकि मोहनजोदड़ो, हड़प्पा आदि सभी स्थानों में प्राप्त धातुनिर्मित वस्तुओं में ताम्र और कांस्य का ही बाहुल्य है। किन्तु वैदिक साहित्य और उन नगरों की सभ्यता में प्रारम्भिक कृषियुगीन संस्कृति का प्रभाव इतना अधिक दिखायी पड़ता है कि समूचे काल को ताम्र कांस्य युग के अन्तर्गत रखना उचित प्रतीत होता है। विना अयस्क उपकरणों के बड़े पैमाने पर कृषि और पक्के भवनों के निर्माण का कार्य सम्भव नहीं है। ऋग्वेद में 'अयस' शब्द का प्रयोग बार–बार हुआ है[5] जिसका अर्थ अयस्क होता है। अतः ध्वंसावशेषों में भले ही लोहा न प्राप्त हो, किन्तु ऋग्वेद के साक्ष्य पर इस ''सैन्धव वैदिक सभ्यता'' (सिन्धुघाटी एवं वैदिक जातीय सभ्यता) को अयस युग के अन्तर्गत रख सकते हैं।

यह सभ्यता एक समन्वित संस्कृति पर आधृत थी जिसमें अनेक जातियों, धर्मों, सम्प्रदायों और विश्वासों को मानने वाले लोग एक साथ पड़ोसी के रूप में रहते थे। धन

---

१. ऋग्वेद, १–५४–६

त्वमाविथ नर्यं तुर्वशं यदुं त्वं तुर्वीतिं वय्यं शतक्रतो।
त्वं रथमेतशं कृत्व्ये धने त्वं पुरो नवतिं दम्भयो नव।।

२. ऋग्वेद, ८–६६–१०

कदू महीरधृष्टा अस्य तविषीः कदु वृत्रघ्नो अस्तृतम्।
इन्द्रो विश्वान् वेकनाटाँ अहर्दृश उत क्रत्वा पणींरभि।।

३. डॉ० शम्भुनाथसिंह, वैदिक काव्य, पृष्ठ १०३–१०८।

४. ऋग्वेद, ५–५९–२।

५. ऋग्वेद, २/२१/७/८

स वृत्तहेन्द्रः कृष्णयोनीः पुरन्दरो दासीरैरयद्वि।
अजनयन्मनवे क्षामपश्च सत्राशंसं यजमानस्य तूवोत्।। ७।।
तस्मै तवस्य मनुदोपि सत्रेन्द्राय देवेभिरर्णसातो।
प्रति यदस्य वज्रं वाह्वोर्धुर्हत्वी दस्यून्पुर आयसीर्नि तारीत्।। ८।।

का लोभ और साम्प्रदायिक विद्वेष आज की ही भाँति उनमें भी था। जिसके कारण वे परस्पर युद्ध करते रहते थे अथवा चोरी डकैती, सूदखोरी, मुनाफाखोरी आदि द्वारा धन–सञ्चय करते थे। वे अपने धार्मिक एवं साम्प्रदायिक विश्वासों में परिवर्तन भी किया करते थे।

ये सब बातें पश्चिमी एवं पश्चिमोत्तर भारत में ही थी। भारत के अन्य भागों में निवास करने वाला मनुष्य सम्भवतः अभी तक ताम्र एवं कांस्य युग में नहीं पहुँचा था। यह मानव गङ्गा की निचली घाटी के घने जङ्गलों, विन्ध्य की उपत्यकाओं, दक्षिणी भारत के पठारी जङ्गलों और पश्चिमी एवं पूर्वी घाटी की पर्वतमाला के उपत्यकाओं में शिकार और पशुपालन द्वारा जीवनयापन करता था। कबीलों में बस्तियां बनाकर रहता था और अन्य नव समूहों से सम्पर्क स्थापित करने में डरता रहता था। पश्चिमी अं.र पश्चिमोत्तर भारत की आबादी ज्यों ज्यों अधिक होती गयी, वहाँ के निवासी उत्तरोत्तर पूर्व और दक्षिण दिशा में फैलते गये। महाभारतकाल तक (लगभग १४०० ई०पू०) वे लोग समस्त भारत में फैल गये और अन्य मूल निवासियों के साथ सम्पर्क स्थापित कर उन्होंने अपनी सभ्यता एवं संस्कृति का विस्तार किया। कहने का तात्पर्य यह है कि 'सैन्धव वैदिक सभ्यता' के काल (४००० ई०पू० से १५००० ई०पू०) में भारतीय समाज की सभ्यावस्था की समस्त क्रियाएँ गङ्गा–यमुना नदियों के पश्चिम तथा दक्षिण में गोदावरी नदी तक ही सीमित थी।

अगले पृष्ठों में सभ्यावस्था में पहुँचे हुए इसी मानव समाज की सामाजिक स्थिति के सम्बन्ध में संक्षेप में विचार किया जायगा।

सैन्धव–वैदिक समाज

सिन्धु घाटी के पुरावशेषों के उत्खनन में प्राप्त विविध वस्तुओं के अध्ययन एवं वेदों तथा ब्राह्मणग्रन्थों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि सैन्धव वैदिक काल में समाज, शिकार या कबीलायुग की अवस्था को पार कर, पहले पशुपालन एवं हलयुग में प्रविष्ट हुआ और दो हजार वर्ष में अन्ततः कृषियुगीन अथवा सामन्तयुगीन अवस्था में पहुँच गया। इस तरह पुरातात्त्विक दृष्टि से यह काल दो युगों– ताम्र–कांस्य–युग एवं प्रारम्भिक लौह युग का काल था। इस लम्बी अवधि में सैन्धव वैदिक समाज सभ्यता की ओर बढ़ता गया। मोहनजोदड़ो, हड़प्पा, शिवर की आदि पुरावशेषों के निचले स्तरों में जो नवपाषाणकालीन प्रस्तर उपकरण उपलब्ध हुए हैं तथा वैदिक प्रस्तर एवं अस्थि के जिन अस्त्रों का उल्लेख हुआ है उनसे ज्ञात होता है कि इस समाज ने नवपाषाण युग की अवस्था को इस भारतभूमि में ही पार किया था और ताम्र एवं कांस्य उपकरणों की सहायता से कृषि एवं वाणिज्य का कार्य प्रारम्भ किया था। इस अवस्था में सभ्यता के सभी अङ्गों का सम्यक् विकास हुआ था। इन अङ्गों को हम निम्नलिखित शीर्षकों में विभक्त करके विचार करेंगे–

(१) राजनीतिक स्थिति, (२) सामाजिक स्थिति, (३) धार्मिक स्थिति,
(४) आर्थिक स्थिति, (५) सांस्कृतिक स्थिति।

(१) राजनीतिक स्थिति– यद्यपि सैन्धव वैदिक सभ्यता के काल में कबीलायुग समाप्त हो चुका था, किन्तु उसकी अनेक स्थितियां परिवर्तित रूप में अब भी विद्यमान थीं। सिन्धुघाटी के ध्वंसावशेषों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि ये राज्यों की राजधानियाँ नहीं थी, अपितु व्यापारिक नगर थे, जिनमें पुरोहित अथवा कोई चुना हुआ व्यक्ति शासन करता था। इन नगरों का निर्माण बहुत ही सुनियोजित ढंग से हुआ था, जिनमें सड़कें

एक ही ढंग के मकान, सामूहिक स्नानागार, सामूहिक अन्नागार, सभा–भवन, पूजागृह आदि वर्तमान थे। ऐसे नगरों का निर्माण एवं शासन–प्रबन्ध बिना किसी योजना–निर्माता या प्रशासक के सम्भव नहीं है। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि इन नगरों में यूनानी नगरों की भाँति नगर–राज्य था।[1] डॉ० अलटेकर के अनुसार प्राचीन भारत में जो नगर थे उनका प्रारम्भिक स्वरूप सिन्धु घाटी के नगरों में निर्मित दिखायी पड़ता है। देवता का पुजारी ही वंशानुक्रम से नगर का प्रशासक होता था।

वैदिक सूक्तों से यह बात प्रमाणित हो जाती है। ऋग्वेद के एक सूक्त (६/२७/१–८१) में हरुपिया (वर्तमान हड़प्पा) के शासक वृचिवन्त जातिय वरशिखक वंशजों पर पृथ्वु वंश के राजा अभ्यवली के पुत्र चायमान द्वारा आक्रमण किये जाने का उल्लेखेख हुआ है। इस युद्ध में इन्दापोसक चायमान की ओर से वैदिक पंच जनों में से पुरु जन, सृञ्जय, कुंज के लोग लड़ रहे थे। वैदिक पंचजन के ही तुर्वश वंश के लोग परशिख की सहायता कर रहे थे। इस उल्लेख से यह निष्कर्ष निकलता है कि हरूपिया नगर में जिस समय वृचिवन्त जाति के वंशज (असुर) वर्चि, वरशिख वंश के लोग प्रशासन कर रहे थे, उस समय वैदिक जनों एवं असुरों में पास्परिक सम्बन्ध था, क्योंकि, तुर्वश जनों ने वरशिख के वंशजों की सहायता की। इस वर्णन से यह ज्ञात होता है कि इस काल में विभिन्न वंशों के प्रमुख व्यक्ति या सरदार ही शासन का कार्य करते थे और उन्हीं को 'राजा' कहा जाता था, किन्तु राजा का अपने विशेष गुणों के आधार पर चयन होता था।

ऋग्वेद में जिन वंशों और राजाओं का वर्णन हुआ है उन्हें हम दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं– (१) कुलराज्य या गणराज्य एवं (२) राजतन्त्र। कुल या गण या जन राज्यों का उल्लेख जहाँ हुआ है वहाँ राजा का नाम नहीं आया, वहाँ केवल गण या कुल का नाम आया है। उदाहरणार्थ–दासराज युद्ध में जिन कुलों या समुदायों ने भाग लिया था उनमें राजा का नाम नहीं आया केवल कुल, जन या गण का नाम आया है। जैसे तूर्वश, यदु, द्रुह्यु एवं पुरु, अनु तो जन है, किन्तु भृगु, अज, कण्व, वैकर्ण आदि कुल है और त्रित्सु गण है। इन सभी में राजा का अस्तित्व सम्भवतः नहीं था। प्रत्येक कुल का प्रधान (अगुआ) या सरदार होता था, उसी का अनुशासन मान्य होता था। परवर्ती युगों में गणराज्यों का विकास इसी परम्परा में हुआ।

किन्तु इस काल में राजतन्त्र का उदय हो चुका था। वैदिक जातियों में सहस्त्रों वर्षों तक जो राजा हुए, उनमें से कुछ प्रसिद्ध नाम ये हैं–

(१) ऋजिशवन– विदार्थ का पुत्र विप्रु, जिसने मृगय और शुशुवंश के नगरों को ध्वस्त किया और दासों को विध्वस्त किया।[2]

(२) कुत्स– पुरुवंशीय था, जिसने इलिविश सुशज के दृढ़ दुगों को तोड़ा।[3]

(३) दिवोदास– वध्यस्व का पुत्र जिसने शम्वर और बर्चि के सुदृढ़ नगरों को तोड़ा।[4]

(४) सुदामा– पिजवन का पुत्र और दिवोदास का पौत्र था जिसने दासराजयुद्ध में दस शत्रुओं की सम्मिलित सेना को पराजित किया था।

(५) पुरुकुत्स– जिसने पित्र के सात शारदीयु के दुर्गों को तोड़ा था।[5]

१. एन० यस० अलटेकर, *प्राचीन भारतीय शासनपद्धति*, पृष्ठ ३३०।

२. ऋग्वेद, १/५१/५।

३. वही, १/३३/१२।

४. वही, ७/१८/१३–१४।

५. वही, १/६३/७।

(६) त्रसदस्यु– पुरुकुत्स का पुत्र जो दासराज युद्ध के बाद असुरों पर सबसे अधिक आक्रमण करने वाला राजा माना गया था।[१]

ये राजा किस प्रकार के राजा थे, इसका स्पष्ट उल्लेख वैदिक सूक्तों में नहीं हुआ है। वैदिक काल में समाज का सङ्गठन कुलों या वंशों के आधार पर हुआ था। किसी ऋषि या महान् वीर पुरुष के वंशज थे और उनका इस वंश के प्रवर्तक गोत्र से सम्बन्ध होता था। कालान्तर में उनके वंश की वृद्धि हो जाने पर भी वे उसी गोत्र के नाम से जाने जाते थे। जैसे भारद्वाज के वंशज भारद्वाजा, भृगु के वंशज भार्गवा, अङ्गिरस के वंशज अङ्गिरसा आदि।

यही वंशज ग्रामों में बस जाने पर 'विश' कहलाने लगे। कई ग्रामों का एक विश होता था। जिसका मुखिया 'विशपति' कहलाता था। सङ्ख्या–वृद्धि हो जाने पर एक ही गोत्र के अनेक विश बन जाते थे। उन सबको मिलाकर एक जन कहा जाता था। उदाहरणार्थ– ययाति के पुत्रों– पुरु, यदु, तुर्वशु, अनु और द्रुह्यु के नाम पर सम्भवतः हजारों वर्षों में विशाल जन बन गये जो हिन्दकुश और हिमालय के पूर्व एवं पश्चिम के सुदूरवर्ती भू–भागों में बस गये। इन जनों के भीतर ही वर्ण का विकास हुआ। युद्ध का कार्य करने वाले 'राजन्य' कहे जाने लगे जिन्हें परवर्ती काल में क्षत्रिय कहा जाने लगा।

राजन्य वर्ग के जो व्यक्ति पूरे जन के शत्रुओं से लड़ने में अपनी विशेषता दिखलाते थे वे राजा चुने जाते थे। ऐसे व्यक्तियों का परवर्ती काल में याज्ञिक विधि से अवभृथ स्नान कराकर राज्याभिषेक किया जाता था। पुरोहित (ब्राह्मण) उन्हें जो आशीर्वाद देता था उससे स्पष्ट ज्ञान होता है कि राजा वंशपरम्परागत नहीं होता था।[२] या तो विश के लोग मिलकर योग्यतम व्यक्ति को राजा चुनते और उसे राज्य पद पर अभिषिक्त करते थे या वह स्वयं अपनी शक्ति से शत्रुओं एवं विपक्षियों को पराजित कर राजा बन बैठता था और स्वयं राज्याभिषेक कराता था।[३] ये राजा प्रजा या विश से कर भी लेते थे जिसे वे यज्ञदान आदि कार्यों में व्यय करते थे।

इतना होते हुए भी वैदिक समाज में राजा का स्थान सामान्य जनजीवन से दूर नहीं था। वह प्रजा का ही एक अङ्ग अथवा प्रतिनिधि था और युद्ध की स्थिति में वही प्रजा का नेतृत्व भी करता था। उस प्रकार के राजाओं की वीरता और दान की प्रशस्ति अनेक दान–स्तुति के सूक्तों में की गयी है, जैसे–विभिन्दु,[४], पाकस्थामा[५], निरीन्दर[६] आदि।

---

१. ऋग्वेद, ४/३८/८।

२. निम्नलिखित सूक्त से स्पष्ट हो जाता है कि विश के लोग राजा का चयन कर याज्ञिक विधि द्वारा उसे राजा बनाते थे–

> *आत्वा हार्षमन्तरेधि ध्रुवस्तिष्ठताविचाचलिः।*
> *विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्व द्राष्ट्रमधि भ्रशत्।। १।।*
>
> *ध्रुवं ध्रुवेण हविषाभि सोमं मृशामसि।*
> *अथो त इन्द्रः केवलीर्विशो वलिहृत स्करत्।। ऋग्वेद–१०/१७३।*

३. ऋग्वेद के एक अन्य सूक्त से ज्ञात होता है कि अपने बाहुबल से शत्रुओं को जीतकर तथा राज्य छीनकर भी राजा बनने की प्रथा वर्तमान थी।

> *अभिवर्तेन हविषा येनन्द्रौ अभि वावृते।*
> *तेनास्मान् ब्राह्मणस्य पतेऽभि राष्ट्राय वर्तय।। १।।*
>
> *असपत्नः सपत्नहाऽभराष्ट्रो विषासहिः।*
> *यथाहमेषां भूतानां विराजानि जनस्य च।। ५।। (ऋग्वेद १०/१७४)*

४. ऋक् ८/२/४१। *५. वही, ८/३/२४।* *६. वही, ८/६/४६–४८।*

दूसरी ओर वैदिक काल में ऐसे भी जन थे, जिनमें राजतन्त्र का प्रारम्भ नहीं था। सम्भवतः इन जनों की जनसंख्या अधिक नहीं थी और ये विशपति द्वारा ही राजा का काम चला लेते थे। ऐसे जनों में कुछ को 'गण' और कुछ को 'गोत्र' से पुकारा जाता था, जैसे त्रित्सुगण, अङ्गिरागण, त्रिभुगण तथा भार्गव, कण्व, भारद्वाज, भारत आदि। परवर्ती काल में इन गणों और जनों के विस्तार के साथ जनपदीय राज्यों का विकास हुआ, जिनमें गणराज्य स्थापित हुए।

(२) **सामाजिक स्थिति**— सैन्धव वैदिक सभ्यता के अन्तर्गत सामाजिक सङ्गठन का आकार (ढाँचा) बहुत कुछ कबीलायुगीन था। इस युग में अभी समाज का व्यापक रूप निर्मित नहीं हुआ था। जातियों, प्रजातियों एवं उपजातियों के रूप में विस्तार तो हो गया था, किन्तु इस विस्तृत जनसमाज का सुदृढ़ (ठोस) आधार पर सङ्गठन नहीं हो सका था। इस कारण प्रत्येक जाति या उपजाति के गोत्र पृथक् हो गये थे। उनके धार्मिक विश्वास भी पूर्णतः एकात्मक नहीं थे और न उन सब में एकता का भाव ही था। ये छोटे–छोटे समाज गोत्रों या कुलों के आधार पर सङ्गठित थे, जिनका इकाई परिवार था। ये कुल या गोत्र अपनी लघु सीमा में आत्मनिर्भर थे और जब भी अन्य कुलों, गोत्रों, जातियों से सम्पर्क होता था तो अपनी स्वतन्त्र सत्ता को दृढ़तापूर्वक बचाये रखते थे। वैदिक जाति की विभिन्न शाखाओं के लोग परस्पर सङ्घर्ष और मैत्री का सम्बन्ध रखते हुए भी हजारों वर्ष तक पृथक्–पृथक् बने रहें। उनकी पृथक्ता का भाव ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में व्यक्त हुआ है। जैसे पहले कहा जा चुका है कि पश्चिमोत्तर भारत में प्रायः दो हजार वर्ष तक भूमध्यसागरीय जाति वर्ग की विभिन्न शाखाएँ विविध जातियों, नामों, गोत्र–नामों के आधार पर सङ्गठित होकर पश्चिमी भारत के विभिन्न भागों में बिखरी हुई थीं। भौगोलिक भेद के कारण, एक ही जाति वर्ग के लोगों में से कुछ प्रजातियों का रंग साँवला था तो कुछ का गोरा। कुछ की नाक बहुत पतली थी तो कुछ की दबी हुई। कुछ यज्ञ द्वारा देवताओं को प्रसन्न करते तो कुछ मूर्तिपूजक और वृक्षपूजक थे। कुछ गाँवों में रहते थे, कुछ नगरों में।

इस तरह इस काल का भारतीय समाज सुसङ्गठित और परस्पर अनुबद्ध नहीं था। फिर भी उसमें एक अप्रत्यक्ष सम्बन्ध था वह सम्बन्ध मुख्यतः आर्थिक था। कृषि, वाणिज्य, कला–कौशल के क्षेत्र में पारस्परिक आदान–प्रदान होता रहता था। इसलिये एक वर्ग की संस्कृति का प्रभाव दूसरे वर्ग पर अप्रत्यक्ष रूप से पड़ता रहता था, उदाहरण के लिये मोहनजोदड़ो, हड़प्पा जैसे विशाल व्यावसायिक नगरों में दूसरे देशों से जो सामग्री असुरों तथा पणियों द्वारा लायी जाती थी, वह ग्रामीण क्षेत्रों के वैदिक जाति के निवासियों के पास अवश्य पहुँचती होगी। इसी तरह ग्रामीण क्षेत्रों द्वारा उत्पादित अन्न, लकड़ी, खनिज पदार्थ आदि वस्तुएँ नगर के लोगों तक पहुँचायी जाती थी। इस तरह अनेकता में एकता की प्रवृत्ति बनी हुई थी। ऋग्वेद में वैदिक जाति की दो शाखाओं— वरुणपूजक असुरों एवं पणियों, इन्द्राग्निपूजक लोगों में परस्पर द्वेष और घृणा का भाव बहुत समय तक बना रहा। उनके युद्धों की कथाएँ ऋग्वेद में भरी हुई हैं। इसी तरह भारत के अन्य भागों में बसने वाली आदिम जाति के प्रति भी इन्द्रपूजक लोगों की धारणा अच्छी नहीं थी। वे उनसे दूर ही रहना चाहते थे।

विभिन्न जातिवर्ग— मोहनजोदड़ो, हड़प्पा, कालीवंगा, रंगपुर, लोथल आदि नगरों में बसने वाले मानवसमुदाय सम्भवतः एक ही जातिवर्ग के नहीं थे, अपितु उनमें अनेक जातियों एवं प्रजातियों के लोग थे। अतः उनका सामाजिक सङ्गठन निश्चय ही रक्त–

सम्बन्ध पर आधृत न होकर आर्थिक और प्राशासनिक नियमों पर आधृत रहा होगा। ये लोग सुनियोजित जीवन व्यतीत करते थे। नगर और राज्य द्वारा बनाये गये मकानों में रहते थे। सामूहिक स्नानागार में स्नान करते और सुमेरियन जुग्गुरत, जैसे–मन्दिर (सम्भवतः वरुण मन्दिर) में उपासना करते थे। मन्दिर के निकटस्थ विशाल सभाभवन में एकत्र होकर विचार–विनिमय करते थे। इस तरह उनका सामाजिक जीवन सङ्गठित था। इसके विपरीत गांवों में रहने वाले लोग इतने सङ्गठित नहीं थे। ये इनके ग्राम गोत्रों के आधार पर बसे हुए थे जो अधिकतर संयुक्त परिवारों में विभक्त थे। इनमें से प्रत्येक परिवार की जीवनविधि अकेले–अकेले परिचालित होती थी। प्रत्येक परिवार अपने भरण–पोषण एवं आवास का अपने ढंग से पृथक्–पृथक् प्रबन्ध करता था। इस कारण ग्रामों में बाह्यरूपात्मक एकता नहीं थी, किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से ये ग्रामनिवासी अधिक सङ्गठित थे। सामूहिक यज्ञ ही उनका महोत्सव होता था। जिसमें वे लोग दूर दूर से, एकत्र होते थे। शत्रुओं का आकमण होने पर ये लोग शीघ्र ही आत्मरक्षार्थ सङ्गठित होकर निकल पड़ते थे।

विवाह–प्रथा– नगर एवं ग्रामीण–दोनों ही समाजों में विवाह–प्रथा का प्रचलन हो गया था। उसी के आधार पर परिवार भी बनने लगा था। इस तरह पति–पत्नी, माता–पिता, पुत्र–पुत्री, पुत्र–वधू और पौत्र आदि तक परिवार की सीमा बन गयी। प्रत्येक अपने परिवार के सुख के लिये सुन्दर वस्त्र, आभूषण, भवन, आसन, यान आदि प्राप्त करना चाहता था और इसके लिये वह स्वतन्त्र एवं पृथक् रूप में श्रम करता था। इस तरह श्रम और पूँजी के आधार पर समाज में विभिन्न व्यवसायों का वर्गीकरण हुआ। बढ़ई, लुहार, स्वर्णकार, वैद्य, शिल्पकार, राजन्य, ब्राह्मण, पणि आदि नाम इनके व्यवसायों के आधार पर प्रचलित हुए। शारीरिक श्रम एवं सेवा–कार्य के लिये युद्धों में पकड़े गये लोगों को दास–दासियाँ बना लिया जाता था। धीरे–धीरे विभिन्न पेशों को वंशपरम्परागत रूप में अपनाने वाले लोगों की जन्मना जाति बनती गयी, किन्तु जातीय व्यवसाय बदल देने पर जाति–परिवर्तन भी हो जाता था। इसीलिये ऋग्वेद के अनेक महर्षि और उनके वंशज यज्ञ कर्म छोड़कर युद्ध करते दिखायी पड़ते हैं। इसी तरह अनेक राजन्यवर्ग के लोग याज्ञिक ऋषि भी बनते दृष्टिगत होते हैं। नगरों में भी विभिन्न व्यवसाय स्वीकारकरने वाले लोग थे।

व्यवसाय– मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा आदि नगरों में जो भवन, मिट्टी के बर्तन, ताम्र और कांस्य के अस्त्र, वस्त्रों के नमूनें और आभूषण आदि प्राप्त हुए हैं, उनसे ज्ञात होता है कि उनके बनाने वालों का विशेषीकृत ज्ञान वंशानुगत ही होगा और वहाँ बढ़ई, लोहार, कुम्भकार, शिल्पकार, राजगीर आदि व्यावसायिक जातियां रही होंगीं। इनमें से भवननिर्माताओं का वास्तुज्ञान इतना उन्नत था कि आज के अभियन्ता उन्हें देखकर आश्चर्य करते हैं। इसी तरह कुम्भकारों के रंग–मिश्रण एवं चित्रण की कला आश्चर्यजनक प्रतीत होती है।

वर्णव्यवस्था– परवर्ती काल में इन समस्त व्यवसायों को चार वर्गों में वर्गीकृत करके चार वर्णों की कल्पना की गयी, किन्तु ये वर्ण एक दूसरे से छोटे या बड़े नहीं माने जाते थे। ऋग्वेद के दशम मण्डल में पुरुषसूक्त के निम्नलिखित मन्त्र में चारों वर्णों को समान माना गया है; क्योंकि ये एक ही विराट् पुरुष से उत्पन्न हुए हैं–

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥[1]

किन्तु यह सूक्त दशम मण्डल के अन्तिम भाग का है जो बहुत ही परवर्ती प्रतीत होता है। अतः यह कहा जा सकता है कि प्रारम्भिक सैन्धव वैदिक काल में वर्ण–व्यवस्था प्रचलित नहीं थी। वह जातियों के प्रारम्भ होने के पश्चात् हुई, जिससे विभिन्न जातियों में पारस्परिक भेद–भाव और ऊँच–नीच की भावना उत्पन्न हुई। किन्तु प्रारम्भिक सैन्धव वैदिक सभ्यता के काल में सभी प्रकार के व्यवसायों को अपनाने वाले लोग समान माने जाते थे। वैदिक कवि निरन्तर समानता की भावना का उपदेश देता है, वह सबके सुख एवं कल्याण के लिये देवताओं से प्रार्थना करता है और समान भाव से रहने खाने–पीने, सोचने और कर्म करने का सङ्कल्प प्रस्तुत करता है।

सङ्गच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते ॥
समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषं जुहोमि ॥
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथाव सुसहासति ॥[2]

स्त्रियाँ— सैन्धव वैदिक युग में स्त्रियों को बहुत ही सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त था। सैन्धव मृद्भाण्डों पर जो चित्र अङ्कित है, उनमें पवित्र अश्वत्थ वृक्ष के पास स्त्रियाँ पुजारी के रूप में दिखायी पड़ती हैं। सैन्धव सभ्यता सम्भवतः मातृशक्ति की उपासना करती थी; क्योंकि मृण्मूर्तियों में प्रायः मातृदेवी की प्रतीकात्मक मूर्तियां बहुत अधिक मिलती हैं। एक कांसे की नारी–मूर्ति प्राप्त हुई है, जिसे नग्न नर्तकी की मूर्ति कहा जाता है, किन्तु सम्भवतः यह देवी की मूर्ति प्रतीत होती है। यदि यह नर्तकी की मूर्ति होती तो नग्न नहीं होती। शिश्नदेवोपासक होने के कारण ये नग्न पशुपति–लिङ्ग, नग्न देवी एवं योनि–प्रतीकों की मूर्तियां बनाते थे। इससे अधिक सैन्धव समाज में नारियों की स्थिति का कोई ज्ञान नहीं प्राप्त हो सका है, किन्तु वैदिक साहित्य में इन्द्रपूजक समाज की स्त्रियों की स्थिति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। ये स्त्रियाँ पुरुषों के समान ही मन्त्रद्रष्टा होती थी। ऋग्वेद में घोषा, अपाल, रोमशा, विश्वपारा, पौलोमी, लोपामुद्रा, विश्वपा आदि स्त्रियाँ यज्ञों में पुरुषों के साथ यजमानों के साथ बैठती थीं। ये यज्ञ करती और कराती थीं तथा दान देती थी। उस समय पर्दा–प्रथा का प्रचलन नहीं था। पुरुष और स्त्री स्वतन्त्र रूप से परस्पर मिलते–जुलते थे।

रहन–सहन— सैन्धव वैदिक समाज में रहन–सहन का स्तर बहुत ही ऊँचा था। सैन्धव नगरों में पुरुष कसीदा वाले वस्त्र धारण करते थे और स्त्रियां बाहों में धातुनिर्मित कङ्गन, गले में हार आदि पहनती थीं। इसके साथ ही आभूषणों के निर्माण में गुड़ियों एवं मनकों का प्रयोग किया जाता था। इन्द्रपूजक समाज में पुरुष केवल अधोवस्त्र और उत्तरीय धारण करते थे एवं स्वर्णनिर्मित आभूषण भी धारण करते थे। इस समाज के लोग घोड़ो, रथों आदि के बहुत प्रेमी थे और घुड़दौड़ तथा रथदौड़ की प्रतियोगिताओं में भाग लेते थे। इस समाज में जूआ खेलने एवं सुरापान की प्रथा प्रचलित थी। एक सूक्त में एक

---

१. ऋग्वेद, १०/९०/११
२. वही, १०/१९१,२–४।

जुआरी ने अपने दुःखी जीवन का बहुत ही मार्मिक चित्रण किया है।[1] इसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि अक्ष–क्रीड़ा मनोविनोद का लोकप्रिय साधन थी। वांसुरी, दुन्दुभि, मादल आदि वाद्यों का प्रयोग किया जाता था[2] तथा सामूहिक रूप से गीत गाने और नृत्य करने की प्रथा प्रचलित थी।[3]

(३) **धार्मिक स्थिति**– धर्म–साधना की दृष्टि से सैन्धव वैदिक समाज में अत्यधिक वैविध्य दिखायी पड़ता है। वस्तुतः भूमध्यसागरीय जाति–वर्ग की जो शाखाएँ हजारों वर्ष पूर्व एक दूसरे से विच्छिन्न होकर अलग–अलग स्थानों में जा बसी थीं। उन्होंने अपने स्वतन्त्र धार्मिक विश्वासों का विकास किया। वैदिक साहित्य में भूमध्यसागरीय जातिवर्ग की विभिन्न शाखाओं के देवताओं से सम्बद्ध स्तुतियाँ सङ्कलित हैं, किन्तु वैदिक ऋषियों के प्रधान देवता इन्द्र और अग्नि हैं। यद्यपि ऋग्वेद में वरुण, मरुत, सोम, आदित्य, रुद्र आदि देवताओं और उषा, रात्रि, वाक्, श्रद्धा आदि देवियों से सम्बद्ध ऋचाएँ उपलब्ध हैं, किन्तु सबसे अधिक स्तुतियाँ इन्द्र और अग्नि के सम्बन्ध में है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि अनेकानेक स्तुतियाँ परम्परागत रूप में सङ्कलित तो कर ली गयी थीं, किन्तु भारतीय परिप्रेक्ष्य में केवल इन्द्र, अग्नि और सोम ही वैदिक समाज के देवता रह गये थे।

वरुण और इन्द्र की उपासना इस समाज में लुप्तप्राय हो गयी थी; किन्तु हिन्दकुश और हिमालय के पश्चिम के देशों में मित्र, वरुण आदि देवताओं की उपासना किसी न किसी रूप में वर्तमान थी। मेसोपोटामिया के जिग्गुरत वस्तुतः वरुण देवता के ही मन्दिर थे। यह देवता प्रारम्भ में अन्तरिक्षस्थानीय था, जिसे ऋग्वेद में समुद्रस्थानीय बना दिया गया। मेसोपोटामिया के देव–मन्दिरों के समान मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में भी प्राकारवेष्टित ऊँचे चबूतरे प्राप्त हुए हैं, जिन पर सम्भवतः जिग्गुरत जैसे गोलाकार ऊँचे भवन बने होंगे। अतः सैन्धव सभ्यता में ये पीठ–मन्दिर सम्भवतः वृहद् लिङ्ग के समान स्तूपाकार थे जो निश्चय ही वरुण के नहीं, अपितु रुद्र के उपासनास्थल रहे होंगे। इस मान्यता का कारण यह कि एक ओर तो मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में योगमुद्रा में लीन और पशुओं से घिरे पशुपति शिव की मूर्तियाँ एवं चित्र मिलते हैं, दूसरी ओर ऋग्वेद में भी विनाश के देवता रुद्र की स्तुति वाले कतिपय सूक्त हैं। यह रुद्र सैन्धव धर्म के पशुपति शिव ही हैं। यह देवता त्रिमुख हैं जिसके केवल दो मुख दिखायी पड़ते हैं। उसके शिर पर त्रिशृङ्ग मुकुट है और उसके दोनों हाथ घुटनों पर से भूमि छू रहे हैं। उसके दोनों पांव मुड़े हुए योगासन की मुद्रा में हैं। इसी से मिलते–जुलते इस देवता के अन्य चित्र भी प्राप्त हुए हैं, अतः सैन्धव नगरों का यही प्रधान देवता प्रतीत होता है। लिङ्ग सम्भवतः इसी देवता का प्रतीक है। इन दोनों नगरों में लिङ्गाकार मृण्मूर्तियाँ बहुत अधिक संख्या में प्राप्त हुई हैं।

वैदिक सूक्तों में इन नगरों के निवासी असुरों की शिश्नदेव अर्थात् लिङ्ग–पूजक कहा गया है। इन नगरों में मातृदेवी की असंख्य मूर्तियां प्राप्त हुई हैं जिनमें अधिकांश नग्न हैं। इसी तरह योनि के प्रतीक अर्घा जैसी छिद्र वाली मृण्मूर्तियां भी प्राप्त हुई हैं जिन्हें मातृदेवी की प्रतीक मूर्ति कहा जा सकता है। यह भी स्त्रीलिङ्ग की पूजा के लिये थी। अतः इन नगरों के निवासियों को वैदिक ऋषियों ने शिश्नदेव उचित ही कहा था।

देवद्रुमपूजा– मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा में मृद्भाण्डों और मुहरों पर जो चित्र उत्कीर्ण हैं, उनमें देवद्रुम प्रतीक की प्रमुखता है। यह देवद्रुम पीपल है, जिसे आधुनिक

१. ऋग्वेद, १०/३४। *२. अथर्ववेद, १२/१,४१।* *३. ऋग्वेद, १०/७१,११*

हिन्दू समाज में महादेव कहा जाता है। ऋग्वेद में भी अश्वत्थ (पीपल) को देवद्रुम ही माना गया है। इस देवद्रुम के रक्षक के रूप में अनेक प्रकार के पशुओं का चित्राङ्कन हुआ है। सम्भवतः ये पशु देवदूतों के प्रतीक हैं। इस तरह सैन्धव समाज धार्मिक उपासना की दृष्टि से वैदिक समाज से कुछ समानता रखते हुए भी पर्याप्त भिन्न था।

बहुदेवोपासना– वैदिक समाज बहुदेवोपासक था। इनके प्रायः सभी देवता प्राकृतिक शक्तियों के प्रतीक थे, जैसे–इन्द्र, परजन्य, आदित्य, वरुण, अग्नि, मरुत, आदि क्रमशः वर्षा, बादल, प्रकाश, जल, तेज, झञ्झावात आदि के प्रतीक थे। वैदिक समाज में ब्राह्मण या पुरोहित वर्ग इन देवताओं को प्रसन्न करने के लिये यज्ञों का विधान करते थे और उन्हें अग्नि में आहुति, सोम रस आदि का हवन कर देवताओं को अपने पास आहूत करते थे। उनका विश्वास था कि अग्नि के माध्यम से उनकी आहुति देवताओं तक पहुँचती है और देवता प्रसन्न होकर उनकी इच्छाओं की पूर्ति करते हैं। इसीलिये वैदिक ऋषि अपनी स्तुतियों में देवताओं से धन, अन्न, गाय, स्वर्ण, रथ, पुत्र आदि की याचना करते थे और शत्रुओ को नष्ट करने, रोगों को भगाने, तथा दरिद्रता को दूर करने की प्रार्थना करते थे।

इस तरह वैदिक धर्म कर्मकाण्डप्रधान था जिसमें होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा–ये चार कर्मकाण्डी प्रधान होते थे। ये लोग यजमान के लिये यज्ञ करते और उससे दक्षिणा के रूप में प्रभूत धन प्राप्त करते थे। इन यज्ञों में घृत, सोमरस, जौ तथा विभिन्न पशुओं की वलि दी जाती थी। वलि–पशुओं के आधार पर ही अनेक यज्ञों के नाम पड़े थे, जैसे– अश्वमेधयज्ञ, गोमेधयज्ञ, नरमेधयज्ञ। यज्ञों के अतिरिक्त जादू–टोना, भूत–प्रेत, मन्त्र–तन्त्र आदि में भी लोगों का विश्वास था। इनके सम्बन्ध में ऋग्वेद में अनेक सूक्त लिखे गये। अथर्ववेद इस प्रकार के मन्त्रों से भरा पड़ा है। ऋग्वेद में अनेक सूक्त लिखे गये हैं। अथर्ववेद इस प्रकार के मन्त्रों से भरा पड़ा है। ऋग्वेद के पूर्ववर्ती सूक्तों में सैन्धव नगरों के निवासी असुरों को मायावी (मावीनः) कहा गया है, जिसका अर्थ है कि वे जादू–टोना, मन्त्र–तन्त्र आदि जानते थे। वैदिक साहित्य में इस प्रकार के सूक्तों का होना यह प्रमाणित करता है कि बहुत समय तक पड़ोसी के रूप में एक साथ रहने के कारण वैदिक समाज ने असुरों से ये बातें ग्रहण कर ली थीं। यह प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया जिसकी परिणति अथर्ववेद में दिखायी पड़ती है।

अन्तिम (दाह) संस्कार– मोहनजोदड़ो, हड़प्पा तथा अन्य सैन्धव नगरों में मृत्यु के बाद अन्तिम संस्कार के अनेक रूप प्रचलित थे। (१) वहाँ के निवासी शव को नगर के बाहर कब्रिस्तान में ले जाकर कब्र में रखते तथा उसके साथ बहुत से छोटे–बड़े मृद्भाण्ड रखते थे और उसे मिट्टी से भर देते थे। (२) उनके यहाँ एक प्रथा यह भी थी कि शव को जलाकर अथवा खुले स्थान पर फेंक कर पशुओं द्वारा उसे खा लिये जाने पर उसकी अस्थियों को मृद्भाण्ड में भर दिया जाता था और फिर उसे कब्रिस्तान में गाड़ दिया जाता था। इन मृद्भाण्डों पर यमलोक की यात्रा के अनेक प्रतीकात्मक कथात्मक चित्र अङ्कित रहते थे।

वैदिक समाज में भी शव को जलाने और गाड़ने की–दोनों ही प्रथाएँ प्रचलित थीं। जलाने की पद्धति में शव को श्मशान में चिता पर रख कर यम देवता के लिये

---

१. ऋग्वेद, १०/१४।

मन्त्रोच्चार के साथ आहुति दी जाती थी।[1] एक सूक्त में कहा गया है कि जिन पितरों का दाह–संस्कार हुआ अथवा जिनका दाह–संस्कार नहीं हुआ, वे सभी स्वर्ग लोग में आहुति से तृप्त होते हैं।[1] इससे स्पष्ट है कि वैदिक युग में दोनों प्रथाएँ प्रचलित थीं।

(४) **आर्थिक स्थिति–** ***(व्यापार)–*** पहले कहा जा चुका है कि सैन्धव वैदिक सभ्यता के काल में भारतीय समाज पशुपालन और वृक्षारोपण की अवस्था को पार पर प्रारम्भिक कृषि अवस्था में पहुँच गया था। विकास की इस अवस्था में समाज में श्रम–विभाजन हो गया था और उत्पादन के अनेक साधन गृह–उद्योगों के रूप में उपलब्ध हो गये थे। समाज का आर्थिक सङ्गठन वस्तु–विनिमय की पद्धति पर आधृत था अर्थात् कृषक अपना उत्पादित अन्न बढ़ई, लोहार, नाई, धोबी, कुम्भकार, दुकानदार आदि को देता था और उसके विनिमय (बदले) में उनसे घरेलू एवं कृषि के उपयोग की वस्तुएँ तथा अन्य श्रम लेता था। इस तरह, विनिमय ही तत्कालीन आर्थिक सङ्गठन एवं वितरण का माध्यम था। वैदिक समाज का मुख्य व्यवसाय कृषिकर्म था, जबकि सैन्धव नगरों के निवासियों का मुख्य व्यवसाय वाणिज्य था।

पणि जाति के लोग व्यापार के विशेषज्ञ थे जो बड़ी–बड़ी नौकाओं पर माल लाद कर सरस्वती एवं सिन्धु नदियों के मार्ग से समुद्र में पहुँचकर और समुद्रीय तट के साथ चलकर फारस की खाड़ी में स्थित वहरीन द्वीप होते हुए दक्षिणी ईरान में स्थित शुसान्न तथा दजल फरात की घाटी में उर, अक्काद, बेबिलोन आदि सुमेरी नगरों तक, तथा मिस्त्र और क्रीट द्वीप तक अपना माल ले जाते तथा वहाँ से माल लाद कर खम्भात की घाटी के वन्दरगाह लोतल, रंगपुर तथा सिन्धु और परुष्णी के तटवर्ती मोहनजोदड़ो और हड़प्पा तक लाते थे। वे इस माल का नगर और ग्राम की जनता में विक्रय कर पर्याप्त धन अर्जित करते थे। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा जैसे नगर इसी धन के परिणाम थे। इन नगरों के निर्माण में सुमेरियन नगरों की योजना का प्रभाव पड़ा था, किन्तु ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करने वाले कृषिकर्मी वैदिक समाज के लोगों के पास इतना धन नहीं था। इसलिये वे वैदिक देवताओं से स्तुति करते हैं कि वे असुरों तथा पणियों का धन छीन कर उन्हें दे दें।[2] नगरनिवासियों के आर्थिक शोषण से खिन्न हो कर वैदिक समुदाय के लोग इनके पुरों तथा नगरों पर बार–बार आक्रमण भी करते थे। पणि और असुर भी ग्रामीण क्षेत्रों की गायें चुरा ले जाते थे अथवा युद्ध कर छीन ले जाते थे। अनेक बार इन गायों के कारण दोनों समुदायों में युद्ध होता था। वस्तुतः गायें ही उस काल में मुद्राविनिमय के रूप में प्रयुक्त होती थीं। इसीलिये वैदिक ऋषि देवताओं से गायों की याचना करते थे और दक्षिणा (दान) के रूप में यजमान से गायें ही प्राप्त करते थे।

कृषिव्यवस्था– सैन्धव वैदिक सभ्यता की कृषि–व्यवस्था अत्यन्त उन्नत थी। उस काल में सिन्धु और पञ्जाब में बहुत अधिक वर्षा होती थी, जिससे मैदानी भागों में जौ, गेहूँ, मक्का, उरद, मूँग और कपास की खेती होती थी। कूँए खोदकर उनके जल से खेतों की सिंचाई होती थी। विलोचिस्तान और पश्चिमोत्तर के सीमा प्रान्त के पहाड़ी भागों में जो पुर बसे थे, उनके निवासी खेती करते थे, वे पहाड़ों से नीचे बहने वाले झरनों पर बाँध बनाकर जलाशय का निर्माण करते थे, जिससे सिंचाई का काम होता था।

---

१. ऋग्वेद, १०/१५।

२. वही, ६–३७–५।

विलोचिस्तान में कर्स जैसे बांध (गवरबन्द) प्राप्त हुए हैं जो लगभग चार हजार ई०पू० के हैं।[1] वैदिक साहित्य में इन्द्र और वृत्र के सङ्घर्ष का मुख्य कारण जल ही था। वृत्र ने नदियों के जल को रोक लिया था। इन्द्र ने अपने वज्र से वृत्र का वध किया और नदियों के जल को प्रवाहित किया।[2] यह कथा विलोचिस्तान के गवरबन्दों से सम्बद्ध ज्ञात होती है। बाँध बन जाने से पहाड़ों में ही रुक जाता था जिससे तलहटी में रहने वालों को खेती के लिये जल नहीं मिल पाता था। वृत्र के वंशज असुर वास्तुकला में प्रवीण थे जिन्होंने उन बाँधों को बनाया था। इन्द्र के अनुयायियों ने शारदी पुरों का नष्ट कर मैदानी भाग में पहुँचने के लिये जल को मुक्त किया।

इस प्रकार सैन्धव वैदिक काल प्रारम्भिक कृषि व्यवस्था से विकसित कृषि व्यवस्था तक वर्तमान था। विकसित कृषि–अवस्था में विभिन्न समुदायों के लोग खेती के साथ लघु उद्योगों एवं वाणिज्य में भी आगे बढ़े हुए थे। समाज में इतनी अधिक आर्थिक सम्पन्नता थी कि उच्चवर्गीय लोगों को साहित्य, कला, दर्शन एवं ज्ञान–विज्ञान के क्षेत्र में कार्य करने और चिन्तन करने के लिये पर्याप्त अवकाश था। अथर्ववेद के पृथ्वीसूक्त में आर्थिक सम्पन्नता एवं विविध व्यवसायों और उद्योगों का विशद चित्रण किया गया है, किन्तु कुछ वर्गों में अधिक दरिद्रता थी। ब्राह्मण अन्य वर्गों की अपेक्षा अधिक असम्पन्न था। कभी–कभी वह अपने पुत्रों का भी विक्रय कर देता था। शुनःक्षेप की कथा इसका मुख्य उदाहरण है।[3]

विकास का अन्तिम चरण

भारतीय समाज के विकास के अन्तिम चरण को उत्तर वैदिक काल (१५०० ई०पू० से ५०० ई०पू०) कहा जाता है। इस काल में सैन्धव और वैदिक सभ्यताआं का पृथक् (भिन्न) स्वरूप मिल–जुल कर एक हो गया। हजारों वर्ष के पारस्परिक सङ्घर्ष के कारण सैन्धव नगरों और पुरों का विनाश हो गया और उनके स्थान पर जनपद राज्यों की राजधानियों का विकास हुआ। इस लम्बे सङ्घर्ष के फलस्वरूप वैदिक समुदाय एवं सैन्धव समुदाय मिल–जुल कर एक हो गया और उनके धार्मिक आचार–विचार भी परस्पर मिल–जुल कर नये रूप में परिवर्तित हो गये। इसी बीच पश्चिमोत्तर भारत में चिरकाल से बसी हुई वैदिक और सैन्धव जातियों की जनसंख्या बढ़ती गयी और वे अपना विस्तार करते हुए भारत के पूर्वी एवं दक्षिणी भागों में दूर तक पहुँच गये। इस तरह उत्तर वैदिक काल में भारत में एक नयी सभ्यता का उदय हुआ जो यथार्थ में समन्वित सभ्यता थी।

इस काल में ईरान और मेसोपोटामिया में बड़े साम्राज्यों का उदय हुआ, जिनका यूनानियों से निरन्तर सङ्घर्ष होता रहा। पश्चिमोत्तर भारत के निवासियों का सम्पर्क गान्धार के कैकय देश (काकेशस), उत्तर कुरु (कुरुदिस्तान), वक्षु प्रदेश (वैक्ट्रीया), हित्ती और मित्तानी (उत्तरी ईरान) आदि से वैवाहिक एवं मैत्री सम्बन्ध बना रहा। इस काल में वैदिक कर्मकाण्डों के विरोध में दार्शनिक मतों का उदय हुआ। इसी काल में लौह धातु का विशेष रूप से प्रयोग प्रारम्भ हुआ, जिसका प्रभाव भौतिक सभ्यता पर बहुत अधिक पड़ा। भारत का एक आध्यात्मिक व्यक्तित्व भी इसी काल में निर्मित हुआ।

१. मार्टीमोर ह्वीलर, द इण्डस सिविलिजेशन, पृष्ठ ६,७।

२. ऋग्वेद, ६–२९–२।

३. वही, १–२४।

राजनीतिक स्थिति

(राज्य)— वैदिक काल के विभिन्न जनों में जिन छोटे–छोटे राजाओं का उदय हुआ था उनके वंशजों ने इस काल में जनपद राज्यों की स्थापना कर ली थी। क्षत्रियों के विभिन्न वंशों का क्रमबद्ध इतिहास इसी काल से प्रारम्भ होता है पंजाब के पुरु वंश के अनेक कुल, जैसे— त्रित्सु, सृञ्जय, भरत आदि इस काल में विलीन हो गये और उनकी जगह कुरु, पांचाल, इक्ष्वाकु, चेदि आदि जनपदीय राज्य–वंशों का उदय हुआ। उत्तर कुरु से आये हुए कुरुवंशियों ने यमुना के पश्चिम तट पर इन्द्रप्रस्थ में अपनी राजधानी बनायी और बाद में हस्तिनापुर चले गये।[1] इस काल में इक्ष्वाकुवंशीय क्षत्रियों ने हिमालय की तराई से आगे बढ़कर अयोध्या और कोशल जनपद को अपनी राजधानी बनाया। इसी वंश के लोगों ने और भी पूर्व में जाकर विदेह देश में मिथिला को अपनी राजधानी बनाया।[2] हस्तिनापुर के बाढ़ में ध्वस्त हो जाने पर कुरुवंशियों ने सुदूरपूर्व में जाकर कौशाम्बी में अपनी राजधानी स्थापित की। उसके पूर्व ही काशी में ब्रह्मदत्त ने और मगध में जरासन्ध ने अपने राज्य स्थापित किये थे। कुरुवंशियों ने कुछ अन्य वंश वालों से मिलकर कुरु–पाञ्चाल सङ्घ की स्थापना की जिसके द्वाबा और तराई दो भाग थे। तराई की राजधानी अहिच्छत्र और द्वाब की राजधानी काम्पिल्य थी। सूरसेन प्रदेश में वृष्णियों का राज्य था जो यदुवंशीय क्षत्रिय थे। मत्स्य प्रदेश (जयपुर) में मत्स्यों का राज्य था, जिसकी राजधानी विराटनगर में थी।

जनपद— हिमालय के उत्तर और पश्चिमी भाग में कई ऐसे जनपद थे, जिनका भारतीय जनों से घनिष्ठ सम्बन्ध था, जैसे— १. मद्र जनपद— सम्भवतः यह जनपद आधुनिक मीडिया प्रदेश था, माद्री यहीं की राजपुत्री थी। २. कैकय जनपद— यह भी काकेशस के निकट का जनपद था, कैकेयी यहीं की राजपुत्री थी। ३. कम्बुज— यह जनपद वक्षु (आक्सस) नदी के उत्तर भाग में स्थिर था।[3] यास्क ने अपने निरुक्त में इसका उल्लेख किया है। ४. वाह्लीक— यह व्रक्षु नदी के दक्षिण में स्थित आधुनिक वलख प्रदेश का नाम था। ५. चेदि जनपद— यह आधुनिक बुन्देलखण्ड में स्थित था। इसी तरह अन्य छोटे–बड़े जनपद विद्यमान थे। इन जनपदों में कुछ जनों में राजतन्त्रीय शासन पद्धति थी और कुछ में गणतन्त्रीय अथवा अराजकतावादी। महाभारत में अराजक राज्यों का वर्णन आया है, जिनमें कोई राजा नहीं होता था और प्रजा विना राज्य एवं राजा के ही कार्य करती थी। सूरसेन जनपद में यदुवंशी गणों का सङ्घराज्य था। इन जनपदों में राजा का पद वंशानुगत होने लगा था, जिससे राजा स्वेच्छाचारी होने लगे थे। परिणामस्वरूप उनमें धन और राज्य का लोभ बढ़ता गया और वे परस्पर युद्धरत रहने लगे। इस प्रवृत्ति की चरम परिणति महाभारत के रूप में हुई। यह महायुद्ध भारत का सबसे बड़ा युद्ध था, जिसमें पश्चिमी–दक्षिणी एशिया के अधिकांश राजाओं ने भाग लिया। इस महायुद्ध की समाप्ति के बाद सभी राजाओं की शक्ति क्षीण हो गयी। फलतः आगे के एक हजार वर्ष में कोई भी बड़ा साम्राज्य नहीं स्थापित हो सका। इस काल में भारत की राजनीतिक शक्ति सिन्धु एवं सरस्वती की घाटी से हटकर गंगा और यमुना के विस्तृत मैदान में केन्द्रीभूत हो गयी।

---

१. डॉ० द्वारकाप्रसाद मिश्र, प्रोटो हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृष्ठ १६५–१६६।

२. डॉ० द्वारकाप्रसाद मिश्र, प्रोटो हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृष्ठ ११५–११६।

३. डॉ० बुद्धप्रकाश, ऋग्वेद एण्ड दी इण्डस वैली सिविलिजेशन, पृष्ठ ११८/११९. १२९ तथा १३०।

सामाजिक स्थिति— उत्तर वैदिक काल में भारतीय समाज में अधिक एकता और सङ्घटनात्मक प्रवृत्ति आ गयी थी। अब समाज विभिन्न नृतत्त्वशास्त्रीय जाति–वर्गों में विभक्त न रहकर एक समन्वित समाज बन गया। इस समाज में वर्णव्यवस्था अपेक्षाकृत अधिक सुदृढ़ हो गयी। इस काल में ब्राह्मणों का प्रभुत्व बहुत अधिक बढ़ गया और वे राज्य–सञ्चालन में आवश्यकता से अधिक हस्तक्षेप करने लगे थे। फलस्वरूप क्षत्रियों में उनके विरुद्ध विद्रोह का भाव उत्पन्न हुआ और तब उन्होंने धर्म तथा ज्ञान के क्षेत्र में अपना प्रभुत्व जमाना प्रारम्भ किया। ब्राह्मण ग्रन्थों, आरण्यकों और सहसूत्रों की रचना इसी काल में हुई थी, जिनमें वर्णव्यस्था को सुदृढ़ बना दिया गया। इसके विरोध में क्षत्रियों ने उपनिषदों के ज्ञानकाण्ड का महत्त्व प्रतिपादित किया और वर्णव्यस्था पर आघात किया। इस काल में धनी और गरीब के बीच की दूरी में बढ़ती गयी। राजन्य वर्ग सामान्य जनता का शोषण करके ऐश्वर्य भोग में लगा रहता था और ब्राह्मण कर्मकाण्डों के उलझे हुए जाल में फंस कर बुद्धिविलास कर रहा था।

इस काल में नारियों की स्थिति दयनीय होती जा रही थी। पुरुष उन्हें जुए में दांव पर भी रख सकता था और सभा के बीच उनका वस्त्र–हरण भी कर सकता था। फिर भी ज्ञान के क्षेत्र में कुछ स्त्रियाँ बहुत आगे बढ़ी हुई थीं, जैसे— गार्गी और जावालि आदि। इस प्रकार इस काल में भारत में स्त्रियों की सामाजिक स्थिति ह्रासोन्मुख थी।

आर्थिक स्थिति— आर्थिक दृष्टि से यह युग विकसित कृषियुग था, जिसमें लोहे से निर्मित अस्त्रों एवं कृषि उपकरणों का प्रयोग होने लगा था। इस काल में समाज के लोग आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न थे। अतः उनके घरों में मृत्पात्रों के स्थान पर धातु के पात्र प्रयुक्त होने लगे। नये जनपदों को जीत कर और जङ्गलों को काटकर कृषि–भूमि का विस्तार किया गया, जिससे कृषि कार्य में उत्पादन की वृद्धि हुई। 'महाभारत' में इस काल की आर्थिक स्थिति का जो चित्रण हुआ है, उससे स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि यह सामन्त युग था। जिसमें राजाओं और सामन्तों को प्रजा से कर के रूप में पर्याप्त धन मिलता था। वे इस धन का उपयोग वैयक्तिक ऐश्वर्य और सुख–भोग के लिये करते थे। पाणिनि के अष्टाध्यायी ग्रन्थ से यह सूचना मिलती है कि इस काल में वस्तु–विनिमय के स्थान पर सिक्कों से क्रय–विक्रय का कार्य प्रारम्भ हो गया था। इस काल के सिक्कों को 'कार्षापण' कहते थे। इस काल में अस्त्र–शस्त्र, धातु की वस्तुएं, वस्त्र तथा सैनिक उपयोग की वस्तुओं का उत्पादन व्यापक रूप में होने लगा था। किन्तु यह उत्पादित वस्तुएँ वैभव के रूप में सामन्तों एवं राजाओं को ही उपलब्ध होती थीं।

धार्मिक स्थिति— धार्मिक दृष्टि से उत्तर–वैदिककाल अत्यन्त महत्त्व का है। इसी काल में वैदिक संहिताओं का सम्पादन हुआ। वैदिक मन्त्रों का उपयोग एवं अर्थ समझाने के लिये ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना हुई। विभिन्न ऋषियों के वंशजों ने वैदिक मन्त्रों के पाठ एवं विनियोग की पृथक् पृथक् पद्धतियाँ विकसित कर ली थीं जिनसे वेदों की कतिपय शाखाएँ चल पड़ी, जैसे—यजुर्वेद की कृष्णयजुर्वेद और शुक्लयजुर्वेद शाखाएँ। प्रत्येक शाखा के पृथक् पृथक् ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना हुई। वैदिक मन्त्र इस काल में केवल परम्परागत याज्ञिक ब्राह्मणों के लिये बोधगम्य रह गये थे। इसलिये उनके तत्त्व को समझने के लिये इतिहास और पुराणों की परम्परा चल पड़ी। महाभारत और रामायण उसी परम्परा के परिणाम है। 'ऐतरेय ब्राह्मण', 'शतपथ ब्राह्मण', 'वृहद्देवता' आदि ग्रन्थों

में वैदिक मन्त्रों के विनियोग की जो विधि बतायी गयी है, वह जटिल और श्रमसाध्य है, इसीलिये वैदिक ब्राह्मणों की सङ्ख्या उत्तरोत्तर कम होती गयी और पौराणिकों की सङ्ख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। इन इतिहास-पुराण के ग्रन्थों में क्षत्रियों के राजवंशों तथा अनेक महिर्षियों से सम्बद्ध कथात्मक आख्यानों का वर्णन किया गया है। ये पौराणिक आख्यान जनता के लिये अधिक बोधगम्य थे। इनमें सृष्टि की उत्पत्ति, प्रलय एवं देवी-देवताओं की कथाओं के साथ-साथ राजवंशों का इतिहास भी दिया गया है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार अश्वमेध यज्ञ के समय वर्षपर्यन्त इन आख्यानों का गान सूत और मागध किया करते थे। इस तरह पुराण भी धर्म-ग्रन्थ के रूप में मान्य हो गये।

ऋग्वेद और अथर्ववेद में जो दार्शनिक एवं आध्यात्मिक सूक्त हैं, उन्हीं की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए क्षत्रिय दार्शनिकों ने उपनिषदों की रचना की। जिनमें क्लिष्ट कर्मकाण्ड वाले यज्ञ-विधान का त्याग कर ब्रह्मवाद का प्रवर्तन किया गया। इस तरह भारतीय षड्दर्शनों का प्रादुर्भाव इन्हीं उपनिषदों से हुआ। इस ब्रह्मवाद को जानने के लिये ब्राह्मण ऋषि भी जनक जैसे क्षत्रिय राजा के पास जाते थे। इसी दार्शनिक चिन्तन का एक रूप श्रीमद्भगवद्गीता में दिखायी पड़ता है जिसमें ज्ञान, भक्ति और कर्म का तात्त्विक विवेचन किया गया है और निष्काम भक्तिमार्ग का प्रवर्त्तन किया गया है। अट्ठारह अध्यायों का यह ग्रन्थ सम्प्रति महाभारत का एक भाग है, किन्तु मूलतः यह आरण्यकों में ही वर्तमान है। इन दार्शनिक एवं पौराणिक ग्रन्थों का समाज पर बहुत प्रभाव पड़ा। अब सामान्य जनता का ध्यान वैदिक यज्ञों की ओर से हट गया। वे धर्म को व्यावहारिक जीवन से सम्पृक्त कर देखने लगे। इस काल में धर्म को आचारसंहिता के रूप में ग्रहण किया जाने लगा। अवतारवाद का प्रारम्भ भी इसी काल में हुआ। इस काल में अनेक वैदिक देवता महत्त्वहीन हो गये उनकी जगह विष्णु, शिव, ब्रह्मा आदि पौराणिक देवताओं का प्राधान्य हो गया। कालान्तर में इसी धार्मिक स्वरूप को हिन्दू धर्म की संज्ञा दी गयी।

अब तक भारतीय समाज के विकास की जिन अवस्थाओं का विवेचन किया गया है, वे भारतीय प्रागैतिहासिक और आद्य ऐतिहासिक काल की अवस्थाएँ थीं, किन्तु ६०० ई०पू० से भारत का ऐतिहासिक काल प्रारम्भ हो जाता है, जिसकी बहुत सी बातें हमें बौद्ध साहित्य, चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, पुष्यमित्र, कनिष्क, गुप्तवंश के राजाओं तथा मौखरी वंश के राजाओं के अभिलेखों और पुरातात्त्विक उपलब्धियों से ज्ञात हो चुकी है।

इस काल को सामाजिक विकास की दृष्टि से तीन युगों में विभाजित किया जा सकता है। ई०पू० युग लगभग (५०० ई०पू० १ ई० पू० तक), दूसरा (१ ई० से ५०० ई० तक), तीसरा (५०० ई० से ८०० ई० तक)। इन तीनों युगों को मौर्य एवं शुंग युग, कुषाण एवं गुप्त युग और मौखरी, पुष्यभूत एवं पाल युग की संज्ञा दी जा सकती है। यद्यपि इन तीनों युगों की सामाजिक स्थितियों में ऐतिहासिक कालक्रमानुसार परिवर्तन भी होता रहा और उसी क्रम के अनुसार उनके सामाजिक विकास का अनुशीलन भी होना चाहिये, किन्तु बौद्ध साहित्य के जिन ग्रन्थों के आधार पर हमें इन युगों का सामाजिक विवेचन करना है, उनमें प्रमाणिक तिथियों का सर्वथा अभाव है। जब आधिकारिक आधार-ग्रन्थों का रचनाकाल ही प्रामाणिक रूप से ज्ञात नहीं है तो उनमें चित्रित भारतीय समाज को एकाधिक युगों में विभक्त कर विवेचित करना उपयुक्त नहीं है, अतः अगले अध्यायों में उपलब्ध पालि एवं संस्कृत भाषाओं में रचित बौद्ध साहित्य के आधार पर ५०० ई०पू०

से ८०० ई० तक के भारतीय समाज की विविध स्थितियों की विवेचना, विना युग-विभाजन किये ही, की जायगी।

समाज की विविध स्थितियों से तात्पर्य है, सामाजिक जीवन की वे प्रवृत्तियां जो मनुष्य के जीवन यापन के लिये अनिवार्य होती है। इन प्रवृत्तियों को स्थूल रूप से (मोटे तौर पर) निम्नलिखित वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) सामाजिक, (२) आर्थिक,
(३) राजनीतिक, (४) सांस्कृतिक,
(५) धार्मिक एवं (६) दार्शनिक।

इन्हीं प्रवृत्तियों के आधार पर भिन्न भिन्न अध्यायों में बौद्ध साहित्य में निर्दिष्ट भारतीय समाज का विश्लेषण अगले पृष्ठों में किया जायगा।

तृतीय अध्याय

बौद्ध साहित्य में वर्ण एवं जाति

बौद्ध साहित्य में वर्ण एवं जाति का स्वरूप

वैदिक वर्णव्यवस्था

बौद्धानुमत वर्णव्यवस्था

ब्राह्मणों की स्थिति

क्षत्रियों की स्थिति

वैश्यों की स्थिति

शूद्रों की स्थिति

गोत्र का महत्त्व

वर्णव्यस्था के विरुद्ध बुद्ध की सामाजिक क्रान्ति

तृतीय अध्याय

बौद्ध साहित्य में वर्ण एवं जाति

बौद्ध साहित्य में वर्ण और जाति का स्वरूप

वैदिक वर्ण व्यवस्था—भारतीय समाज में वर्णव्यवस्था का प्रारम्भ वैदिक काल में ही हो गया था। वैदिक काल कई हजार वर्षों का काल था। प्रारम्भिक वैदिक सूक्तों को पढ़ने से ज्ञात होता है कि उस काल में चार वर्णों की व्यवस्था नहीं थी। उस समय केवल दो ही वर्ण थे जो वस्तुतः वर्ण न होकर व्यवसायमात्र थे। ये दोनों वर्ष थे— ब्राह्मण एवं राजन्य। ब्राह्मण का कार्य पौरोहित्य करना अर्थात् यज्ञ करना एवं कराना, मन्त्रों की रचना करना और यजमान द्वारा दी गयी गायों, घोड़ों, रथों आदि का पालन या सञ्चालन और उनके माध्यम से जीविकोपार्जन करना था। राजन्यवर्ग का कार्य अपने कुल या जन की रक्षा करना, अपने क्षेत्र का विस्तार करना और शत्रुओं से युद्ध करना था। कालान्तर में राजन्यवर्ग के लोग राजा बन गये, उनका कार्य अब पुरोहित ब्राह्मणों की मन्त्रणा से राज्य का शासन करना, राज्य के अन्तर्गत अपने कुल और गोत्र के लोगों की रक्षा करना और उनकी ओर से शत्रुओं पर आक्रमण करना था।

उत्तर वैदिककाल में समाज के विकास के साथ जीवन–यापन के साधनों का भी विकास हुआ और प्रारम्भिक अर्थव्यवस्था के स्थान पर कृषियुगीन अर्थव्यवस्था का प्रारम्भ हुआ, जिससे विविध प्रकार के व्यवसायों तथा शिल्पों का विकास हुआ। इन सभी शिल्पों एवं व्यवसायों को चार वर्गों में विभाजित किया गया जिन्हें चार वर्ण कहते हैं।

ऋग्वेद में परवर्ती काल के एक सूक्त में जिसे 'पुरुषसूक्त' कहा जाता है, चारों वर्णों की स्थिति को स्पष्ट किया गया है। इस सूक्त के अनुसार ब्राह्मण विराट् पुरुष का मुख था, उसकी दोनों बाहों से राजन्य (क्षत्रिय) बनाये गये, उसकी जाँघों से वैश्य और पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए।[1]

छान्दोग्योपनिषद् में जीव को विविध योनियों में भ्रमण करने की बात के प्रसङ्ग में कहा गया है कि जीव को कर्मानुसार विभिन्न योनियों में जन्भ लेना पड़ता है जो अच्छे आचरण वाले होते हैं, वे शीघ्र ही उत्तम योनि को प्राप्त करते हैं। वे ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य योनि प्राप्त करते हैं; तथा जो अशुभ आचरण करने वाले होते हैं वे तत्काल अशुभ योनि को प्राप्त करते हैं, वे कुत्ते, शूकर, चाण्डाल जैसी अशुभ योनियाँ प्राप्त करते हैं।[2]

इससे स्पष्ट है कि उत्तर वैदिक काल में वर्णव्यवस्था कर्मणा न रहकर जन्मना हो गयी थी। इसमें शूद्र वर्ण का नाम नहीं लिया गया, किन्तु द्विजों को (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) श्रेष्ठ योनि बताया गया है और चाण्डाल को कुत्ता, शूकर, आदि की श्रेणी में रखा गया है। इससे प्रतीत होता है कि उपनिषत्काल में चाण्डाल, श्वपच, किरात आदि को ही

---

१. ऋग्वेद, १०/९०–१२

''ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥''

२. छान्दोग्योपनिषद्।

'शूद्र' माना जाता था। शूद्र वर्ण भी वैदिक वर्णव्यवस्था का अङ्ग था, परन्तु उपनिषत्काल में उन्हें उच्च स्थान प्राप्त नहीं हुआ था। परवर्ती काल में शूद्रों और चाण्डालों आदि अन्त्यजों के रक्तमिश्रण के कारण शूद्र वर्ण को भी निम्न माने जाने लगा।

श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णों के सम्बन्ध में जो बात कही गयी है, वह विशेष रूप से विचारणीय है; क्योंकि कृष्ण ने गुण और कर्म पर विशेष बल देते हुए स्पष्ट घोषणा की है कि मैंने गुण और कर्म के विभाजन के द्वारा चारों वर्णों को बनाया है, मैं ही उन्हें बनाने वाला और नष्ट करने वाला भी हूँ।[1] इसी सिद्धान्त का उल्लेख विष्णुपुराण में भी मिलता है।

जातिप्रथा— प्राचीन काल में वर्णों के सम्बन्ध में जो मुख्य धारणाएँ थीं, वे क्रमशः आगे चल कर परिवर्तित होती गयीं। विभिन्न वर्णों के जो व्यावसायिक कर्म थे वे धीरे-धीरे जन्मजात माने जाने लगे तथा वे ही जाति का भी रूप लेते गये। साथ ही वर्णों में विवाहादि प्रतिबन्ध टूटते गये तथा जातियों का विकास इसी क्रम से हुआ; क्योंकि वर्णों के अन्तर्गत ही वैदिक साहित्य में वर्णित व्यवसायों और शिल्पों का रूप आता है। समाज के चारों वर्ण अपरिवर्तनीय वर्ण नहीं थे। इस प्रकार वर्ण और जाति का मिश्रण होता गया। कर्म की प्रधानता मुख्य न होकर जन्मना वर्ण ही मुख्य होता गया। श्रीमद्भगवद्गीता में कृष्ण का वर्णों के सम्बन्ध में कर्म पर बल देते हुए यह कथन इसका सङ्केत है कि वर्ण कर्मप्रधान न होकर वंशप्रधान हो गया था। वर्णों की आदर्शात्मक स्थिति नष्ट होती गयी तथा उसका स्वरूप जन्मना हो गया, जिससे समाज में 'उच्च' एवं 'निम्न' का भेद उत्पन्न हुआ। पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी विकसित हुआ, जैसा कि छान्दोग्योपनिषद् में मिलता है।

बौद्धानुमत वर्णव्यवस्था

बौद्ध साहित्य में वर्ण एवं जाति के सम्बन्ध में जो धारणा व्यक्त की गयी है, वह उत्तर वैदिककाल के बाद की है। इस काल में ब्राह्मणग्रन्थों, आरण्यकों, उपनिषदों, कल्पों तथा सूत्र-ग्रन्थों की रचना हो रही थी। यज्ञ-विधान और धर्म का अनुशासन पूर्णतया ब्राह्मणों के अधीन था। यज्ञों की प्रक्रिया इतनी जटिल हो गयी थी कि यजमान, जो प्रायः राजन्यवर्ग का होता था, यज्ञ का भार वहन करने में अपने को असमर्थ मानने लगा। इस काल में राजन्यवर्ग में वैचारिक विरोध की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई, जिसका प्रतिफल उपनिषदों के ज्ञानकाण्ड के रूप में दिखायी पड़ता है। उपनिषदों का ब्रह्मवाद मूलतः याज्ञिक कर्मकाण्डों एवं बहुदेववाद के विरोध में विकसित हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि धर्म और ज्ञान का विषय ब्राह्मणों के हाथ से निकलकर क्षत्रियों के हाथ में पहुँच गया। अतः विद्वान् ब्राह्मण ब्रह्म और आत्मा के ज्ञान के लिये जनक आदि क्षत्रिय राजाओं के पास जाने लगे। इस तरह इस काल में ब्राह्मणवर्ग की सर्वश्रेष्ठता का पद समाप्त हो गया। इससे उपनिषदों में त्रिवर्ग द्विजों को समान स्थान दिया गया। इससे स्पष्ट है कि उपनिषत्काल में वर्णव्यवस्था व्यतिक्रमित हो गयी थी। ब्राह्मण एवं उपनिषत्काल के तत्काल पश्चात् श्रमण विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ, जिसके अन्तर्गत अनेक मतमतान्तर और सम्प्रदाय प्रचलित हुए, जिनमें जैन और बौद्ध धर्म मुख्य है। इन दोनों सम्प्रदायों ने वेद का प्रामाण्य और ब्राह्मण की श्रेष्ठता का विरोध किया। इनमें क्षत्रिय और वैश्य वर्णों की प्रमुखता दिखायी

---

१. *"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।*
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥
— श्रीमद्भगवद्गीता, ४/१३.

पड़ती है। जन्मना वर्णव्यवस्था का विरोध बौद्ध धर्म में विशेष रूप से दिखायी पड़ता है। अतः बौद्ध साहित्य में इस सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है, उस पर विचार कर लेना समीचीन होगा।

त्रिपिटक में अधिकतर प्रसङ्ग ऐसे हैं जो बुद्ध द्वारा कथित वचन माने जाते हैं। ऐसे प्रकरणों में वर्ण एवं जाति के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा गया है। इन बुद्धवचनों से यह निष्कर्ष निकलता है कि बुद्ध के समकालिक भारतीय समाज में वर्णव्यवस्था कर्मणा नहीं, जन्मना मानी जाती थी। गौतम बुद्ध ने जिस धार्मिक एवं सामाजिक पुनरुत्थान का आन्दोलन प्रारम्भ किया, वह बहुजनहिताय था। उसमें निर्वाण का मार्ग सब के लिये उन्मुक्त किया गया था तथा सामाजिक जीवन में समानता का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया था। गौतम बुद्ध की यह सामाजिक अवधारणा तत्कालीन वंशानुगत वर्णव्यवस्था के प्रतिकूल थी। तत्कालीन जीवन जिन सामाजिक रूढ़ियों से ग्रस्त था, उन पर गौतम बुद्ध ने अपने उपदेशों द्वारा बारबार कठोर आघात किया। वर्णव्यवस्था के सम्बन्ध में भी उनका यह स्पष्ट मत था कि ब्राह्मण एवं क्षत्रिय कुल में उत्पन्न होने से ही कोई ब्राह्मण एवं क्षत्रिय नहीं बन सकता। ब्राह्मण एवं क्षत्रिय के क्या लक्षण हैं?– इस विषय में भी उन्होंने अपना स्पष्ट मत व्यक्त किया। इनके ये विचार तत्कालीन समाज को ध्यान में रखते हुए अत्यन्त क्रान्तिकारी माने जाते हैं। उन्होंने मध्यम मार्ग (=मज्झिमा पटिपदा) का जो आन्दोलन प्रारम्भ किया, वह स्पष्टतः ब्राह्मणधर्म का विरोधी था। वेदों के ज्ञान पर ब्राह्मणों का एकाधिकार था। उस समय वैदिक यज्ञ कराने वाले पुरोहित ब्राह्मण ही थे। इन यज्ञों में पशुहिंसा विशाल स्तर पर होती थी। इसी लिये बुद्ध ने, जो अहिंसा–धर्म के प्रवर्तक थे, इन यज्ञों का विरोध किया। सच पूछिये तो वैदिक यज्ञों एवं कर्मकाण्डों का विरोध वस्तुतः ब्राह्मणों का ही विरोध था।

वैदिक ज्ञान पर एकाधिकार के कारण, ब्राह्मणों को इस बात का अभिमान था कि उनका समाज में सर्वोच्च एवं सर्वश्रेष्ठ स्थान है। गौतम बुद्ध उनके इस मिथ्याभिमान को समाप्त करना चाहते थे। वे ब्राह्मण एवं क्षत्रिय की परिभाषा अपने ढंग से करते थे। ब्राह्मण कौन है?– इस विषय पर उन्होंने अनेक बार अपने विचारों को स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है। विनयपिटक में उन्होंने एक अभिमानी ब्राह्मण को ब्राह्मण की परिभाषा इस प्रकार बतायी है– ''ब्राह्मण वह है जो पाप से मुक्त हो, वृथाभिमानी न हो, निर्मलचित्त एवं संयमी हो, वेदान्त का ज्ञाता हो, ब्रह्मचर्यव्रती हो तथा धर्म से ब्रह्मवादी हो और जिसमें समता की भावना हो तथा जिसके समान विश्व में अन्य कोई न हो।'[1]

इससे स्पष्ट है कि गौतम बुद्ध की दृष्टि में नैतिकता और आध्यात्मिकता के क्षेत्र में जिसने सिद्धि प्राप्त कर ली है, उसी को 'ब्राह्मण' कहा जा सकता है। ऐसा व्यक्ति, चाहे उसने जिस किसी भी कुल में जन्म लिया हो वह कर्म के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय या अन्य कुल का कहलाने का अधिकारी है। गौतम बुद्ध अपने इस विचार को व्यावहारिक रूप देना चाहते थे, इसीलिये अभिमानी ब्राह्मणों को उन्होंने बतलाया कि तुम वास्तविक ब्राह्मण नहीं हो। वर्ण–व्यवस्था की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भगवान् बुद्ध श्रावस्ती में विहार करते हुए वाशिष्ठ ब्राह्मण से कहते हैं कि ''क्षेत्रों का अधिपति होने से महासम्मत (महाजनों द्वारा सम्मत) का ही दूसरा नाम 'क्षत्रिय' पड़ा। जिन लोगों ने पापमय अकुशल धर्मों को छोड़

१. *विनयपिटक, महावग्ग, कथा–२, पृष्ठ ७६।*

दिया और जंगल में पर्णकुटी बनाकर अध्यात्म की ओर अग्रसर हुए उनका नाम 'ब्राह्मण' पड़ा। भौतिक सुखों में रत (मैथुन कर्म कर नाना कर्मों में लग जाने के कारण) लोगों का नाम 'वैश्य' पड़ा एवं समाज के वे लोग जो क्षुद्र आचरण करने वाले थे वे क्षुद्र आचरण करके 'शूद्र' कहलाये''।[१] इसे स्पष्ट होता है कि बुद्ध वर्णव्यवस्था को सामाजिक संविदा के रूप में देखते थे।

इसी तरह, त्रिपिटक के अङ्गुत्तरनिकाय (तृतीय भाग) में बुद्ध की वर्णसम्बन्धी मान्यता को स्पष्ट किया गया है। यहाँ भी बुद्ध ने वर्णों के लक्षण एवं लक्ष्य को परिभाषित करते हुए 'ब्राह्मण' का स्वरूप स्पष्ट किया है। उनके कथन से ज्ञात होता है कि वे प्रारम्भिक भारतीय समाज में मान्य वर्णव्यवस्था के उतने विरोधी नहीं थे, जितने अपने समय में प्रचलित वर्णव्यवस्था के विकृत रूप के विरोधी थे। वैदिक काल में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य का कार्य पूर्णतया विभक्त था। एक बात में तीनों में समानता थी। तीनों ही योग्य पदार्थों का संग्रह करते थे तथा प्रज्ञावान् होते थे, किन्तु कर्म की दृष्टि से उनका क्षेत्र पृथक् पृथक् था। ब्राह्मण का कार्य वेद–मन्त्रों की रचना करना, और यज्ञ करना था। वे ब्रह्मलोक की प्राप्ति ही अपने जीवन का लक्ष्य मानते थे, किन्तु क्षत्रिय का कर्म राज्य स्थापित करना, शासन करना एवं भौतिक ऐश्वर्य प्राप्त करना था। यही उनके जीवन का लक्ष्य था। गृहपति अथवा वैश्य का प्रधान कार्य योग्य पदार्थों का संग्रह करना था। विभिन्न कलाओं की जानकारी होने से उनकी प्रतिष्ठा होती थी। उनकी दृष्टि गृहस्थी के कार्यों पर रहती थी। ऐसे कार्यों को पूर्ण करना उनका लक्ष्य था।[२]

किन्तु यह प्राचीन मान्यता गौतम बुद्ध के समय में समाप्त हो चली थी। तीनों वर्ण अपने कार्य एवं उद्देश्यों से च्युत हो गये थे। यह बात संयुक्तनिकाय के लोहिच्चसुत्त में वर्णित घटना तथा संवाद में उल्लिखित बुद्ध के शिष्य कात्यायन के वचनों से स्पष्ट हो जाती है।[३] इसमें लोहिच्च ब्राह्मण के शिष्यों द्वारा श्रमण कात्यायन के संवाद का वर्णन किया गया है। महाकात्यायन ने लोहिच्च के शिष्यों को यह बताया कि ''पूर्व युगों के ब्राह्मण अपने परम्परागत धर्म का स्मरण रखते थे, वे जितेन्द्रिय, संयमी और अक्रोधी होते थे। किन्तु वर्तमान समय के ब्राह्मण अपने धर्म से च्युत होकर विपरीत आचरण करते हैं। वे अपने उच्च कुल और गोत्र का अभिमान करते हैं, किन्तु ब्राह्मण–धर्म का त्याग कर अभिमानी, असंयत, दूसरों को दुःख देने वाले तथा मिथ्या कर्मकाण्डी, बाह्याडम्बरयुक्त एवं ढोंगी हो गये हैं। इस प्रकार वे ब्राह्मण–धर्म को भूल गये हैं।''

जब कात्यायन ने लोहिच्च के शिष्यों को इस प्रकार समझाया तो उन्होंने अपने गुरु के पास जाकर ये सब बातें बतायीं। लोहिच्च ब्राह्मण ने महाकात्यायन के पास जाकर संवाद किया। कात्यायन ने उसे ब्राह्मण–धर्म का उपदेश दिया और इन्द्रियदमन की शिक्षा दी। इस समस्त प्रसङ्ग से स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन समाज में प्राचीन काल जैसे शीलवान् और तपोनिष्ठ ब्राह्मण कम हो गये थे और उनके कुल में उत्पन्न वंशज अपने परम्परागत संस्कारों और गुणों को भूलकर आचारभ्रष्ट हो गये थे। वे केवल अपने गोत्र का अभिमान करते हुए अपनी जातीय उच्चता का दम्भ करते थे।[३]

---

१. दीघनिकाय ३/४, पृष्ठ २४४–४५।

२. अंगुत्तरनिकाय (तृतीय भाग), अनुवादक–भदन्त आनन्द कौसल्यायन, पृष्ठ ६९–७०।

३. संयुत्तनिकाय, लोहिच्चसुत्त, पृष्ठ ४९९–५००।

ब्राह्मणों की स्थिति

तत्कालीन समाज में ब्राह्मणों की स्थिति क्रमशः परिवर्तित होती जा रही थी। इन्होंने अपनी श्रेष्ठता कर्म के आधार पर नहीं, अपितु जन्म के आधार पर मान ली थी। वे अपने को उच्च मानते थे तथा अन्य वर्णों को हीन समझते थे। यह तथ्य मथुरा के राजा अवन्तिपुत्र एवं आयुष्मान् महाकात्यायन की वार्ता से स्पष्ट हो जाता है। अवन्तिपुत्र ने महाकात्यायन से यह कहा– ''भो कात्यायन! ब्राह्मण कहते हैं कि 'ब्राह्मण ही सर्वश्रेष्ठ हैं, अन्य वर्णहीन हैं। ब्राह्मण ब्रह्मा के दायाद (उत्तराधिकारी) हैं।'' महाकात्यायन ने कहा– ''तुम्हें समझना चाहिये कि लोक में यह कोलाहलमात्र है कि ब्राह्मण ही सर्वश्रेष्ठ हैं, ब्रह्मा का दायाद हैं''।[१]

इसी प्रकार का एक प्रसङ्ग मज्झिमनिकाय में मिलता है जिसमें वाशिष्ठ माणव ने भगवान् से गाथा में पूछा था कि ''जन्म से ब्राह्मण होता है या कर्म से?''। इसके उत्तर में भगवान् बुद्ध ने जो कुछ कहा उससे उनके विचारों का पता चल जाता है। उन्होंने कहा था, ''वाशिष्ठ! माता की योनि से उत्पन्न होने के कारण मैं किसी को ब्राह्मण नहीं कहता। मैं तो ब्राह्मण उसे कहता हूँ जो अपरिग्रही हो तथा जो संयोजनों से भय नहीं खाता। जो सङ्ग और आसक्ति से विरक्त हो, उसे ही मैं ब्राह्मण कहता हूँ। ....कर्म से ही कोई ब्राह्मण होता है, कर्म से ही अब्राह्मण । कर्म से कृषक होता है एवं कर्म से ही शिल्पी''।[२] यों भगवान्, बुद्ध का कर्म पर अत्यधिक बल देना यह स्पष्ट कर देता है कि वे समाज में कर्म के अनुसार ऐसी सामाजिक व्यवस्था का सर्जन करना चाहते थे जो बहुत पहले वर्तमान थी, किन्तु उनके समय में वह व्यवस्था विकृत हो गयी थी[३]।

उस समय के ब्राह्मण कर्मकाण्डों को तो अत्यधिक महत्त्व देते थे, किन्तु उनके जो पुराने उच्चादर्श थे, उन्हें वे छोड़ चुके थे। वह तथ्य भगवान् बुद्ध की उस वार्ता से प्रमाणित हो जाता है जो उनके और भारद्वाज सुन्दरिक ब्राह्मण से हुई थी। भगवान् बुद्ध ने सुन्दरिक भारद्वाज ब्राह्मण से एक गाथा में कहा था– ''हे ब्राह्मण! लकड़ियां जला–जला कर अपनी शुद्धि होना न समझो, यह बाह्य आडम्बर (बाहरी ढोंग) है। पण्डित लोग उससे शुद्धि नहीं बताते। जो बहारी कृत्रिमता (बनावट) से शुद्धि पाना चाहता है उसे शुद्धि नहीं मिलती। हे ब्राह्मण! मैं लकड़ियां जलाना छोड़ अध्यात्म की ज्याति जलाता हूँ। '' ....जाति मत पूछो, कर्म पूछो। लकड़ी से भी अग्नि पैदा हो जाती है''।[४] इस उद्धरण से यह स्पष्ट होता है कि यज्ञादि कर्म ब्राह्मण के मुख्य कर्म हो गये थे जबकि अन्य कार्य गौण हो चुके थे। ब्राह्मण अध्यात्म विद्या से दूर हट कर जीविकोपार्जन के लिये ही यज्ञादि कर्म करने लगा था। यह बात महासुपिनजातक से स्पष्ट हो जाती है जिसमें ब्रह्मदत्त के १६ स्वप्नों के आधार पर ब्राह्मणों ने उसके रत्नों को लेने के लोभ में उसे यज्ञ कराने के लिये कहा था। इसे यह भी स्पष्ट होता है कि उस समय ब्राह्मणों की स्थिति आर्थिक आदि क्षेत्रों में दयनीय थी। वे लोभी हो गये थे।[५]

विनयपिटक में एक कथा यह मिलती है कि ''राज्यगृह में उत्तम भोजनों का यह

---

१. संयुत्तनिकाय, दूसरा भाग, पृष्ठ ४११।
२. मज्झिमनिकाय, माधुरी सुत्त, पृष्ठ ३४३।
३. मज्झिमनिकाय, २/५–८, पृष्ठ ४१३, १४, १५।
४. संयुत्तनिकाय, ७/१–९, पृष्ठ १३४–३५।
५. जातक (१), महासुपिन जातक, पृष्ठ ४७८।

क्रम (सिलसिला) चल रहा था, तब एक ब्राह्मण के मन में ऐसा हुआ कि ये शाक्यपुत्र बौद्ध श्रमण शील और आचार से सुखपूर्वक रहने वाले हैं, सुन्दर भोजन करके शान्ति की शय्याओं पर सोते हैं। क्यों न मैं भी शाक्यपुत्रीय साधुओं में साधु बन जाऊँ। तब उस ब्राह्मण ने भिक्षुओं के पास जाकर प्रव्रज्या के लिये प्रार्थना की। भिक्षुओं ने उसे प्रव्रज्या और उपसम्पदा दी। ....आगे चलकर भोजों का क्रम (सिलसिला) टूट गया। ....''भिक्षु तुम पेट के लिए प्रवज्या लिये हो?'' ''हाँ, भगवन्''।[1]

इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मणों की स्थिति ठीक नहीं थी। वे कार्य भी नहीं करना चाहते थे। इसीलिये ब्राह्मणों ने विभिन्न व्यवसायों को अपना लिया था। तन्त्रशास्त्र का ज्ञान उनमें विकसित हो चुका था और उससे वे अपना जीविकोपार्जन करते थे।[2] आसन–मन्त्र (स्त्री के दुर्गुण) को सीखकर कामवासना की तरफ उनकी रुचि (रुझान) बढ़ती जा रही थी।[3] जबकि ब्राह्मणों के लिये संयम, वेदाभ्यास एवं अध्यापन का कार्य करना बताया गया है।[4] कुछ ब्राह्मण राजाओं के यहाँ तलवार को सूंघ कर परीक्षण करते थे तथा व्यापारियों से उत्कोच (रिश्वत) भी लिया करते थे।[5] उस समय तक उन्हें नक्षत्रविद्या का ज्ञान पूर्णरूप से हो चुका था। इस विद्या के प्रयोग से वे अपनी जीविका भी चलाते थे।[6]

उस समय ब्राह्मणों ने कृषिकर्म भी स्वीकार कर लिया था। इसका एक उदाहरण सुत्तनिपात के कसिभारद्वाजसुत में मिलता है।[7]

ब्राह्मण श्राद्धकर्मों में पशुहत्या भी करते थे। यज्ञों में गायों का भी वध करते थे।[8]

ब्राह्मण मांसाहारी भी होते थे।[9]

वे यज्ञादि कर्मकाण्डों के साथ ही वृक्षों की पूजा देवताओं के रूप में करते एवं कराते थे।[10]

गौतम बुद्ध ब्राह्मणों को उनके पुराने वैदिक आदर्शों पर लाने के लिये धर्मोपदेश देते रहे, उनके गुणों की व्याख्या करते रहे। उन्होंने उनको अत्यधिक बोलने से बचाने का प्रयास भी किया है।[11]

ब्राह्मणवर्ग समाज का एक प्रतिष्ठित वर्ग था। समाज में उनका स्थान अत्यन्त ऊँचा था। राजकीय पदों पर उनकी नियुक्तियां ससम्मान होती थी। राजपरिवार में उनकी प्रतिष्ठा थी।[12]

उनके द्वारा समाज के सामाजिक एवं राजनीतिक पक्ष भी प्रभावित थे, धार्मिक

---

१. विनयपिटक, महावग्ग, पृष्ठ १०७।

२. जातक, प्रथम खण्ड, वेदब्भ जातक, पृष्ठ ३७५।

३. वही, असातमंत्र जातक, पृष्ठ ४१०।

४. सुत्तनिपात, ब्राह्मणधम्मिक सुत्त–६, पृष्ठ ५९।
मनुस्मृति, १/८८, करुणापुण्डरीक–१४४/२४, सौन्दरनन्द, ८१/१।

५. जातक, द्वितीय खण्ड, असिलक्षण जातक, पृष्ठ ८७।

६. जातक, तृतीय खण्ड, नानच्छन्द जातक, पृष्ठ १४३।

७. सुत्तनिपात, कसिभारद्वाजसुत्त, पृष्ठ १४–१५।

८. जातक, प्रथम खण्ड, मतकमन्त जातक, पृष्ठ ३७५; सुत्तनिपात, ब्राह्मणधम्मिकसुत्त–२९, पृष्ठ ६२–६३।

९. जातक, द्वितीय खण्ड, नङ्गुट्ठ जातक, पृष्ठ १३७।

१०. जातक, तृतीय खण्ड, पलास जातक, पृष्ठ १९२।

११. संयुत्तनिकाय, दूसरा भाग, पृष्ठ ४९९, ३३, १३४; अंगुत्तरनिकाय, पृष्ठ ४११।

१२. जातक–३, नानच्छन्द जातक–१४३, महासुपिन जातक–४८७।

उनके द्वारा समाज के सामाजिक एवं राजनीतिक पक्ष भी प्रभावित थे, धार्मिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्र तो उनका मुख्य आधार ही था। परिणामस्वरूप वे समाज के मठाधीश बन बैठे थे। इन्हीं कारणों से समाज के अन्य वर्णों की सम्पूर्ण प्रगति में वे बाधक स्वरूप थे। तथागत ने इसी का विरोध समाज के समस्त क्षेत्रों में किया और उन लोगों को राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्रों में प्राचीनतम मूल्यों के साथ साथ उस युग की आवश्यकताओं का भी ज्ञान कराया। फलस्वरूप बहुत से ब्राह्मण तथागत के शिष्य हो गये।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भगवान् बुद्ध ब्राह्मणों के कर्मकाण्डों के ही विरोधी थे, उनके वैदिक धर्म के नहीं। सुत्तनिपात में ब्राह्मणों को उपदेश देते हुए उन्होंने कहा– ''ब्राह्मणो! प्राचीन ब्राह्मणों की चर्या के अनुसार चलने वाले ब्राह्मण इस समय नहीं दिखायी देते''।[1]

इसमें 'पुराने ब्राह्मणों से' उनका तात्पर्य पूर्वयुगीन वैदिक मान्यताओं से है; क्योंकि वर्ण–व्यवस्था की प्रारम्भिक स्थिति हमें पूर्वयुगीन वैदिक काल से ही मिलने लगती है।[2]

सुत्तनिपात में वासेट्ठ माणवक भगवान् बुद्ध से गाथा में कहते हैं–''भन्ते, अनुज्ञात प्रतिज्ञात हम लोग तीनों वेदों के ज्ञाता हैं। मैं पोक्खरसाति का शिष्य हूँ और यह माणवक तारुक्ख का शिष्य है। वेदत्रयी में जो कुछ आया है, हमें उसका पूर्ण ज्ञान है''....इसके उत्तर में तथागत ने कहा– ''जो त्रिविद्याओं से युक्त हैं, शान्त हैं, और जिसका जन्म क्षीण हो गया है, विज्ञों के लिये वह ब्राह्मण है, वासेट्ठ! इस प्रकार जानो।''[3] इस उद्धरण में वेदों के सम्बन्ध में उल्लेख है। बुद्ध ने कहीं भी वेदों का पूर्णतया विरोध नहीं किया, अपितु उसकी आदर्शात्मक एवं सर्जनात्मक मान्यताओं एवं मूल्यों को प्रतिष्ठापित करने पर ही बल दिया है।

यह बात सत्य है कि उस काल में ब्राह्मणों की स्थिति एवं उनकी श्रेष्ठता निरन्तर ह्रासोन्मुख होती जा रही थी। वे अपने प्राचीन आदर्शों से च्युत हो चुके थे। धन–संग्रह, एवं वैभवविलास उनका प्रमुख लक्ष्य बन गया था। यद्यपि कर्म ही वर्णव्यवस्था का मूल आधार था, किन्तु इस काल में ब्राह्मणों ने जन्म को ही वर्णव्यवस्था का आधार मान लिया था। उनका मुख्य व्यवसाय शिक्षा देना एवं ज्ञानोपार्जन न होकर, कृषि कर्म आदि अन्य कार्य, व्यापार, धनसंग्रह[4] या उत्कोच[5] लेना आदि हो गया था।

इतना होते हुए भी, बुद्ध के समकालीन समाज में ब्राह्मणों का स्थान ऊँचा था। उनके वचनों पर लोग विश्वास करते थे।[6] ब्राह्मणों का अल्पसङ्ख्यक वर्ग ही अपने प्राचीनतम आदर्शों पर चल रहा था। तात्पर्य यह है कि तत्कालीन समाज में इस वर्ग की स्थिति विभिन्न शिल्पों एवं कार्यों के कारण विभिन्न प्रकार की हो गयी थी।

---

१. *सुत्तनिपात, ब्राह्मणधम्मिकसुत्त, पृष्ठ ५६–५७।*
संयुत्तनिकाय, दूसरा भाग, पृष्ठ ४९१।

२. *ऋग्वेद, १०/९–१२।*

३. *सुत्तनिपात, कसिभारद्वाजसुत्त, पृष्ठ १४–१५; अवदानजातक, १, १९५–६।*

४. *सुत्तनिपात, ब्राह्मणधम्मिकसुत्त, पृष्ठ ५७।*

५. *जातक, दूसरा भाग, असिलक्खण जातक, पृष्ठ ८७।*

६. *करुणापुण्डरीक, ७१/९–१०।*

क्षत्रियों की स्थिति

बुद्ध से पूर्व के प्राचीन साहित्य का अवलोकन करने पर यह स्पष्ट होता है कि ब्राह्मणों के समान ही समाज में क्षत्रियों का भी उच्च स्थान था। इनका कार्य युद्ध करना, शत्रुओं से जनता की रक्षा करना एवं राज्य का सञ्चालन करना था।[1] ये समाज के कर्णधार थे। ये द्विज वर्ग में आते थे।[2] कालान्तर में समाज की बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप इनके वर्गीय स्वरूप में भी परिवर्तन हो गया। उत्तर वैदिक काल में ब्राह्मण धार्मिक क्षेत्र के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में भी अधिकार स्थापित करने लगे थे। साथ ही धर्म के क्षेत्र में उनका एकाधिकार था, जिसमें वे किसी अन्य वर्ण को प्रविष्ट होने देना नहीं चाहते थे। इसी की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप क्षत्रियों ने भी अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने की प्रतिद्वन्द्विता में आगे बढ़ने का प्रयास किया। क्योंकि यदि वे ज्ञानार्जन, वेदाभ्यास[3] आदि के क्षेत्र में पीछे रह जाते तो राज्य–सञ्चालन में भी असफल हो जाते। यह अन्तर्द्वन्द्व तत्कालीन समाज में निरन्तर चल रहा था। क्षत्रियों के लिये प्रजापालन मुख्य कार्य समझा जाता था।[4]

इसी क्रम में जब हम बौद्ध साहित्य का अध्ययन करते हैं तो हमें समाज की बदलती हुई परिस्थितियों का ज्ञान होने लगता है। बुद्धकालीन समाज में एक धार्मिक क्रान्ति की लहर दिखायी पड़ती है जिसका प्रारम्भ उपनिषद् एवं उत्तर वैदिक काल में ही हो चुका था। वह क्रान्ति पूर्ववर्ती व्यवस्था में आये दोषों की अन्तिम परिणति थी; क्योंकि उपनिषदों के क्षत्रिय ब्रह्मवेत्ताओं के समान बौद्ध एवं जैन धर्म के प्रवर्तक भी क्षत्रिय ही थे।

बौद्ध साहित्य में क्षत्रियों का स्थान वर्णों की सूची में प्रथम आता है।[5] ये पराक्रमी एवं पुरुषार्थी थे। अश्वघोष ने सौन्दरनन्द में क्षत्रियों का वर्णन करते हुए लिखा है कि क्षत्रियों का रंग स्वर्ण के समान, वक्षःस्थल सिंह के समान एवं भुजाएँ लम्बी होती थीं।[6] क्षत्रिय तीनों वेदों की शिक्षा प्राप्त करते थे।[7]

क्षत्रियों के सम्बन्ध में बुद्ध ने संयुत्तनिकाय में महाकप्पिन का उत्तर देते हुए कहा

---

१. महाभारत, भीष्मपर्व, ४२–४३।
"शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।।

२. "ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्यास्त्रयो वर्णा द्विजातयः।
चतुर्थ एकजातेस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः।।
—मनुस्मृति, १०/४

३. शतपथ ब्राह्मण, ११/७, २१/५।
वृहदारण्यकोपनिषद्, ४,२,१।

४. "क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानामेव पालनम्।"
—मनुस्मृति, ७/११४।
महाभारत, अनुशासनपर्व, १४८–४९
"प्रजापालनदक्षस्य स्वर्गलोको भविष्यति।"

५. "चत्वारो भिक्षवो वर्णाः। कतमे चत्वारः? क्षत्रियाः, ब्राह्मणाः, वैश्याः, शूद्राश्च।"
—महावस्तु, २/१३९–५, ३/२९५–८।
मज्झिमनिकाय, भाग–२, पृष्ठ १२८; दीघनिकाय, ३/४, पृष्ठ २४४; वही, भाग–३, पृष्ठ १७७।
अङ्गुत्तरनिकाय, भाग–३, पृष्ठ ६९; विमानवत्थु, ५, १३, १५, पेतवत्थु, २/६/१२।

६. सौन्दरनन्द, १/१९।

७. जातक, भाग–३, पृष्ठ १२२, १५८।

है– ''मनुष्यों में क्षत्रिय श्रेष्ठ है जो गोत्र का ध्यान करने वाले हैं। विद्याचरण से सम्पन्न पुरुष ही देव–मनुष्यों में श्रेष्ठ है। सतत सन्नद्ध हो क्षत्रिय तपता है। ब्राह्मण ध्यान से तपता है।'' इससे यह स्पष्ट होता है कि उस काल में निरन्तर सन्नद्ध रहना क्षत्रियों का एक विशेष गुण था। समाज के विषय में चिन्तित रहना एवं उसकी रक्षा करना उनका परमावश्यक कर्त्तव्य था।

शार्दूलकर्णावदान में यह कहा गया है– ''जो लोग सालि क्षेत्रों का वपन करते हैं, उनकी रक्षा करते हैं, उन्हीं को क्षत्रिय कह सकतें हैं।''[1] इससे यह परिलक्षित होता है कि कृषि–कर्म के साथ जनता की रक्षा करना इनका कार्य था।

तत्कालीन समाज में क्षत्रियों की स्थिति प्रतिस्पर्धात्मक थी। वे राज्य के स्वामी, राज्यमन्त्री, सेनापति आदि उच्च पदों पर सामान्यतः प्रतिष्ठित होते थे। उनकी सीमाएँ भी होती थीं। वे अपनी सभाओं में विवादास्पद विषयों पर निर्णय लिया करते थे। उनकी आर्थिक स्थिति ठीक थी। ये लोग वेतन लेकर भी कार्य किया करते थे।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि तत्कालीन समाज में क्षत्रियों की स्थिति सामान्यतः अन्य वर्णों से उच्चतर थी तथा ये लोग बौद्धिक क्षेत्र में, विशेषतः तत्वज्ञान में, ब्राह्मणों से भी आगे थे। ये लोग रक्तशुद्धि पर विशेष ध्यान देते थे। उन्होंने वर्णों से सीधा सम्बन्ध स्थापित करने का कार्य किया, क्योंकि ये लोग राजनीतिक शक्ति के प्रतिनिधि थे। इस सम्बन्ध में इनका कार्य विशेष महत्त्वपूर्ण था। इसके अतिरिक्त इनका पारस्परिक सङ्घर्ष भी बहुत महत्त्वपूर्ण रहा, क्योंकि ये लोग गोत्र एवं कुल की मर्यादाओं को अत्यधिक महत्त्व देते थे। परिणामस्वरूप ये आप में भी ऊँच नीच का भेद–भाव रखते थे। साथ ही राज्य–विस्तार की महत्वाकांक्षा भी इनमें अत्यधिक थी।[3] ये छोटे छोटे समूहों में विभक्त थे। इनका तत्कालीन पारस्परिक मतभेद इनकी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति में बाधक सिद्ध हुआ।

वैश्यों की स्थिति

प्राचीनतम वैदिक साहित्यों में वर्णित वर्णव्यवस्था में वैश्यों का भी उल्लेख मिलता है। इस सम्बन्ध में प्राचीनतम साहित्यों में यह उल्लिखित है कि जो कृषि, गोरक्षा एवं वाणिज्य आदि व्यवसायों से जुड़ा है, वह वैश्य है।[4] महाभारत में युधिष्ठिर ने भीष्म से जब वर्णव्यवस्था के सम्बन्ध में पूछा तो भीष्म ने वैश्यों के सम्बन्ध में यह उत्तर दिया–

''वैश्यस्यापि हि धर्मोऽयं ते वक्ष्यामि शाश्वतम्।
दानमध्ययनं यज्ञः शौचेन धनसञ्चयः।।
''रक्षया स हि तेषां वै महत् सुखमवाप्नुयात्।
प्रजापतिर्हि वैश्याय सृष्ट्वा परिददौ पशून्।।[5]**''**

इससे स्पष्ट होता है कि दान देना, स्वाध्याय तथा यज्ञ करना, पवित्रता से धन–संग्रह करना, पशुओं का पालन उसी प्रकार करना जिस प्रकार पिता अपने पुत्र का पालन करता है– आदि वैश्यों के मुख्य कर्त्तव्य थे। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि समाज का

१. *शार्दूलकर्णावदान, पृष्ठ ३२८।*
२. *जातक, भाग–४, पृष्ठ १६९।*
३. *दीघनिकाय, महापरिनिब्बानसुत्त, पृष्ठ ।*
४. *महाभारत, भीष्म पर्व, ४२–४४।*
''कृषिगोरक्षवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।''
५. *वही, शान्तिपर्व, ६०, २१–३–२६।*

आर्थिक स्वरूप वैश्यों के हाथ में ही था। इनके लिये ये कर्म मोक्ष–प्राप्ति के मार्ग थे।[१] इसी प्रकार बुद्ध के समकालीन संस्कृत–साहित्य में भी इनके कर्त्तव्यों का उल्लेख किया गया है। जैसे–

"पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिरेव च।।"[२]

प्राचीन काल में बुद्ध से पूर्व वैश्यों के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है, वही स्वरूप कुछ परिवर्तन के साथ बौद्ध साहित्य में भी प्राप्त होता है जो कालान्तर में कर्मणा न होकर क्रमशः जन्मजात मान लिया गया। यह स्थिति धीरे–धीरे विकसित हुई।

अङ्गुत्तरनिकाय में जाणुस्सोणि ब्राह्मण ने भगवान् बुद्ध से पूछा– "वैश्यों के जीवन का उद्देश्य क्या हैं? उनके प्रधान विचार क्या हैं, किस कार्य से उनकी प्रतिष्ठा होती है, उनकी दृष्टि किस ओर आकृष्ट होती है एवं उनकी सन्तुष्टि किस बात से होती हैं?" इसके उत्तर में भगवान् बुद्ध ने यह कहा– "हे ब्राह्मण! वैश्यों के जीवन का उद्देश्य भोग्य पदार्थों का संग्रह करना होता है। उनका प्रधान विचार प्रज्ञावान् बनने का होता है। उनकी प्रतिष्ठा शिल्प का ज्ञान होने से होती है। उनकी दृष्टि कर्मान्त पर होती है। उनकी परम सन्तुष्टि गृहस्थ धर्म के कार्यों की समाप्ति होने से होती है।"[३]

इस प्रश्नोत्तर में बुद्ध ने वैश्य का जो लक्षण बताया है, वह प्रमाणित करता है कि गौतम बुद्ध वैश्य का कर्म करने वाले सभी लोगों को वैश्य मानते थे, किन्तु वस्तुतः उस काल में वर्णों की स्थिति जन्मतः मान्य हो गयी थी। क्योंकि वर्णव्यवस्था के सर्वोच्च स्थान पर स्थित ब्राह्मण अपने कर्म से च्युत हो गये थे, इसलिये स्वाभाविक था कि वैश्य भी अपने कर्म से च्युत हुए।

✓बौद्ध साहित्य में 'गृहपति' शब्द का प्रयोग मुख्यतः वैश्यों के लिये ही हुआ है। इसके अतिरिक्त उनके लिये 'वणिक्', 'महासाल', 'सेट्ठी' आदि शब्दों का भी प्रयोग होता था। बौद्ध साहित्य में इनके विविध रूपों का उल्लेख मिलता है, जैसे– काष्ठवणिक्[४], फलवणिक्[५], सकरवणिक्[६], स्तम्बवणिक्[७], तृणवणिक्[८] आदि। इन लोगों ने अपनी अपनी परिस्थिति के अनुसार व्यवसायों को स्वीकार कर लिया था। वे सङ्घों और सार्थवाहों के साथ रहकर व्यापार का कार्य करते थे।[९] व्यापार के क्षेत्र में ही इनकी मुख्य भूमिका होती थी। ये लोग सुरा (शराब) का भी व्यापार करते थे।[१०] व्यापार में इनके द्वारा भ्रष्टाचार भी होता था। इसका उदाहरण वारुणीजातक में इस प्रकार मिलता है– "एक शराब के व्यापारी ने अपने शिष्य को शराब बेचने के लिये कहा, उसके शिष्य ने उसमें नमक

---

१. महाभारत, उद्योगपर्व, ४०, २७।
२. अनुस्मृति, १/९०।
३. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग–३, पृष्ठ ६९–७०।
४. महावस्तु, भाग–३, ११३–१८।
५. वही, ११३–९१।
६. वही, ११३–११।
७. वही, ११३–१८।
८. वही, ३, ११३. १८।
९. जातक, प्रथम खण्ड, वण्णुपथजातक, पृष्ठ १८४। 131
१०. जातक, प्रथम खण्ड, वारुणीजातक, पृष्ठ ~~३७३~~। 333

मिलाकर उसे दूषित कर दिया''।[1] इसके अतिरिक्त उक्त सन्दर्भ में और भी उदाहरण प्राप्त होते हैं।

तत्कालीन समाज में वैश्यों के सम्बन्ध में बौद्ध साहित्य में बहुत से उदाहरण प्राप्त होते हैं।[2] इसमें इनके 'धन-संग्रह की कर्मठता[3], दानशीलता[4] के उदाहरण प्राप्त होते हैं। ये दान देने में अग्रगण्य थे। विसहरजातक में घास बेच-बेच कर दान देने की कथा से वैश्यों की दानशीलता पर प्रकाश पड़ता है।[5] श्रावस्ती नगर के प्रमुख सेट्ठी अनाथपिण्डक ने भिक्षुसङ्घ को प्रभूत दान दिया था। वैश्यों का सम्बन्ध राजपरिवार के लोगों से भी रहता था। इनको राज-सभा में आमात्यमण्डल एवं ब्राह्मणों की भाँति समान स्थान प्राप्त होता था।[6] इस प्रकार इन सभी उद्धरणों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि तत्कालीन राजनीति में इनका भी महत्त्वपूर्ण स्थान था।

जातक के द्वितीय खण्ड में पिण्डीय सेठ एवं शङ्ख सेठ की कथा मिलती है जिसमें उनके लोभ का वर्णन किया गया गया है।[7] इससे स्पष्ट होता है कि वैश्यों के धनोपार्जन के लिए लोभ की प्रवृत्ति अधिक थी। गृहपति समय समय पर आवश्यकतानुसार समाज के अन्य वर्गों को ऋण देता था जिससे सूद (लाभ) लेता था वैश्य समाज के लिये आश्रययुक्त होता था।[8] वैश्यों में भी जो अपने धन-वैभव के कारण 'श्रेष्ठी' कहे जाते थे, उनका समाज में अत्यन्त उच्च स्थान था।

इस प्रकार तत्कालीन समाज में वैश्यों का स्थान आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण था। वे सामाजिक विकास की दिशा में अनिवार्य भूमिका सम्पन्न करते थे। उस समय के समाज में अनाथपिण्डक[9], कल्याणभत्तिक[10], मल्लिक[11] (व्यापारी), सोण[12], हालिद्दिकानि[13], अविसह्य[14] आदि वैश्य अपनी दानप्रियता एवं सामाजिक स्तर के लिये प्रसिद्ध थे। श्रेष्ठिजातक में दान देने की घटना का वर्णन है जिसमें दान देने का महत्त्व तो बताया ही गया है, साथ में यह भी कहा गया है- ''जब सज्जन अपनी विपत्ति की उपेक्षा करके भी दान देने की इच्छा करते हैं तब जो मनुष्य विपत्ति में नहीं है, तो वह क्यों नहीं दान करेगा!'' इससे स्पष्ट परिलक्षित होता है कि वैश्यों को दान देना अनिवार्य ही रहा होगा। इस जातक में बोधिसत्त्व को श्रेष्ठि के कुल में उत्पन्न बताया गया है। इससे यह भी विदित होता है कि समाज में इनकी श्रेष्ठता किसी से कम नहीं थी।

---

१. जातक, प्रथम खण्ड, वारुणीजातक, पृष्ठ ३७३।

२. वही, पृष्ठ १९०।

३. वही, चुल्लसेट्ठिजातक, पृष्ठ १९४।

४. जातक, खण्ड-३, पृष्ठ २९२। जातक, खण्ड-१, पृष्ठ ३४९।

५. जातक, खण्ड-३, विसहरजातक, पृष्ठ २९२।

६. दीघनिकाय २/४, पृष्ठ १५४।

७. असम्पदानजातक, जातक भाग-२, पृष्ठ १०१।

८. अङ्गुत्तरनिकाय, प्रथम भाग, पृष्ठ ११८-१९।

९. विनयपिटक, ४५८, ४५९, ६०, १३०।
मज्झिमनिकाय, ५८४, ५६८, संयुत्तनिकाय, भाग-१, ४५१, ४९३, ६२०, ७५१।

१०. विनयपिटक, ३९७।

११. वही, ७७।

१२. संयुत्तनिकाय, भाग-१, भाग-२, पृष्ठ ३४४-४९८।

१३. संयुत्तनिकाय, भाग-१, पृष्ठ ४९८।

१४. जातकमाला, ५/१, पृष्ठ ३७-३९।

शूद्रों की स्थिति

बुद्ध–युग से पूर्व के प्राचीनतम साहित्य के आधार पर वर्णव्यवस्था के स्वरूप का अवलोकन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि शूद्रों का महत्त्व समाज के लिये परमावश्यक था, परन्तु उनका महत्त्व क्रमशः घटता गया। प्रारम्भिक वैदिक सामाजिक संरचना में वर्णों की जो सृष्टि हुई उसमें उनका एक निश्चित स्थान था। इस अध्याय के प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है कि अङ्गों से उत्पन्न होने वाले सिद्धान्त के अनुसार शूद्रों को चरणोत्पन्न माना गया था। महाभारत के उद्योग पर्व में विदुर ने धृतराष्ट्र को शूद्रों के सम्बन्ध में बताया कि जो शूद्र ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य–तीनों द्विज वर्णों की सेवा करता है उसे स्वर्ग की प्राप्ति होती है।[1] भीष्मपर्व में एवं वनपर्व में भी द्विज–सेवा का उल्लेख प्राप्त होता है।[2] सेवा–कार्य इनके जीवन का मुख्य लक्ष्य बनाया गया था। इसके साथ ही इनको अपनी इन्द्रियों को वश में रखना, अतिथियों का सत्कार करना और सदाचरण आदि कर्म करना भी इनके लिये विहित था।[3]

शूद्रों को अन्य कार्य करने के लिये भी छूट थी। महाभारत के शान्तिपर्व में इस प्रकार लिखा है कि–

वाणिज्यं पशुरक्षा च तथा शिल्पोपजीवनम्।
शूद्रस्यापि विधीयन्ते यदा वृत्तिर्न जायते।।[4]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि परिवार के भरण–पोषण हेतु यदि वे चाहें तो पशुपालन, व्यापार, शिल्प आदि कर्म भी कर सकते हैं, किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं था। इनको समाज में हीन दृष्टि से नहीं देखा जाता था। परन्तु क्रमशः अन्य वर्णों की तरह इनकी स्थिति में भी परिवर्तन आया। जो स्थान समाज में इन्हें पहले प्राप्त था, अब वैसा नहीं रहा।

बौद्ध साहित्य में शूद्रों के सम्बन्ध में जो वर्णन आया है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि उस समय उनको समाज में हेय दृष्टि से देखा जाने लगा था। इसीलिये उनके सम्बन्ध में बुद्ध ने क्रान्तिकारी विचार प्रस्तुत किये हैं। बुद्ध के समय में उच्च वर्णों की सेवा करना इनका मुख्य कार्य था।[5] किन्तु सेवा के अतिरिक्त ये अन्य कर्म भी स्वीकार कर सकते थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न थे। इसलिये शूद्र उनकी नौकरी किया करते थे।

बौद्ध साहित्य में इस सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख नहीं प्राप्त होता कि शूद्रों का लक्ष्य क्या था और उनका कार्य क्या था? जैसा कि अङ्गुत्तरनिकाय में ब्राह्मण के पूछने पर बुद्ध

---

१. *"ब्रह्म क्षत्रं वैश्यवर्णं च शूद्रः क्रमेणैतान्न्यायतः पूजयानः।*
तुष्टेष्वेतेष्वव्यथो दग्धपापस्त्यक्त्वा देहं स्वर्गसुखानि भुंक्ते।।"
–महाभारत, उद्योगपर्व, ४०–२८।

२. *"परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।"*
–महाभारत, भीष्मपर्व, ४२, ४४।
वही, वनपर्व, २०७–१५।

३. *"स शूद्रः संशिततपाः सत्यवादी जितेन्द्रियः।"*
–महाभारत, अनुशासनपर्व, १४१।

४. *महाभारत, शान्तिपर्व, २९४–४।*

५. *दिव्यावदान, ३२९, ७–८।*

भगवान् ने ब्राह्मणों, क्षत्रियों एवं वैश्यों के सम्बन्ध में बताया है।[१] किन्तु यह सङ्केत अवश्य मिलता है कि ये लोग मिट्टी का बर्तन बनाने वाले कुम्भकार[२], माली का कार्य[३], आभूषण बनाने का कार्य[४], लोहे का कार्य करने वाले लोहार[५] आदि के शिल्पों को स्वीकार कर जीवन–यापन करते थे। इन्होने कृषि–कर्म को भी अपना लिया था।[६] इनके कार्यों से स्पष्ट विदित होता है कि इनका ग्राम–जीवन में बहुत बड़ा योगदान था। इनका सामाजिक जीवन व्यवस्थित था। किन्तु इनमें कुछ ऐसे भी थे जिनका जीवन अव्यवस्थित था। ये लोग जीविकोपार्जन के लिये इधर उधर भ्रमण किया करते थे तथा मजदूरी (श्रम) करते थे।[७] इसके अतिरिक्त इनमें से कुछ सर्पोपजीवी (संपेरा) का भी कार्य करते थे।[८] विभिन्न व्यवसायों के आधार पर इनकी पृथक् पृथक् जातियां भी बन गयी थीं। इस काल में वर्णसम्बन्धी पूर्ववर्ती मान्यताएँ एवं उनके आधार क्रमशः टूटते जा रहे थे। अतः शूद्रों का स्वरूप अपने व्यवसायों के आधार पर ही पहचाना जाने लगा। इनकी अपनी कोई परिषद् नहीं होती थी। मज्झिमनिकाय में केवल आठ परिषदों का उल्लेख हुआ है[९]–

(१) क्षत्रियपरिषद् , (२) ब्राह्मणपरिषद्, (३) गृहपतिपरिषद्,
(४) श्रमणपरिषद्, (५) चातुर्महाराजिक परिषद्, (६) त्रायस्त्रिंशपरिषद् (देवता),
(७) मारपरिषद्, एवं (८) ब्रह्मपरिषद्।

इस परिषदों में शूद्रों की गणना किसी भी परिषद् में नहीं हुई है, अतः ये लोग, किसी परिषद् के न होने के कारण, न किसी स्थान पर एकत्र हो सकते थे और न कोई निर्णय ही ले सकते थे।

इनकी अन्य जातियाँ–गोपालक (ग्वाले), पशुपालक या तृणहारक (घसियारे), काष्ठहारक (लकड़हारे), वनकार्मिक आदि भी मिलती हैं।[१०] इनकी भी आर्थिक स्थिति ठीक नहीं थी। ये लोग किसी प्रकार से केवल अपनी जीविका चलाते थे।

इनके सम्मान का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। इस सम्बन्ध में अङ्गुत्तरनिकाय के तीसरे निपात में इस प्रकार कहा गया है– "भिक्षुओ! एक आदमी नीच कुल में जन्म लेता है, दरिद्र कुल में जन्म ग्रहण करता है, अल्प खाद्य–पेय कुल में, दुर्जीविका के कुल में, जहाँ कठिनाई से खाना पीना मिलता है, जैसे–चण्डाल कुल में, शिकारियों के कुल में वंशफौरों के कुल में, चमारों के कुल में, मालियों आदि के कुल में वह दुर्वर्ण होता है, दुर्दर्शनीय, लूला–लँगड़ा, रोगबहुल, काना होता है। उसे न अन्न–पान मिलता है, न वस्त्र

---

१. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग–३, पृष्ठ ६९–७०।
२. जातक, भाग–२, कच्छपजातक, पृष्ठ २५७।
३. जातक, दधिवाहनजातक, पृष्ठ २८५।
वही, भाग–३, पृष्ठ ११ (सुजाताजातक)
वही, भाग–४, सुमङ्गलजातक, पृष्ठ ९९–१०३।
४. जातक, भाग–३, सीलवीमंसजातक, पृष्ठ १४९।
५. दिव्यावदान, २८०/२३।
६. जातक, भाग–३, पृष्ठ ११।
जातक, भाग–५, पृष्ठ ३३।
७. वही, पृष्ठ ८६।
८. वही, पृष्ठ ४४।
९. मज्झिमनिकाय, १/४७।
१०. वही, १/५१।

मिलता है, न सवारी मिलती है, न माला, गन्ध, विलेपन मिलता है, न शय्या मिलती है, न निवासस्थान मिलता है और न प्रकाश के लिये दीपक मिलता है।[1]

इस उद्धरण से कई बातें स्पष्ट हो जाती है। प्रथम तो यह कि समाज में उनकी आर्थिक स्थिति ठीक नहीं थी और ये विभिन्न प्रकार के व्यवसायों को स्वीकार कर अपना जीवनयापन करते थे।

बौद्ध साहित्य में चतुर्थ वर्ण (शूद्र) के अतिरिक्त चाण्डाल कुल की भी बात कही गयी है।[2] इनके कुलों को 'नीच कुल' भी कहा गया है। इनके जीवन के सम्बन्ध में यह सूचना मिलती है कि इनको खाने के लिये भोजन, पहनने के लिये वस्त्र, रहने के लिये मकान, आने-जाने के लिये सवारी, प्रकाश के लिये तैल आदि कुछ भी नहीं मिलता था। इनकी पारिवारिक स्थिति व्यवस्थित नहीं थी। इनका जीवन नैराश्यपूर्ण था। इनके जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की भी पूर्ति नहीं हो पाती थी।

शूद्र तो चतुर्थ वर्ण में गिने जाते थे, किन्तु चण्डाल[3], पुक्कस[4] आदि इनसे भी निम्न कुल में आते थे। इस काल में इनकी ओर देखना भी त्याज्य माना जाता था।[5] चाण्डाल लोग दण्डप्राप्त अपराधियों को शारीरिक दण्ड देने के लिये नियुक्त होते थे।[6] ये लोग शव ढोने का कार्य भी करते थे।[7] इनका जीवन कष्टप्रद था। चित्तसम्भूतजातक से स्पष्ट हो जाता है कि इनको विद्याध्ययन का अधिकार नहीं था। इनका निवास-स्थान ग्राम एवं नगर के बाहर हुआ करता था। इनका देखना पाप समझा जाता था। देखने पर आँख तक धोने का प्रसङ्ग मिलता है। इनको लोग मारते भी थे। इनकी जाति इनके लिए दु:ख का कारण थी। इनकी अपनी एक भाषा थी; क्योंकि इसी जातक में यह बताया गया है कि दो चाण्डाल अपने गोत्र और नाम को छिपा कर एक गुरुकुल में अध्ययनहेतु प्रविष्ट हो गये। एक स्थान पर आचार्य को भोजन का निमन्त्रण मिला। उक्त दोनों शिष्य भी भोजन के लिये वहाँ गये। वहाँ उष्ण (गरम) खीर खाने से उनका मुख जल गया तो घबरा कर वे अपनी चण्डाली भाषा में ही बात करने लगे। गुरु ने उनकी भाषा समझ कर उन्हें डाँटा और उन्हें गुरुकुल से निकाल दिया। इससे स्पष्ट है कि उस काल में चण्डाल अपने सामाजिक जीवन स्तर को ऊँचा उठाने के लिये शिक्षा प्राप्त करना चाहते थे और अपने नाम-कुल को छिपाकर वे गुरुकुलों में प्रविष्ट हो जाते थे।

निष्कर्ष यह है कि समाज में शूद्रों के साथ ही साथ चण्डाल एवं पुक्कस जाति के लोगों का भी स्थान निम्न था। इन्हें नीचकुलजन्मा कहा गया है। समाज में विभिन्न जातियों का सर्जन हो चुका था। वे अपने कर्मो को अवश्य करते थे, परन्तु उनको उचित सम्मान नहीं प्राप्त था। सम्पूर्ण समाज को यदि देखा जाय तो तीन वर्णों को छोड़ कर शेष वर्णो एवं जातियों की स्थिति सम्मानजनक नहीं थी। उस समय तक जातिगत भावना का विकास हो

---

१. अङ्गुत्तरनिकाय, तीसरा निपात, पृष्ठ ११०।

२. जातक, भाग-३, सीलवीमंसजातक, पृष्ठ ३५७।

'खत्तिया ब्राह्मणा वेस्सा सुद्दा चण्डालपुक्कुसा।'

३. दिव्यावदान, ३२८/५-६; अङ्गुत्तरनिकाय, २/८५।

४. वही, ३२१/३ 'पुक्कसा: सह पुक्कसै:'

५. महावस्तु, भाग-२, १८७-२-३।

६. दिव्यावदान, २६५/१३-१४।

७. महावस्तु, भाग-२, ७४/३-४।

चुका था। सम्पूर्ण सामाजिक संरचना वर्णों पर नहीं, अपितु जातीय स्तम्भ पर आधृत हो चुकी थी।

गोत्र

प्राचीन भारतीय समाज में वर्ण से भी अधिक महत्त्व गोत्र को दिया गया है। गोत्र एक लाक्षणिक शब्द है, जिसका व्युत्पत्त्यर्थ गायों को एकत्र कर पालन करना है। कालान्तर में इस शब्द का अर्थ–विस्तार हुआ और मूल कुल के लिये गोत्र शब्द का प्रयोग होने लगा। आदि काल में जिन महर्षियों अथवा महापुरुषों क कुल या कबीले विकसित हुए, उन्हीं के नाम पर उस कुल में उत्पन्न व्यक्ति वंशपरम्परा से उस मूल व्यक्ति के गोत्र के नाम से पुकारे जाने लगे। वैदिक काल में ही भारद्वाज, वशिष्ठ, विश्वामित्र, भृगु, गर्ग, वत्स, शाण्डिल्य, कश्यप, गौतम, कुसिक, अत्रि, मित्र, कौण्डिन्य, सावर्णि आदि गोत्र बन गये। विभिन्न गोत्रों या कुलों में उत्पन्न द्विजवर्गीय लोगों की अपनी पृथक् परम्पराएँ और विश्वास होते थे तथा उनमें वेदों की भिन्न–भिन्न शाखाओं का विकास हुआ था जिनकी पृथक् पृथक् संहिताएँ भी प्रचलित हो गयीं। गोत्रों द्वारा ही वंशों की श्रेष्ठता का प्रत्यक्ष ज्ञान (पहचान) होता था।

कालान्तर में गोत्र से सम्बद्ध श्रेष्ठता का विचार ब्राह्मणों तक ही सीमित रह गया। अन्य वर्णों में गोत्र का उतना महत्त्व नहीं रह गया, जितना वर्ण का। यह स्थिति बुद्ध के युग में भी वर्तमान थी। इस काल में व्यक्ति अपने गोत्र का नाम लेकर ही अपना परिचय देता था। परवर्ती काल में गोत्र के साथ अपने वंश एवं पिता का नाम भी परिचय देने के लिये बताया जाने लगा। वर्तमान समय में यद्यपि गोत्र और वंश श्रेष्ठताबोधक नहीं रह गये किन्तु जातिभेद के प्रसार में इनका बहुत अधिक हाथ रहा है। विवाह आदि कार्यों में गोत्र वंश आदि की विशेष आवश्यकता पड़ती है। इनका महत्त्व किसी प्रकार उत्तरोतर कम होता गया। इसका प्रमाण बौद्ध साहित्य में भी देखा जा सकता है।

बौद्ध साहित्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उस काल में भी गोत्र और वंश का महत्त्व वर्तमान था। इस पर लोग गर्व करते थे एवं उनके गोत्र–नाम से सम्बोधित करते थे। इसका प्रसंग विनयपिटक में इस प्रकार आया है, ''उस समय आयुष्मान् महाश्यप के पास एक भिक्षु उपसम्पदा चाहने वाला था। तब आयुष्मान् महाकाश्यप ने आयुष्मान् आनन्द के पास (यह कह कर) दूत भेजा– 'आनन्द! आओ और इस पुरुष के लिए अनुश्रावण[१] करो।' '' आयुष्मान् आनन्द ने ऐसा कहा– ''स्थविर (महाकाश्यप) का नाम लेने में भी असमर्थ हूँ। स्थविर मेरे गुरु हैं''....भगवान् से यह बात कही गयी। (भगवान् ने यह कहा–) ''भिक्षुओ! अनुमति देता हूँ, गोत्र के नाम से पुकारने की।''[२]

इससे स्पष्ट है कि गोत्र का महत्त्व तत्कालीन समाज में अत्यधिक था। गोत्र के सम्बन्ध में संयुत्तनिकाय के अन्तर्गत 'नजीरतिसुत्त' में एक प्रसङ्ग इस प्रकार आया है– ''मनुष्यों का रूप पुराना हो जाता है, उसके नाम और गोत्र पुराने नहीं होते।''[३]

इस उद्धरण से विदित होता है कि गोत्र पुराना नहीं होता। गोत्र का ध्यान लोग अत्यधिक करते थे। गोत्र का इतना अधिक प्रयोग होता था कि गोत्रवाद जातियों के

---

१. *अनुश्रावण : उपसंपदा देने (भिक्षु बनाने) के समय उपसंपदा देने की स्वीकृति तथा उपाध्याय और आचार्य के नाम सङ्घ के सामने ऊँचे स्वर से सुनाये जाते थे। इसी प्रक्रिया को 'अनुश्रावण' कहते हैं।*

२. *विनयपिटक, महावग्ग, पृष्ठ १३१–३२।*

३. *संयुत्तनिकाय, पहला भाग, नजीरतिसुत्त, पृष्ठ ४५।*

अन्तर्गत भी प्रचलित हो गया था।[१] दिव्यावदान में गोत्र और जाति की प्रधानता के सम्बन्ध में कहा गया है कि ''जातिगोत्रप्रधानश्च''।[२] क्षत्रियों की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा गया है— ''गोत्र लेकर चलने वाले जनों में क्षत्रिय श्रेषठ है''।[३]

बौद्ध साहित्य में इन नीचे लिखे गोत्रों का उल्लेख मिलता है—

(१) कश्यप गोत्र[४], (२) भरद्वाज गोत्र[५], (३) वात्स्यायन गोत्र,[६], (४) वाशिष्ठ गोत्र[७], (५) वत्स गोत्र[८], (६) कौशिक गोत्र[९], (७) आकाश गोत्र[१०], (८) गौतम गोत्र[११], (९) बेरह च्चानि गोत्र[१२], (१०) कौत्स गोत्र[१३], (११) माण्डव्य गोत्र[१४], (१२) आत्रेय गोत्र[१५], (१३) कौण्डिन्य गोत्र[१६], (१४) गार्ग्य गोत्र[१७], एवं (१५) कृष्णायन गोत्र[१८]।

इन विभिन्न गोत्रों के अतिरिक्त बौद्ध साहित्य में कुछ मातृज गोत्र भी थे जिनका उल्लेख हुआ है।[१९] इस सम्बन्ध में एक प्रसङ्ग मज्झिमनिकाय में इस प्रकार से आता है— '' ''राजा प्रसेनजित कोशल, जहाँ आयुष्मान् अङ्गुलिमाल थे, वहाँ गया। जाकर आयुष्मान् अङ्गुलिमाल से बोला— ''क्या आप आर्य अङ्गुलिमाल हैं?''

''हाँ, महाराज!''

''आर्य के पिता किस गोत्र के और माता किस गोत्र की हैं?'' ''महाराज! मेरे पिता गार्ग्य और माता मैत्रायणी गोत्र[२०] की हैं।

उपर्युक्त उद्धरण से यह पता चलता है है कि पिता के गोत्र के साथ साथ माता का भी गोत्र चलता था एवं वैवाहिक सम्बन्ध भी एक दूसरे गोत्रों में ही होता था। साधारण (आम) बोल–चाल की भाषा में परिचय के साथ साथ गोत्र, कुल, जाति आदि पूछे जाते थे।

---

१. बुद्धचर्या, अम्बट्ठसुत्त, पृष्ठ २०१।
२. दिव्यावदान, ३६०/२३।
३. बुद्धचर्या, अम्बट्ठसुत्त, २०१।
४. संयुत्तनिकाय, भाग–१, पृष्ठ १५८; मज्झिमनिकाय, पृष्ठ ३२८, ३३१, ५१४, १२६; बुद्धचर्या, पृष्ठ २२९; महावस्तु, भाग–१, पृष्ठ ११३; विनयपिटक, पृष्ठ २९८।
५. मज्झिमनिकाय, पृष्ठ २९२, ४८५, ४०९, ४१३, ४२६। संयुत्तनिकाय, पृष्ठ १३०–१३२, १२९, १३४, १३६, १३७।
६. मज्झिमनिकाय, पृष्ठ ११३।
७. वही, पृष्ठ ४११–१२।
८. वही, पृष्ठ २८१, संयुक्तनिकाय, भाग–१, पृष्ठ ४४१–४३।
९. मज्झिमनिकाय, पृष्ठ १५१, दिव्यावदान ३३१/१७–१८।
१०. मज्झिमनिकाय, पृष्ठ ३७१।
११. संयुत्तनिकाय, भाग–१, पृष्ठ २७, १२९, १३८। वही, भाग–२, पृष्ठ १४, मज्झिमनिकाय, पृष्ठ १७०। महावस्तु, भाग–१, १११/९।
१२. संयुत्तनिकाय, भाग–२, पृष्ठ ५०१।
१३. दिव्यावदान, ३२१/१६–१७।
१४. वही, ३३१/२१–२२।
१५. वही, ३३३/१६–२०।
१६. महावस्तु, भाग–१, १४४/७–८।
१७. मज्झिमनिकाय, पृष्ठ ३५८।
१८. बुद्धचर्या, अम्बट्ठसुत्त, पृष्ठ १९८।
१९. दिव्यावदान, ३३/१५–१६, २१।
२०. मज्झिमनिकाय, अङ्गुलिमालसुत्त, पृष्ठ–३५८।

जहाँ कहीं भी बुद्ध भगवान् की अन्य लोगों से वार्ता होती है, वहाँ जाति, गोत्र आदि पूछने का प्रसङ्ग मिलता है। संयुत्तनिकाय में सुन्दरिक भरद्वाज ने भगवान् से मिलने पर पूछा कि आप की जाति क्या है? इस पर भगवान् बुद्ध कहते हैं– "जाति मत पूछो"।[1] इसी तरह सुत्तनिपात में अजित ने बुद्ध भगवान् से प्रश्न किया कि "मेरे आचार्य की आयु बतावें, जाति बतावें, गोत्र बतावें एवं लक्षण बतावें"।[2] इससे यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में गोत्र एवं जाति पूछने की प्रथा प्रचलित थी; क्योंकि गोत्र में जाति के प्रति लोगों का अटूट विश्वास था।

वर्ण एवं जाति व्यवस्था के विरुद्ध भगवान् बुद्ध की सामाजिक क्रान्ति

तत्कालीन समाज में वर्ण एवं जाति व्यवस्था का स्वरूप विकृत हो चला था। वर्णों का विभाजन जो कर्म के आधार पर हुआ था, वह टूट रहा था एवं जातियों का स्वरूप ग्रहण कर रहा था। समाज में द्विज वर्णों की स्थिति सामान्यतः ठीक थी। परन्तु अन्य वर्णों एवं जातियों की स्थिति दयनीय थी। उनकी आधारभूत मूल आवश्यकताओं की पूर्ति कठिनता से हो पाती थी। उनके पास न तो रहने के लिये मकान थे, न खाने के लिये भोजन; न पहनने के लिये वस्त्र थे, न आने-जाने के लिये यान (सवारी) थी और न प्रकाश के लिये तैल ही था। यों, उनका जीवन निराशामय जीवन था।[3] वे समाज में अस्पृश्य (अछूत) समझे जाते थे। उनको देखना भी 'पाप' समझा जाता था। उनके लिये शिक्षा की व्यस्था भी नहीं थी। एक तरफ यह स्थिति थी तो दूसरी तरफ ब्राह्मणों का कर्मकाण्ड इतना अधिक प्रबलतया व्याप्त था कि समाज के अन्य वर्णों के लिये यह अभिशाप बन गया था। समाज में धार्मिक रूढ़िवादिता (पोंगापन्थी) व्याप्त थी, जो समाज के अन्य वर्णों एवं जातियों के लिये भारस्वरूप हो चली थी। उनसे बलपूर्वक यज्ञ आदि कर्म कराये जाते थे, यज्ञों में पशुओं की बलि दी जाती थी। हिंसा को महत्त्व दे दिया गया था। वर्णों में एक वर्ण ब्राह्मण ही राजनीति एवं समाज का एकमात्र उत्तरदायी (ठीकेदार) बन गया था। यों, समाज में असमानता एवं अव्यवस्था बढ़ती जा रही थी। समाज के लिये यह स्थिति भयङ्कर एवं अहितकर थी। जिसे देखकर किसी की भी आत्मा द्रवित हो सकती थी। इस स्थिति का दृढ़ता से (बलपूर्वक) विरोध करने के लिये ये महामानव शाक्यपुत्र गौतम बुद्ध आगे आये।

उन्होंने वर्णहीन एवं वर्गविहीन समाज की स्थापना के लिये एक आन्दोलन छेड़ा। जिसका मुख्य मन्तव्य वर्ण एवं जाति व्यवस्था का तथा कर्मकाण्डों का विरोध एवं समाज में एक जाति (मानव जाति) का सर्जन करना था। इसके सन्दर्भ में सङ्घ की भी उन्होंने स्थापना की। बौद्ध साहित्य इनके आन्दोलन का पूर्णतः प्रतिनिधित्व करता है।

बौद्ध साहित्य का अवलोकन करने पर उनकी जातिसम्बन्धी अवधारणा स्पष्ट हो जाती है। वर्ण-जाति-व्यवस्था के सम्बन्ध में मज्झिमनिकाय के वासेट्ठसुत्त में इस प्रकार कहा गया है–

(भगवान् कहते हैं–)

"वाशिष्ठ! तुम्हें मैं क्रमशः यथार्थता कहता हूँ। प्राणियों की जातियों में एक दूसरे से जाति का भेद है। तृण और वृक्ष में भी जानते हो (इसके लिये) वह प्रतिज्ञा नहीं करते,

---

१. *संयुत्तनिकाय, पृष्ठ १३४।*

२. *सुत्तनिपात, पारायणवग्ग, पृष्ठ २१५।*

३. *अङ्गुत्तरनिकाय, तीसरा निपात, पृष्ठ ११०।*

जाति का लिङ्ग है, उनमें जातियाँ एक दूसरे से भिन्न हैं। फिर कीट–पतङ्ग से चींटी तक जाति का लिङ्ग है, उनमें छोटे–बड़े चौपायों में भी तुम जानते हो, जाति का लिङ्ग है उनमें।......

"जैसा इन जातियों में जाति का भिन्न भिन्न लिङ्ग है, इस प्रकार का जाति–लिङ्ग मनुष्यों में पृथक् नहीं है न केशो में, न सिर में, न कान में, न आँख में, न मुख में, न नासिका में, न होठ में और न भौं में।.....

"मनुष्यों में भेद केवल संज्ञा में है। मनुष्यों में जो गोरक्षा से जीविका करता है ऐसे को 'कृषक' जानो, ब्राह्मण नहीं।.....

"मनुष्यों में जो ग्राम या राष्ट्र का उपभोग करता है, वाशिष्ठ! ऐसे को 'राजा' जानो, ब्राह्मण नहीं।"[1]

उपर्युक्त उद्धरण से भगवान् बुद्ध की धारणा स्पष्ट होती है कि मानवमात्र एक है। उसमें कोई प्रकृतिप्रदत्त जाति या वर्ण का अन्तर नहीं है। कर्म मुख्य हैं। कर्म के आधार पर ही मनुष्य के वर्ण की पहचान हो सकती है। भगवान् बुद्ध जातिवाद को समाप्त करके मानववाद की स्थापना करना चाहते थे। समाज में जो जातिगत भेद है वे उसे मिटाना चाहते थे। संयुत्तनिकाय में वे सुन्दरिक भारद्वाज से कहते हैं कि "जाति मत पूछो, कर्म पूछो"।[2] इसे भी स्पष्ट होता है कि वे जाति–भेद को मिटाना चाहते थे। वे एक मानव जाति की कल्पना करते थे।[3] मानवों में उनको परस्पर कोई अन्तर नहीं दिखायी देता था। उनके अनुसार सभी वर्णों के लोगों के शरीर के अङ्ग एक समान है।[4] उस समय समाज में ऐसी धारणा थी कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र क्रमशः श्रेष्ठता के अनुसार परिचर्या करें। बुद्ध ने इसका विरोध करते हुए मज्झिमनिकाय के एसुकारिसुत्त में इस प्रकार कहा है—

"ब्राह्मण! न मैं सबको परिचरणीय (सेवनीय) कहता हूँ और न मैं सबको अपरिचरणीय (असेवनीय) कहता हूँ। ब्राह्मण! जिसका परिचरण करने से (परिचर्या के हेतु) श्रद्धा बढ़ती है, शील बढ़ता है, श्रुत बढ़ता है, ज्ञान बढ़ता है उसे मैं परिचरणीय (=सेवितव्य) कहता हूँ।"[5]

इसी सुत्त में भगवान् बुद्ध आर्य धर्म को पुरुष को स्वधन प्रज्ञापन करते हैं।[6] उन्होंने इन प्रसङ्गों से समाज में व्याप्त जातिगत श्रेष्ठता का विरोध किया है। साथ ही प्राचीन धर्म एवं संस्कृति को सम्मान भी दिया है। भगवान् बुद्ध स्पष्ट रूप से समाज में व्याप्त कर्मकाण्डों के भी विरोधी थे। संयुत्तनिकाय के सुन्दरिक सुत्त में इस प्रकार आया है कि—

"हे ब्राह्मण! लकड़ियां जला–जलाकर
अपनी शुद्धि होना मत समझो, यह बाहरी आडम्बर (ढोंग) मात्र है।.....
"हे ब्राह्मण! अभिमान तुम्हारे लिये अनाज है।"[7]

इससे परिलक्षित होता है कि भगवान् बुद्ध के मत में यज्ञ आदि करके शुद्धि नहीं

---

१. मज्झिमनिकाय, वासेट्ठ सुत्त, पृष्ठ ४१३–१४।
२. संयुत्तनिकाय ७/१/९, पृष्ठ १३४–३५।
३. दिव्यावदान ३२३/१४।
४. वही, ३२४/३–६, ३२७/१७–२०।
५. मज्झिमनिकाय, एसुकारि सुत्त, पृष्ठ ४०४।
६. मज्झिमनिकाय, पृष्ठ ४०५।
७. संयुत्तनिकाय, सुन्दरिक सुत्त, १३९।

की जा सकती। यह सब बाह्य आडम्बर है। अध्यात्म की ज्योति से ही पवित्रता आ सकती है। वे समाज को उचित पथ निर्दिष्ट करना चाहते थे। उनका दृष्टिकोण स्पष्ट है कि न केवल ब्राह्मण ही सत्तापूर्ण पिण्ड ले, नदी पर जाकर मैल धो सकता है अपितु क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र भी इस प्रकार मैल धो सकते हैं।[1] अर्थात् स्वच्छता एक वर्ण ही नहीं, अपितु सभी वर्णों के लिये आवश्यक है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि छुआछूत के भी वे विरोधी थे।

भगवान् बुद्ध सुत्तनिपात के पराभवसुत में इस प्रकार कहते हैं— "जो नर जाति, धन और गोत्र का गर्व करता है और जो अपने बन्धुओं का अपमान करता है वह अपनी अवनति का करण बनता है।"[2] इस उद्धरण से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि गोत्र जाति एवं धन पर मनुष्य को गर्व नहीं करना चाहिये।

सुत्तनिपात में ही उन्होंने यह कहा कि न कोई जाति से वृषल होता है न कोई जाति से ब्राह्मण। मनुष्य कर्म से वृषल होता है और कर्म से ही ब्राह्मण।[3]

इसी सम्बन्ध में उन्होंने सोपाक नामक चाण्डालपुत्र मातङ्ग का उल्लेख किया है और उसके यशस्वी कर्मों का वर्णन करते हुये यह बताया है कि उसके बहुत से शिष्य क्षत्रिय तथा ब्राह्मण थे। वह काम और राग का दमन कर शुद्ध महापथ में दिव्य यान पर आरूढ़ (सवार) होकर ब्रह्मलोक गया।[4] उनका यह दृष्टिकोण है कि जाति के कारण उसे ब्रह्मलोक में जाने से नहीं रोका गया। इसी सम्बन्ध में उन्होंने एक अन्य उदाहरण दिया है कि धनुर्विद्या, बल और वीर्य जिस युवक में है उसी को राजा युद्ध के लिये नियुक्त करता है, जाति के कारण नहीं।[5] उनके विचारों से जाति, वर्ण आदि का कोई महत्त्व नहीं है, वे मानवमात्र की एक ही जाति मानते थे। उन्होंने प्राणिमात्र के प्रति असीम प्रेमभाव बढ़ाने के लिये अथक प्रयास किया। उनका कहना था कि—

"माता यथा नियं पुत्तं आयुसा एकपुत्तमनुरक्खे।"
एवं पि सब्बभूतेसु, मानसं भावये अपरिमाणं।[6]

(जिस प्रकार माता अपनी जान की अपेक्षा (परवाह) न कर अपने इकलौते पुत्र की रक्षा करती है उसी प्रकार हमें सभी प्राणिमात्र की रक्षा करनी चाहिये।) उन्होंने धन-संग्रह से ज्यादा दान देने पर बल दिया था। उन्होंने माघ माणवक से कहा है— "माणवक! जो धर्म से धन लाभकर, धर्म से धन प्राप्त कर एक को भी देता है, दो को भी देता है....सौ को भी देता है बहुतों को भी देता है वह बहुत पुण्य कमाता है।"[7] इस उद्धरण से यह परिलक्षित होता है कि भगवान् बुद्ध धर्म से धनसंग्रह को ही महत्त्व देते हैं और दान देने के लिये लोगों को प्रोत्साहित भी करते हैं।

संयुत्तनिकाय के साधुसुत्त में बुद्ध द्वारा दान की महत्ता का प्रतिपादन किया गया। इस सुत्त में देवताओं द्वारा कहा जाता है कि—

१. *मज्झिमनिकाय, पृष्ठ ४०५।*
२. *सुत्तनिपात, पराभव सुत्त, गाथा १४, पृष्ठ २३।*
३. *सुत्तनिपात, वसलसुत्त, पृष्ठ २७, २१।*
४. *सुत्तनिपात, वसलसुत्त, पृष्ठ २८-२९।*
५. *संयुत्तनिकाय, तीसरा परिच्छेद, तृतीय वर्ग, पृष्ठ ८६।*
६. *सुत्तनिपात, मेत्तसुत्त, पृष्ठ ३१।*
७. *सुत्तनिपात, माधसुत्त, पृष्ठ ९९।*

"भगवन्! दान कर्म बहुत उत्तम है।.....

धर्म से कमाये गये का भी दान उत्तम है"।[1]

देवताओं के इस कथन को भगवान् द्वारा समर्थन प्राप्त होता है।

वे समाज में धन का उपयोग दान देने में मानते हैं। धन मनुष्य के लिये मुख्य नहीं, अपितु उसका उचित उपयोग ही मुख्य है। कंजूसी करने वाला सदैव भयभीत रहता है वह जीवन में सफल नहीं होता।[2]

उपसंहार– उपर्युक्त विस्तृत विवेचन से स्पष्ट है कि गौतम बुद्ध के समय में भारतीय समाज विभिन्न वर्णों और जातियों में विभक्त था, जिनमें ब्राह्मणों का वर्ण सर्वश्रेष्ठ माना जाता था। ब्राह्मणों को इस बात का बहुत अभिमान था कि वे श्रेष्ठ वर्ण में उत्पन्न हुए हैं, इस कारण वे अन्य वर्णों के लोगों को हेय समझते थे। इसी प्रकार शूद्र वर्ण के लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्णों द्वारा हेय दृष्टि से देखे जाते थे। किन्तु वर्ण–सम्बद्ध यह मान्यता सनातन नहीं थी। गौतम बुद्ध ने स्वयं स्पष्ट किया था कि वर्णों का आधार कर्म है, जन्म नहीं ! अर्थात् ब्राह्मण कुल में जन्म लेने से कोई ब्राह्मण नहीं हो जाता, अपितु वह जिस प्रकार का कर्म करेगा उसका वही वर्ण माना जायगा।

गौतम बुद्ध की यह धारणा वस्तुतः वैदिककालीन धारणा थी। वैदिकयुगीन भारतीय समाज कर्मों के अनुसार वर्णों में विभक्त था। ब्राह्मणों का कर्म आध्यात्मिक साधना तथा ज्ञान का प्रसार करना था। क्षत्रिय का कार्य पौरुषसम्पन्न होकर शत्रुओं से युद्ध करना, समाज का संरक्षण तथा शासन करना था। वैश्य का कार्य वाणिज्य द्वारा धनोपार्जन करना एवं दान करना था। शूद्र का कर्म शारीरिक श्रम द्वारा उत्पादन करना एवं सेवा कार्य का करना था। किन्तु ये सभी कर्म वैकल्पिक थे। कोई व्यक्ति जन्म से ही विशेष वर्ण का नहीं हो जाता था। जो जिस वर्ण का कर्म करता था उसी वर्ण में उसकी गणना की जाती थी। इन वर्णों के अन्तर्गत अनेक व्यवसाय प्रचलित थे जिनके कारण पृथक् पृथक् जातियों का विभाजन हो गया। ये जातियां भी जन्मना नहीं थी।

किन्तु यह स्थिति कालान्तर में परिवर्तित होती ही गयी। गौतम बुद्ध के समय तक वर्ण एवं जाति सम्बन्धी मान्यता में आमूल परिवर्तन हो गया। अब वर्ण एवं जाति को जन्मना माने जाने लगा था, इस कारण सामाजिक विघटन का विकृत रूप दिखायी पड़ने लगा। गौतम बुद्ध को इन्हीं विघटनकारी शक्तियों का विरोध करना पड़ा। ब्राह्मणों की 'जन्मना श्रेष्ठता' की अवधारणा नष्ट करने के लिये गौतम बुद्ध ने सतत प्रयास किया। उन्होंने 'ब्राह्मण' की वास्तविक परिभाषा बताते हुए ब्राह्मणों के मिथ्या भ्रम को दूर करने का भी प्रयास किया।

भगवान् द्वारा क्षत्रिय की श्रेष्ठता मानने का कारण–

यही नहीं, उन्होंने विभिन्न वर्णों की परिगणना करते समय पहला स्थान क्षत्रिय को दिया। इसका कारण यह था कि गौतम बुद्ध के समय में ब्रह्मज्ञान की विद्या ब्राह्मणों के हाथ से निकल कर क्षत्रियों के हाथ में आ गयी थी। इस काल में क्षत्रिय शासन के साथ–साथ समाज के संरक्षण का भी काम करता था। वह याज्ञिक कर्मकाण्डों के स्थान पर शुद्ध चिन्तनमूलक ब्रह्मज्ञान का उपदेशक बन गया था। फलतः गौतम बुद्ध ने समाज में क्षत्रिय वर्ण को प्रथम स्थान दिया है। उन्होंने अनेक स्थलों पर विभिन्न वर्णों के कर्मों का

---

१. संयुत्तनिकाय, साधुसुत्त, पृष्ठ २२।

२. संयुत्तनिकाय, मच्छरीसुत्त, पृष्ठ २०।

निरूपण करते हुए उन्होंने अपने समकालीन समाज की वर्ण एवं जाति व्यवस्था के प्रति गहरा असन्तोष व्यक्त किया है।

उनके जीवनव्यापी समाज–सुधारसम्बन्धी आन्दोलन का यह परिणाम हुआ था कि ब्राह्मणों द्वारा स्थापित इस कृत्रिम वर्णव्यवस्था की नींव हिल गयी। गौतम बुद्ध ने अपने सङ्घ में सभी वर्णों और जातियों के लोगों को सम्मिलित किया। सङ्घ के नियमों के अनुसार सङ्घ के सभी सदस्यों को समान अधिकार प्राप्त थे। बुद्ध के उपदेशों के प्रभाव से अनेक विद्वान् ब्राह्मण भी न केवल सङ्घ में सम्मिलित हुए, अपितु उनके निकटतम अन्तेवासी शिष्य बन गये। ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य वर्णों एवं जातियों के लोग सङ्घ में दीक्षित होते थे, जिसका प्रमाण अङ्गुत्तरनिकाय में है।

गौतम बुद्ध अपने सङ्घ के साथ जिस मार्ग से यात्रा करते थे उस मार्ग पर पड़ने वाले जनपदों, नगरों और ग्रामों के मनुष्य एकत्र होकर उनका उपदेश सुनते थे तथा उनसे उनके धर्म में सामूहिक रूप से प्रव्रज्या ग्रहण करते थे। इनमें सभी वर्णों के लोग हुआ करते थे। लगभग आधी शताब्दी तक गौतम बुद्ध का यह आन्दोलन अनवरत क्रम से चलता रहा। उनके महापरिनिब्बान के बाद तो बौद्ध धर्म और भी तीव्र गति से विकास करने लगा और यह अशोक का शासनकाल आते आते समस्त भारत का प्रधान धर्म बन गया। इसका परिणाम यह हुआ कि वर्ण–व्यवस्था का स्वरूप पूर्णतः उलझा हुआ और अस्पष्ट ही बना रहा।

यद्यपि वर्णव्यवस्था बौद्ध धर्म के व्यापक प्रभाव के बाद भी पूर्णतः समाप्त नहीं हो सकी, किन्तु उसका वह कठोर रूप, जो गौतम बुद्ध के पहले था, बाद में नहीं रह गया। बौद्ध प्रभाव के कारण ही यूनानी, शक, हूण आदि विदेशी जातियों के लोग भारतीय समाज में अन्तर्भूत होकर किसी न किसी वर्ण में सम्मिलित हो गये। इस तरह हमें मानना पड़ता है कि गौतम बुद्ध की मान्यताओं का भी वर्णव्यवस्था पर व्यापक प्रभाव पड़ा है।

चतुर्थ अध्याय

बौद्ध साहित्य में नारी की सामाजिक स्थिति

बौद्ध साहित्य में नारी की सामाजिक स्थिति
पूर्ववर्ती भारतीय समाज में पारिवारिक जीवन
बौद्ध साहित्य में नारी का शैक्षणिक एवं धार्मिक जीवन
दासी एवं गणिका
नर–नारी समता
भगवान् बुद्ध के विचारों का नारी पर प्रभाव

चतुर्थ अध्याय

बौद्ध साहित्य में नारी की सामाजिक स्थिति

बौद्ध साहित्य में चित्रित समाज में नारी

बौद्ध साहित्य में नारी की स्थिति का जो चित्रण हुआ है वह मुख्यतः ५०० ई०पू० से लेकर ५०० ई० की कालावधि का है। लगभग १००० वर्षों की इस लम्बी अवधि में भारतीय समाज में स्थिति में न जाने कितने परिवर्तन (उलट–फेर) हुए। इसी अवधि में यवनों का आक्रमण हुआ और वक्षु (वैक्ट्रीया) से लेकर कश्मीर और उत्तरी पञाब तक सैंकड़ों वर्षों तक उनका शासन बना रहा। यवनों ने अपनी यूनानी सभ्यता का प्रभाव भारतीय समाज पर डाला। तदनन्तर शकों, हूणों, पह्लवों, कुषाणों के आक्रमण हुए। इनमें से शकों और कुषाणों ने कतिपय शताब्दियों (कई सौ वर्षों) तक भारत पर राज्य किया। उन्होंने भी अपनी परम्परागत सामाजिक मान्यताओं से भारतीय समाज को प्रभावित किया। हूण जाति के लोग अधिक बर्बर थे और उनके अत्याचारों के कारण भारत में नारियों को छिपाकर रखने की प्रक्रिया थी। सम्भवतः पहली शताब्दी से पाँचवी शताब्दी के बीच हिन्दू गृह्यसूत्रों और धर्मशास्त्रों का निर्माण हुआ जिनमें विदेशी जातियों से रक्त–मिश्रण न होने देने के लिये विवाह और कन्यादान–सम्बन्धी अनेक प्रतिबन्ध लगाये गये। इन सामान्य सामाजिक परिवर्तनों की पृष्ठभूमि में बौद्ध साहित्य में नारी की स्थिति मे विषय में विचार करना समीचीन होगा।

बौद्ध साहित्य में नारी की स्थिति को पूर्णतः हृदयङ्गम करने के लिये इस विषय को निम्नलिखित वर्गों में विभक्त कर विचार करना होगा–

(१) पारिवारिक जीवन, (२) शैक्षणिक एवं धार्मिक जीवन,
(३) दासी–गणिका जीवन, (४) नर–नारी समता।

पूर्ववर्ती भारतीय समाज में पारिवारिक जीवन

बौद्ध साहित्य में जिस समाज का चित्रण किया गया है वह पूर्ववर्ती भारतीय समाज का एक विकसित रूप था। बौद्धकाल से हजारों वर्ष पूर्व वैदिक कालीन समाज में नारियों की स्थिति का ज्ञान हमें वैदिक संहिताओं, ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषदों से मिल जाता है। वैदिक समाज में स्त्री–पुरुष का सामाजिक स्तर समान था। स्त्रियाँ पुरुष के समान ही परिवार की स्वामिनी थी। विवाह की प्रथा प्रचलित थी और विवाह के बाद स्त्री पति के घर जाकर उसके परिवार का सदस्य बन जाती थी। उस काल में जनसङ्ख्या कम थी, इस कारण विवाह का प्रमुख लक्ष्य सन्तानोत्पत्ति करना ही था। ऋग्वेद के सूक्तकार ऋषियों ने अपने इष्ट देवता से आयु और धन के साथ सदैव सन्तान की भी कामना की है।[1] उस काल में नारी का आदर्श रूप यह माना जाता था कि वह विवाह करके अपने श्वसुर के घर जाकर साम्राज्ञी बने तथा पुत्रोत्पत्ति करे। ऋग्वेद के दशम मण्डल के सूर्याविवाह के

१. ऋग्वेद ५/२४/४।

सूक्त में विवाह के समय पुरोहित सूर्या को आशीर्वाद देते हुए कहता है– ''इन्द्र प्रसन्न होकर तुम्हें सुन्दर पुत्रों वाली सौभाग्यशालिनी बनाये, वह दस पुत्रों के जन्म दें तथा प्रतिव्रता हो। वह श्वसुरगृह में साम्राज्ञी बने।''[1]

वैदिक काल में नारी– वैदिक काल में नारी अपने पतिगृह में पति की समानाधिकारिणी होती थी। यह यज्ञमण्डप में पति की अर्धाङ्गिनी के रूप में उसके साथ यजमान के आसन पर बैठती थी और पुरोहित अपने मन्त्रों में दोनों की मङ्गल–कामना करता हुआ आशीर्वाद देता था।[2] मनु वैवस्वत के एक सूक्त में यजमानदम्पत्ति को उसी प्रकार आशीर्वाद दिया गया है।[3] एक अन्य सूक्त में, जिसके रचयिता पराशर शाक्त्य है, यज्ञ में पति–पत्नी को यजमान के रूप में साथ–साथ बैठने और दोनों की मङ्गलकामना की स्तुति की गयी है।

वैदिक काल में वर्णव्यवस्था कठोर रूप में प्रचलित नहीं थी। तपस्या करने वाले ऋषि एवं यज्ञानुष्ठान करने वाले ब्राह्मण समाज में सर्वश्रेष्ठ माने जाते थे। उनकी श्रेष्ठता के कारण सभी वर्णों के लोग उनसे अपनी पुत्रियों को विवाह करते थे। कभी कभी कन्याओं का विवाह नहीं हो पाता था। ऋग्वेद के एक सूक्त की रचयित्री काक्षीवती घोषा ऐसी ही अविवाहिता कन्या थी जिसने योग्य वर से अपने विवाह के लिये अश्विनीकुमारों से प्रार्थना की है।[4] इससे यह भी ज्ञात होता है कि उस काल में कन्याएँ पूर्णतः शिक्षित एवं स्वेच्छया विवाह की कामना करने वाली होती थीं। उसी सूक्त से यह भी ज्ञात होता है कि वैदिककालीन नारियों का आदर्श यह था कि उनका गृहस्थ जीवन सुखी हो, उनके पति उनसे स्नेह करें तथा वे स्वस्थ एवं बलवान् हों।[5]

उत्तर वैदिक काल में उपनिषदों की रचना हुई। इस काल में स्त्रियों का ज्ञान के क्षेत्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान था। इस काल में ब्रह्मज्ञानी, ऋषियों के समान ब्रह्मवेत्ता नारियाँ भी होती थी। जावाला, गार्गी आदि ऐसी ही स्त्रियाँ थीं। गार्गी अपने पति के साथ मिलकर (आध्यात्मिक) ज्ञान–गोष्ठियों में भाग लेती थी। इस काल में ब्रह्मज्ञानियों का इतना महत्त्व था कि राजा, महाराजा अपनी कन्याओं का विवाह ऋषियों से कर देते थे।

उत्तर वैदिक काल में समाज का विस्तार इतना अधिक हो गया था कि अब उसको कुछ गोत्रों, कुलों की सीमा में बद्ध रखना सम्भव नहीं था। इस काल में जनपदों और नगरों का विकास हुआ, जिनमें परिवारों की व्यवस्था सुदृढ़ हो गयी थी। परिवार में

---

१. *इमां त्वामिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु।*
दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेतादृशं कृधि।
सम्राज्ञी श्वसुरे भव सम्राज्ञीं श्वश्र्वांभव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधिदेवेषु।
ऋग्वेद १०/८५/४५–४६।

२. *अग्ने चिकिद्ध्य स्य न इदं वचः सहस्य।*
तं त्वां सुशिप्रं दंपते स्तोमैवर्धन्त्यत्र यो गीर्भिः शुम्भन्त्यत्रयः।।
–ऋग्वेद ५/२२/४

३. *संजानाना उप सीदन्नभिज्ञ पत्नीवन्तो नमस्यं नमस्यन्।*
रिरिक्वांसस्तन्वः कृण्वतस्वाः सखा सख्युनिर्मिषि रक्षमाणाः।।
–ऋग्वेद १/७२/५

४. ऋग्वेद १०/४०।

५. ऋग्वेद १०/४०, १२/१३/१४।

स्त्रियों का स्थान उत्तरोत्तर गृह–कार्यों तक ही सीमित होता गया। अब वे सामाजिक दृष्टि से पुरुष के समान अधिकार वाली नहीं रह गयीं। उनका कार्य केवल सन्तानोत्पत्ति करना और गृहस्थी सम्भालना ही रह गया। इस तरह बौद्ध युग के प्रारम्भ के ठीक पूर्व तक के समाज में नारी का स्थान वैदिक काल की तुलना में पर्याप्त निम्नस्तरीय हो चुका था। वह पुरुष की अर्द्धाङ्गिनी होते हुए भी उसके समान अधिकारों वाली नहीं रह गयी थी। निष्कर्षतः उत्तर वैदिक काल के अन्तिम चरण में नारी पुरुष की इच्छाओं की पूर्ति का साधनमात्र रह गयी थी। उसका स्थान स्वामिनी का न रहकर सेविका का हो गया।

बौद्ध साहित्य में नारी का पारिवारिक जीवन

बौद्ध काल में नारी– बौद्ध साहित्य में नारी के पारिवारिक जीवन का जो रूप चित्रित हुआ है वह उत्तर वैदिक काल जैसा ही है। यहाँ बौद्ध साहित्य के आधार पर नारी के पारिवारिक जीवन का अध्ययन किया जायगा। बौद्ध साहित्य में परिवार का जो स्वरूप प्राप्त होता है उसे हम 'संयुक्त परिवार' कह सकते हैं।[1] जिसमें कई सदस्य होते थे। सदस्यों में प्रमुख रूप से पति–पत्नी, स्त्री–पुरुष, पुत्र–पुत्री, भाई–बहन, भाँजा, मौसी, माता–पिता, पौत्र, पुत्र–वधू आदि परिवार के अन्तर्गत आते हैं। स्त्रियों का परिवार में महत्त्वपूर्ण योगदान समझा जाता था। इसके सम्बन्ध में एक बार कुछ देवियों (अप्सराओं) के नृत्य पर मुग्ध न होकर आर्य अनुरुद्ध ने भगवान् बुद्ध से पूछा– "भन्ते! किसी स्त्री में कौन कौन से गुण होने से वह शरीर छूटने पर मरने के अनन्तर मनापकायी देवियों की सङ्गति में उत्पन्न होती है।"....

"अनुरुद्ध! अपना कल्याण चाहने वाले, अपना हित चाहने वाले, स्वयं पर दया करने वाले, माता–पिता दया करके नारी को जिस किसी स्वामी को सौंप दें, वह उससे पहले सोकर उठने वाली होती है, उसके बाद सोने जाने वाली होती है, आज्ञाकारिणी होती है, अनुकूल व्यवहार करने वाली होती है तथा प्रियभाषिणी होती है।"

"जो पति के गौरवभाजन होते हैं, जैसे– माता–पिता या श्रमण–ब्राह्मण, वह उनका आदर करती है। सत्कार करती है, गौरव करती है, मानती है, पूजती है और अतिथियों का आसन तथा जल से सत्कार करती है।"

"जो स्वामी के आभ्यन्तर कार्य होते हैं, चाहे ऊन का काम हो, चाहे कपास का काम हो, उनमें वह दक्ष होती है, आलस्यरहित होती है। उनके विषय में उपायकुशल होती है। उन्हें करने कराने में समर्थ होती है।"

"जो स्वामी के घर के आदमी होते हैं–दास, नौकर, चाकर; उनके कृत्य, अकृत्य जानने वाली होती है, रोगियों का बलाबल जाने वाली होती है तथा उन्हें जो कुछ खाना–पीना देना होता है उसे यथायोग्य बाँट कर देती है।"

"जो कुछ धन–धान्य या सोना स्वामी कमा कर लाता है उसे सुरक्षित रखती है, उसको लेकर धूर्त (धोखा देने वाली) नहीं होती, चोरी करने वाली, शराब पीने वाली या उसे नष्ट करने वाली नहीं हाती।"[2]

पति–पत्नी के सम्बन्ध–उपर्युक्त उद्धरण में पति–पत्नी के सम्बन्धों का, विशेष रूप से पत्नी के कार्यों का, जो भगवान् बुद्ध द्वारा विशद विवेचन किया गया है उसमें

१. जातक, भाग–२, पृष्ठ ३२१–४०, ३, १५०–८०।
२. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग–३ आठवाँ निपात, पृष्ठ ३३७–३८।

नारियों की भूमिका तथा परिवार के सम्बन्ध में स्पष्ट है कि नारियाँ स्वामी के प्रति निष्ठावाली होती थी। उसके कार्यों में भाग लेती थी। तत्कालीन समाज में स्त्रियाँ अपने पति के सुख में अपना सुख समझती थीं। पति को प्रसन्न रखने के लिये भरपूर प्रयास करती थीं। पति के द्वारा अर्जित किये हुये धन का उचित उपयोग करती थीं जिससे परिवार की मर्यादा बढ़े। साथ ही साथ यह भी ज्ञात होता है कि स्त्रियाँ परिवार के सुख एवं समृद्धि के लिये निरन्तर तत्पर रहती थीं।

परिवार में इनका स्थान सम्मानजनक था। इनका पारिवारिक जीवन सुखमय था; क्योंकि इनकी इच्छाओं पर ही परिवार के कार्य सम्पादित होते थे।[1]....

पारिवारिक जीवन में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का स्थान कम महत्त्वपूर्ण नहीं था। भगवान् बुद्ध भिक्षुओं को उपदेश देते हुए कहते हैं– ''भिक्षुओ! जिन कुलों में, घरों में माता–पिता का आदर होता है वे सब्रह्मकुल हैं। जिन कुलों में या घरों में माता–पिता का आदर होता है वे सपूर्वाचार्य कुल हैं।....

सन्तान के लिये माता–पिता ही ब्रह्मा हैं, माता–पिता ही पूर्वाचार्य हैं, माता–पिता ही पूज्य हैं।[2]....

इससे स्पष्ट है कि परिवार में माता का स्थान ऊँचा था तथा उनकी सेवा करना समाज में उच्च कार्य समझा जाता था। पारिवारिक जीवन में स्त्रियों का जो स्थान था वह उनके सामान्य जीवन में भिन्न था। एक बार कौशाम्बी में भगवान् बुद्ध के विहार (साधना) करते समय आनन्द ने उनसे पूछा–

''भन्ते! इसका क्या हेतु है, इसका क्या कारण है कि स्त्रियाँ न सभा में बैठती हैं, न खेती आदि का कोई कार्य करती हैं और न व्यापार आदि के लिये काम्बोज जाती हैं?''[3] इस उद्धरण से यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में नारियों का कार्य परिवार तक ही सीमित रह गया था। अब वे सभाओं में नहीं बैठती थी, खेती आदि के कार्य से विरत रहती थी, व्यापार आदि का कार्य भी इनके लिये वर्जित हो गया था। स्त्रियों का जीवन स्वच्छन्द न होकर परिवार तक ही सीमित रह गया था।''

कन्या का जन्म– परिवार में लड़कियों का जन्म हेय नहीं माना जाता था। कन्या के उत्पन्न होने पर भी आनन्द के साथ सम्पूर्ण संस्कार किये जाते थे।[4] इनके विवाह के सम्बन्ध में भगवान् बुद्ध मेण्डक नाति उग्ग के पूछने पर कुमारियों को उपदेश देते हैं– ''तुम पति की सेवा करो, उसके कार्यों में हाथ बटाओं, आये हुये अतिथियों का सत्कार करो एवं सुरा आदि पीने वाली न बनो।''[5] इस तरह से यह ज्ञात होता है कि परिवार में विवाह के पूर्व कन्याओं को समुचित उपदेश देकर उनके विवाह–संस्कार सम्पन्न होते थे।

परिवार में माता–पिता पाँच बातों का ध्यान रखकर इस बात की इच्छा करते थे कि उनके परिवार में पुत्र उत्पन्न हो। इस सम्बन्ध में भगवान् बुद्ध भिक्षुओं को उपदेश देते हुये कहते हैं–''पण्डित जन पाँच बातों का ध्यान रखकर पुत्रोत्पत्ति की इच्छा करते हैं– १. पोषित होकर हमारा पोषण करेगा, २. हमारा दैनिक कामकाज करेगा, ३. कुल–

१. महावग्ग, पृष्ठ २८९।
२. अंगुत्तरनिकाय, तीसरा निपात, पृष्ठ १३४।
३. अंगुत्तरनिकाय भाग–२, पृष्ठ ८३।
४. माकन्दिकावदान, पृष्ठ ४४६।
५. अंगुत्तरनिकाय, भाग–२, पृष्ठ २६५–६६।

परम्परा चिरस्थायी होगी, ४. उत्तराधिकारी होगा तथा ५. हमारे मरने पर दक्षिणा देगा। इन्हीं बातों का विचार कर माता-पिता पुत्रों की इच्छा करते हैं।''[1] इससे यह भी परिलक्षित होता है कि विवाह का उद्देश्य मुख्य रूप से यही था।

परिवार में ज्येष्ठ भ्राता, अपनी बहनों का भरण-पोषण एवं संरक्षण पिता के सदृश ही करता था। पिता के न रहने पर कन्या को भी अपने बड़े भाई के संरक्षण में विवाहपर्यन्त जीवन-यापन करने का अधिकार था।[2] पैतृक सम्पत्ति पर पुत्री को कोई अधिकार प्रदत्त नहीं था। इसका उल्लेख दीघनिकाय की एक कहानी में स्पष्ट रूप से हुआ है।[3]

स्त्रियों का पारिवारिक जीवन— तत्कालीन समाज में स्त्रियों का पारिवारिक जीवन महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था। वे परिवार में रहकर पशुओं का भरण-पोषण पुत्रवत् करती थीं।[4] आये हुये अतिथियों का स्वागत स्त्रियाँ स्वयं करती थी और परिवार में आये हुये अतिथियों, मित्रों के पैर भी धोती थीं।[5] इसे परिवार की महत्ता एवं श्रेष्ठता स्पष्ट होती है। इनका योगदान परिवार के प्रत्येक कार्य में रहता था। स्त्री पति के साथ परिवार के कार्यों में हाथ बटाती थीं। वह पति के साथ कर्ज आदि लेने भी जाया करती थी।[6] गृहस्थी के कर्म में दक्ष हुआ करती थी। पति के साथ प्रेम का व्यवहार करती थीं।[7] स्त्रियां पति से परिहास भी किया करती थीं।[8] इस तरह पारिवारिक जीवन सुखमय एवं प्रमोदजनक था।

''एक बार तथागत बौद्ध भिक्षुओं के साथ अनाथपिण्डक के घर जाकर बैठे। महाश्रेष्ठी भी धर्म सुनता हुआ भगवान् के पास बैठा था। उसी समय सुजाता दास कर्म-करों के साथ झगड़ रही थी। शास्ता ने धर्म-कथा रोकर पूछा—''यह कैसा शब्द है?'' ''भन्ते! यह मेरी कुलवधू है, गौरवरहित है, सास-ससुर और स्वामी के प्रति इसका कोई कर्त्तव्य नहीं, दिन रात कलह करती रहती है।''

''तो उसे यहाँ बुलाओ।''

(भगवान् ने सुजाता को समझाया—) ''सुजाता! पुरुष की सात प्रकार की भार्या होती हैं, उन सातों में तुम कौन सी हो?

१. ''बन्धक भार्या— जो क्रोधी, अहित करने वाली, दूसरों को चाहने वाली और पति की अवहेलना करने वाली, जो धन से खरीदे गये (दास-दासी) हैं उनको मारने के लिये उत्सुक होती है।''

२. ''चौर भार्या— जो स्त्री के लिये स्वामी जिस धन के कमाता है चाहे शिल्प से, चाहे वाणिज्य से, चाहे कृषि से, यदि वह उसमें से थोड़ा भी चुराने की इच्छा करती है तो वह चौर भार्या कहलाती है।''

३. ''आर्या भार्या उसे कहते हैं जो काम न करने वाली, आलसी, अधिक खाने

---

१. अंगुत्तरनिकाय, भाग-२, पृष्ठ २७२।

२. दीघनिकाय २/२४६।

३. एवं वुत्ते, सा ब्राह्मणी तं माणवकं एतदवोच— 'आगमेहि ताव, तात, याव विजायामि, सचे कुमारको भविस्सति तस्सपि एकदेसो भविस्सति, सचे कुमारिका भविस्सति सापि ते आयभोग्गा भविस्सति।''— दी०नि०।

४. जातक भाग-३, कुण्डककुच्छिसिन्धवजातक २५४, पृष्ठ १८-१९।

५. जातक भाग-३, गामणीचण्डजातक २५७, पृष्ठ २९-३०।

६. जातक भाग-३, पृष्ठ ६९।

७. जातक भाग-२, पृष्ठ ३८। *८. वही, पृष्ठ २९८।*

वाली, कठोर, चण्ड स्वभाव वाली, कटु बोलने वाली, सेवकों को दबाकर रखने वाली होती है।''

४. ''*माता भार्या* उसे कहते हैं जो सर्वदा हित और अनुकम्पा करने वाली जैसे माता पुत्र की रक्षा करती है वैसे ही जो पति की रक्षा करती है उसके कमाये धन की रक्षा करती है।''

५. ''*सङ्गिनी भार्या* उसे कहते हैं जैसे छोटी बहन बड़ी बहन के प्रति गौरव सहित रहती है उसी तरह जो पति के प्रति गौरवशीला है, लज्जाशीला है और पति के वश में रहने वाली है।''

६. ''*सखी भार्या* उसे कहते हैं जो पति को देखकर इस प्रकार प्रसन्न होती है जैसे चिरकाल के बाद आये सखा को देखकर सखी प्रसन्न होती है; और जो कुलीन, शीलवती एवं पतिव्रता है।''

७. *दासी भार्या* उसे कहते हैं जो क्रोध आने पर शान्त रहती है, मार और दण्ड से दबी रहने वाली होती है, अच्छे चित्त वाली होती है, पति को सहने वाली होती है, क्रोध नहीं करती। पति के वश में रहती है।[१]''

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि परिवार में नारियों की सात श्रेणियां थी जिनमें से प्रथम तीन निकृष्ट एवं अन्य चार उत्कृष्ट थीं। इसे यह भी ज्ञात होता है कि परिवार को बनाने में इनका जितना योगदान था, उतना ही नष्ट करने में भी था। साथ ही वे पराधीन भी हो गयी थीं; क्योंकि प्राचीन काल से चली आ रही इनकी स्वतन्त्रता ने इनको कलही बना दिया था। बौद्ध साहित्य में कहीं-कहीं (बौद्ध आगमों में) पति पर पत्नी के प्रभुत्व की भी चर्चा है। जो पत्नी रूप, भोग, ज्ञाति, पुत्र एवं शील बल से युक्त होती थी अपने पति पर शान्त करती थी।[२] तरुण पत्नी अपने वृद्ध पति पर प्रभुत्व करती थी। राजा ओक्काक ने अपनी तरुण पत्नी के कहने से प्रथम पत्नी के पुत्र-पुत्रियों को घर से निकाल दिया था।[३] उसी प्रकार एक वृद्ध पति को तरुण पत्नी के कहने से अनिच्छापूर्वक उसका कार्य करने के लिये विवश होना पड़ा था।[४] बौद्ध आगमों में यह मिलता है कि उस समय पति पर पत्नी का प्रभुत्व होना पूर्व जन्म का फल बताया गया है।[५]

जातकों में जैसे अण्डभूतजातक, कोसियजातक, गहपतिजातक, गामिणीचन्द्रजातक आदि कई कथाएँ ऐसी मिलती हैं जिनमें बताया गया है कि किस प्रकार से व्यभिचारिणी पत्नियाँ अपने पति की अनुपस्थिति में अपने प्रेमियों से मिलती थीं। इसी प्रकार कई पतियों की कहानी भी प्राप्त होती है जो अपनी पत्नी की उपेक्षा कर दूसरी पत्नियों में अनुरक्त होते हुए व्यभिचार करते थे।[६] बौद्ध वाङ्मय में जहाँ स्त्री-पुरुष के चरित्रहीनता-सम्बन्धी अनेक उदाहरण दिये गये हैं वहीं इसके भी पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं कि दाम्पत्य जीवन प्रायः सुखमय था। पत्नी को पति का अन्तरङ्ग मित्र बताया गया है।[७] दाम्पत्य जीवन की सुदृढ़ता के लिये नारी का पतिव्रता रहना परम आवश्यक होता था। पति सबसे पहले अपनी पत्नी से यही उल्लेख करता था।[८] धनी गोप इसलिये अपनी पत्नी पर विश्वास करता

---

१. अङ्गुत्तरनिकाय भाग-३, पृष्ठ २०५-२०९; जातक भाग-३, सुजाता जातक, पृष्ठ ७२-७४।

२. संयुत्तनिकाय ३/२१९।

३. दीघनिकाय १/८०।

४. मज्झिमनिकाय २/५७-५८।

५. संयुक्तनिकाय ३/२२१।

६. जातक भाग-५, पृष्ठ ६१।

७. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग-२, पृष्ठ ६१।

८. वही, भाग-३, पृष्ठ १७।

था कि "मेरी ग्वालिन आज्ञाकारिणी तथा अलोला (संयतेन्द्रिय) है वह चिरकाल की प्रियसङ्गिनी है, उसके विषय में कोई पाप भी नहीं सुनता। अब हे देव! चाहो तो खूब बरसो।"[१] इसी प्रकार नन्दमाता अपने जीवन के विषय में कहती है कि "भन्ते! यही आश्चर्यमय एवं अद्भुत बात नहीं है; अपितु एक दूसरी भी आश्चर्यमय अद्भुत बात है। भन्ते! जब मेरा पति छोटा था और मैं भी छोटी थी तभी मैं अपने स्वामी के लिये लायी गयी। मैं नहीं जानती कि मन से भी मैंने कभी कदाचार किया हो। शरीर की तो बात ही नहीं।"[२]

सास–ससुर का अनुशासन– बौद्ध वाङ्मय में प्राप्त उद्धरणों से यह भी विदित होता है कि परिवार में स्त्रियों पर सास–ससुर का कठोर नियन्त्रण होता था। जब कोई कुलपुत्र प्रव्रज्या लेने की इच्छा व्यक्त करता था तो माता–पिता उसे रोकते थे, परन्तु पुत्रवधू के रूप में रहने वाली पत्नी से रोकने के लिये प्रयास नहीं कर पाती थी। पुत्रवधू प्रव्रज्या के लिये जाते समय पति से बात भी नहीं कर पाती थी। यदि प्रव्रजित कुलपुत्र संयोग से अपने पुराने घर के सामने से निकलता था एवं कुलदासी उसे देखती थी और उसे किसी प्रकार पहचान लेती थी तो यह समाचार पत्नी को न देकर माता या पिता को पहुँचाती थी तथा पिता कुलपुत्र को दूसरे दिन के भोजनहेतु आमन्त्रित करता था।[३] जब पुत्र भोजन करने दूसरे दिन का निमन्त्रण स्वीकार कर घर आता था तो कुलवधू सास के आदेशानुसार पति के प्रिय अलङ्कारों से अलंकृत रहती थी एवं श्वसुर के कहने पर अपने पति के चरणों को पकड़ कर उसे मनाने का अभिनय सा करती थी।[४] इस घटना से स्पष्ट है कि वधू स्वतः पति से कुछ कह सकने में असमर्थ थी और सास–ससुर की अनुमति के विना घर का कोई कार्य नहीं कर सकती थी।

एक प्रसङ्ग में यह आया है कि एक वधू ने किसी श्रमण को अपनी इच्छा से भिक्षा दे दी। यह बात सास को ज्ञात हुई तो उसने वधू को मूसल से मारा एवं वधू की मृत्यु हो गयी।[५] इसी प्रकार की घटना एक और है जिसमें पुत्रवधू ने सास के विना पूछे भिक्षु को इक्षुक (गन्ना) दे दिया। और उसकी सास ने वधू को ढेले से मारकर समाप्त कर दिया।[६] इससे ऐसा परिलक्षित होता है कि तत्कालीन समाज में सास–ससुर की अनुमति के विना वधू कोई भी कार्य नहीं कर सकती थी। अच्छे कार्य के लिये भी पुत्रवधू को सास–ससुर से पूछना आवश्यक था।

वे बन्धनों से मुक्त नहीं थी, किन्तु ऐसी घटनाओं का भी उल्लेख मिलता है जिसमें पुत्रवधू द्वारा सास–ससुर प्रताड़ित किये गये हैं। एक बार चार पुत्रों ने अपनी पत्नियों के कहने पर पिता को घर से निकाल दिया था। इसी प्रकार जातक में एक स्त्री कहती है– "जब तक मैं घर में थी मेरी वधू वन्ध्या थी और जब उसने मुझे घर से मारकर निकाल दिया तो उसे पुत्र उत्पन्न हुआ। इस समय वधू कुल की स्वामिनी बनी हुई है और मैं बाहर इधर–उधर अकेले मारी–मारी फिर रही हूँ"।[७] परन्तु यह प्रवृत्ति सामान्य नहीं थी। सास एवं श्वसुर को यातना देकर विशेष परिस्थितियों में ही बहुएँ घर का स्वामित्व ग्रहण करती थी। परिवार का कार्यभार विशेष रूप से सास एवं श्वसुर ही देखा करते थे।

१. सुत्तनिपात, धनियसुत्त ५/७।
२. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग–३, पृष्ठ १८७।
३. मज्झिमनिकाय, पृष्ठ २८७–८८; बुद्धचर्या, पृष्ठ २९३।
४. वही।
५. विमानवत्थु, पृष्ठ १, २९, २५२, २५३।
६. वही, पृष्ठ १, ४८, ३१३।
७. जातक, ४१७।

नारियों का वैधव्य– पति की मृत्यु के बाद वैधव्य जीवन कष्टकर हो जाता था। वे अपने जीवन–यापन के लिये पति की सम्पत्ति को अपनाती थीं या फिर पतिकुल के मुख्य पुरुष के संरक्षण में पर पुरुष को मुख्य रूप से ग्रहण करती थी। चन्दा नाम की एक भिक्षुणी, जिसका पति मर चुका था और वह गरीब परिवार की लड़की थी, अपनी दशा के विषय में कहती है–

"मैं पहले विधवा और निःसन्तान थी, अतः बहुत सङ्कट में पड़ी थी।
कोई मेरे मित्र नहीं थे, न मेरे कोई जाति वाले ही थे।
मैं भोजन और वस्त्र भी नहीं पाती थी।।
लकड़ी और भिक्षा के लिये मैं घर–घर भिक्षापात्र लिये फिरती थी।
गर्मी एवं सर्दी से व्याकुल हुई, मैं सात वर्ष इसी तरह घूमती थी रही।।"[1]

इससे स्पष्ट है कि उस समय विधवाओं का जीवन कितना कष्टकर था। उनके लिये भिक्षा माँगना एकमात्र आधार रह जाता था। कृशा गौतमी नामक थेरी अपनी वेदनाओं को अभिव्यक्ति करती हुई कहती हैं–

"हतभाग्या नारी! तेरे दो पुत्र कालकवलित हो गये!
मार्ग में तुमने मृत पति को देखा!
अपने माता, पिता और भाई को तुमने एक चिता में जलाये जाते देखा"।।

विधवा होना तत्कालीन समाज में अभिशाप था। नारी के लिये वैधव्य जीवन अभिशाप तो होता ही है, परन्तु तत्कालीन समाज में यह अवस्था उनके लिये और भी कष्टकर थी। बौद्ध आगमों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि तत्कालीन समाज में नारियों का सामाजिक जीवन दिन प्रतिदिन सङ्कुचित होता जा रहा था। इनकी पारिवारिक स्वतन्त्रता परतन्त्रता में परिणत हो रही थी। स्त्रियाँ परिवार में प्रत्येक कार्य पारिवारिक दृष्टि से कर सकती थी किन्तु समाज में इनका कोई विस्तृत अधिकार नहीं था। उनका जीवन पतिसेवा के साथ साथ सास–श्वसुर की सेवा आदि में व्यतीत होता था। उनका मुख्य उद्देश्य परिवार को सन्तुष्ट रखना और विशेष रूप से पति की इच्छाओं का पालन करना था। वे पति को प्रसन्न रखने का प्रबल प्रयास करती थीं। पति भी पत्नी की इच्छाओं के अनुरूप ही चलने का प्रयास करता एवं विश्वास करता था। पति–पत्नी का सम्बन्ध वैचारिक स्वतन्त्रता से दृढ़ नहीं, अपितु धार्मिक रूढ़ियों से नियन्त्रित होने लगा था। यों तो नारियों का वैधव्य सदा ही अभिशाप होता आया है; परन्तु उस काल में विशेष रूप से अभिशाप हो गया था। नारियों के सम्बन्ध में कृशा गौतमी जो उद्गार व्यक्त करती है वह इस प्रकार है–

"स्त्री होना दुःख है....
'(विद्वेषी) सपत्नियों के साथ एक घर में रहना दुःख है।
कोई कोई जनने वाली माताएँ एक बार में ही मृत्यु चाहती हुई
अपना गला काट लेती है।
ताकि पुनः यह दुःख न सहना पड़े, कुछ सुकमारियां विष भी खा लेती हैं।।[2]

इस उद्गार से ऐसा प्रतीत होता है कि नारियाँ अपने आप को स्वयं कष्ट का मूल

---

१. थेरीगाथा, ४९/१२२–२३, पृष्ठ ५०।
२. थेरीगाथा, ७८।

समझती थीं। उनमें सांसारिकता से दूर रहने की प्रवृत्ति हो गयी थी। वे पारिवारिक कलह, सन्तोनोत्पत्ति आदि भौतिक दु:खों से छुटकारा चाहती थी। वे अपने जीवन को व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध बनाना चाहती थी। इस प्रकार तत्कालीन समाज में स्त्रियों की स्थिति समीचीन ही थी।

इस कथन से यह स्पष्ट है कि तत्कालीन समाज में पुरुषों को बहुविवाह करने का अधिकार था। वे अपनी पत्नियों को एक ही घर में रखते थे जो परस्पर कलह किया करती थीं, जिससे उनका जीवन दु:खमय हो जाता था।

नारी का शैक्षणिक एवं धार्मिक जीवन

वैदिक युग में नारी शिक्षा– भारतीय समाज के प्रारम्भिक युग में नारियों का शैक्षणिक एवं धार्मिक जीवन कैसा था?–इसका ज्ञान भी हमें वेदों से ही प्राप्त होता है। वैदिक काल में शिक्षा का क्षेत्र मुख्यत: वैदिक मन्त्रों की रचना एवं उनके विनियोग तक ही सीमित था। अन्य विद्याओं की शिक्षा उस काल में वंशपरम्परागत रूप में प्राप्त होती थी। इस तरह रथकार, कृषक आदि वर्गों के लोग अपने बालकों को अपनी वंश– परम्परागत शिक्षा दिया करते थे। वैदिक मन्त्रों की शिक्षा यज्ञ–याग के लिये दी जाती थी। किन्तु वैदिक मन्त्रों की रचना स्वत:स्फुरित ज्ञान के रूप में होती थी। इसीलिये वैदिक ऋषियों की पुत्रियों और पत्नियां भी प्रातिभ ज्ञान के रूप में मन्त्रों की रचना करती थी। ऋग्वेद में ऐसे अनेक सूक्त है जिनकी रचना स्त्रियों ने की है।[1] काक्षीवती, घोषा, यमी, अपाला, सूर्या, सावित्री, शर्मा, श्रद्धाकामायनी, उर्वशी आदि ऐसी ही ऋषिकन्याएँ हैं जिन्होंने अपने प्रातिभ ज्ञान से ऋषित्व पद प्राप्त किया था।

वैदिक युग के बाद उत्तर वैदिक काल में भी नारियों का यह उन्नत शैक्षणिक स्वरूप वर्तमान रहा। उपनिषदों में जाबाली, गार्गी आदि नारियाँ ब्रह्मज्ञान में निष्णात थी और बड़े बड़े ऋषियों से शास्त्रार्थ करती थीं। उत्तर वैदिक काल के अन्तिम चरण महाभारत–काल में भी स्त्रियों की शिक्षा–दीक्षा का क्रम पूर्ववत् बना हुआ था। महाभारत में वर्णित नारियाँ पुरुषों की सहयोगिनी और सहकर्मिणी के रूप में दिखायी गयी हैं। बिना शैक्षणिक योग्यता के ऐसा करना सम्भव नहीं है। इस तरह वैदिक काल से लेकर बुद्ध युग से पूर्व तक स्त्रियों में शिक्षा और ज्ञान का प्रचार दिखायी पड़ता है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि ज्यों ज्यों वैदिक धर्म रूढ़ होता गया त्यों त्यों क्रमश: नारी के लिये शिक्षा का ह्रास होता गया। महाभारत काल में मन्त्रों की रचना करने वाली अथवा उपनिषदों के ब्रह्मज्ञान का उपदेश करने वाली नारियाँ नहीं दिखायी पड़तीं। नारीशिक्षा का यह ह्रास वैदिक काल में भी बढ़ता गया।

बौद्ध साहित्य में नारियों के शैक्षणिक एवं धार्मिक जीवन का जो चित्रण हुआ है उसके आधार पर यहाँ तत्कालीन नारियों के शैक्षणिक एवं धार्मिक जीवन सम्बन्धी वर्णन के विषय में विचार किया जायगा। इस काल में लड़कियों को पतिगृह में कैसे रहना चाहिये? किस तरह से पति–सेवा करनी चाहिये? उसके साथ किन कार्यों में भाग लेना चाहिये–आदि के सम्बन्ध में विवाह से पूर्व शिक्षा दी जाती थी। अङ्गुत्तरनिकाय में विवाह के पूर्व स्त्रियों की शिक्षा का एक प्रसङ्ग इस प्रकार आया है कि "जब भगवान् भोजन कर चुके और उन्होंने पात्र से अपना हाथ खींच लिया तो मेण्डक नातिउग्ग एक और बैठ गया। एक

१. ऋग्वेद १०/३९–४०।

ओर बैठे हुए मेण्डक नातिउग्ग ने भगवान् ने यह निवेदन किया–"भन्ते! मेरी ये लड़कियां पतिकुल जायँगी, भगवान् इन्हें उपदेश दें, भगवान् इनका अनुशासन करें। जो दीर्घकाल तक इनके हित तथा सुख का कारण हो।"[१] तदनन्तर भगवान् उपदेश देते हैं। इससे स्पष्ट है कि मेण्डक की पुत्रियों की शिक्षा कुछ भी नहीं थी। इनको इसी तरह से उपदेश देकर पतिगृह भेजा जाता था। कला आदि की समुचित शिक्षा जैसी पुरुषों को मिलती थी वैसी स्त्रियों को नहीं मिल पाती थी। स्त्रियों के भरण–पोषण को ही अधिक महत्त्व दिया जाता था। एवं कलाविहीन व्यक्ति घर बसाने के अयोग्य समझा जाता था।[२] नारियों को शिक्षा ग्रहण करने का अधिकार था। माकन्दिकावदान में नारियों के द्वारा रात्रि में बुद्ध के वचनों का पाठ किये जाने का उल्लेख मिलता है।[३]

स्त्रियों को सङ्गीत आदि ललित कलाओं की भी शिक्षा दी जाती थी। राजा रुद्रायन की पत्नी चन्द्रप्रभा प्रसिद्ध नृत्याङ्गना थी।[४]

बौद्ध काल में नारी-शिक्षा– बौद्ध विहारों[५] एवं मठों में भी अर्हत् एवं उपाध्याय तथा आचार्य शिक्षा देते रहते थे। अन्तःपुर को धर्मदेशना भिक्षुणियां करती थीं। राजा रुद्रायन के अन्तःपुर में बौद्ध भिक्षुणी शैला को भगवान् बुद्ध ने शिक्षा देने के लिये भेजा था।[६] शिक्षकों को आचार्य, उपाध्याय तथा गुरु कहते थे। इनमें उपाध्यायिकाएँ[७] भी होती थी। पद्मावती नामक उपाध्यायिका का उल्लेख किया गया है।[८] इससे यह परिलक्षित होता है कि उस युग में स्त्रियां भी अध्यापन कार्य करती थीं। इस तरह इस काल में कुछ स्त्रियाँ शिक्षित तथा विदुषी होती थीं।

थेरीगाथा की भिक्षुणी कवियित्रियों के काव्यमय हृदयोद्गारों से ज्ञात होता है कि वे कितनी ज्ञानपिपासु थीं। और ज्ञान के अन्वेषण एवं प्राप्ति में किस तरह तल्लीन रहा करती थीं।

चुल्लकालिङ्ग जातक में एक प्रसङ्ग है कि वैशाली में पाँच सौ वादों में पण्डित, निर्ग्रन्थ एवं दूसरी तरफ एक विदुषी निर्ग्रन्थ भी आ पहुँची। राजाओं ने दोनों का शास्त्रार्थ कराया। दोनों बराबर रहे। तब लिच्छवी राजाओं ने सोचा कि इन दोनों से उत्पन्न पुत्र मेधावी होगा। उन्होंने दोनों का विवाह कराकर एक जगह बसा दिया। दोनों के सहवास से क्रमशः चार लड़कियाँ, एक लड़का पैदा हुआ। उन पाँचों ने बड़ा होने पर १००० वाद सीख लिये। माता–पिता ने लड़कियों को यह शिक्षा दी कि कोई गृहस्थ शास्त्रार्थ में हरा दे तो उसकी चरणदासियाँ बन जाना और यदि कोई प्रव्रजित हरा दे तो उसके पास प्रव्रजित हो जाना। उनके मरने के पश्चात् बहनों ने जैन शाखा के शास्त्रार्थ के लिये नगर–नगर घूमना प्रारम्भ किया इस प्रकार अन्ततोगत्वा वे एक प्रव्रजित से पराजित हुईं और प्रव्रजिकाएँ बन गयीं।[९]

---

१. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग–२, पृष्ठ २६५।
२. दीघनिकाय, भाग–१, पृष्ठ ६३; मज्झिमनिकाय १, पृष्ठ ३३७।
३. माकन्दिकावदान ४५७।
४. रुद्रायणावदान, पृष्ठ ४७०।
५. दिव्यावदान ९६/१५, १७०/१३।
६. रुद्रायणावदान, पृष्ठ ४९६।
७. महावस्तु २/२२५/२; सौन्दरनन्द १८/२०।
८. अवदानशतक भाग–२/५१/७।
९. जातक भाग–२, चुल्लिकालिङ्ग, पृष्ठ १७२–७३।

इस प्रसङ्ग से स्पष्ट होता है कि उस समय स्त्रियाँ भी शास्त्रीय संवाद करती थी और उनकी शिक्षा–दीक्षा माता–पिता के ही संरक्षण में हुआ करती थीं। तत्कालीन समाज में पति पत्नी को छोड़ सकता था। इसलिये उनको कुशल गृहिणी बनने की भी शिक्षा विशेष रूप से दी जाती थी। थेरीगाथा में ऋषिदासी नामक एक भिक्षुणी का उद्‌गार इस प्रकार है–[1]

''मेरे पिता ने मेरा विवाह कर दिया....

अपने घर में प्राप्त शिक्षा के अनुसार मैं प्रतिदिन सायङ्काल और प्रातःकाल सास–श्वसुर को प्रणाम करती।

नतमस्तक होकर उनकी चरण–वन्दना करती।।.....

मेरा पति मेरा अपमान करने लगा.....

एतदनन्तर, मेरे पिता ने एक अन्य कुल वाले धनाढ्य पुरुष से मेरा विवाह कर दिया....''

उपर्युक्त भिक्षुणी के उद्गार से यह स्पष्ट होता है कि स्त्रियों को घर में ही शिक्षा–दीक्षा दी जाती थी। और वे अपनी उस प्राप्त शिक्षा के अनुसार सास–ससुर की सेवा करतीं। पति की भगिनियों, भाइयों और परिजनों को उचित आसन देती। अन्न, पान खाद्यादि, जो भी घर में प्रस्तुत होता उससे सबकी यथायोग्य सेवा करती। ठीक समय पर उठकर घर को साफ करती, कंघी, प्रसाद (प्रसाधनविशेष), अञ्जन और दर्पण लेकर स्वयं दासियों की तरह पति की सेवा करती एवं घर में भोजन आदि पकाती थीं। इतना होते हुए भी पति उनकी अवहेलना करता था और पत्नियों का त्याग कर देता था। पुनर्विवाह की प्रथा भी प्रचलित थी। स्त्रियाँ अपने पति के सम्बन्ध में कुछ भी कहने में असमर्थ होती थीं; क्योंकि उनकी इसी प्रकार की ही शिक्षा दी जाती थी।

नारियों की धार्मिक शिक्षा– तत्कालीन समाज में स्त्रियों को धार्मिक शिक्षा विशेषरूप से दी जाती थी। उन्हें धार्मिक कार्य करने में कोई भी प्रतिबन्ध नहीं था। प्रद्युम्न की बेटी कोकनदा भगवान् के सम्मुख उपस्थित होकर कहती–

''मैंने यह अर्थवती गाथा कही।
यद्यपि
ऐसे (महान्) धर्म के विषय में,
संक्षेप में मैं उसके सार को कहती हूँ
(तथापि)
जहाँ तक मेरी बुद्धि की योग्यता है,
सारे संसार में कुछ भी पाप न करें....
अनर्थ करने वाले दुख को न बढ़ावें''।।[2]

इससे स्पष्ट है कि स्त्रियाँ धर्म के सम्बन्ध में अत्यधिक ज्ञान रखती थीं। धर्म के सम्बन्ध में बौद्ध धर्म ने भिक्षुओं के लिये जहाँ ब्रह्मचर्यसम्बन्धी अनेक प्रतिबन्ध थे वहीं सङ्घ में स्त्रियों को भी प्रव्रज्या लेने की अनुमति दी गयी। वैशाली में बहुत सी स्त्रियाँ केश काटकर, काषाय वस्त्र पहनकर, महाप्रजापति गौतमी के साथ फूले पैरों तथा धूल भरे

१. *थेरीगाथा १२६, २७, २८; ऋषिदासी ७२/१२५–१२८।*

२. *संयुत्तनिकाय, चुल्लपज्जुन्नधीतुसुत्त, पृष्ठ २१।*

शरीर से रोती हुई महावन की कूटागारशाला के समक्ष खड़ी हुईं। इसे देखकर आनन्द ने तथागत से उसके लिये प्रव्रज्या की अनुमति मांगी और अन्ततोगत्वा तथागत ने उन्हें सङ्घ में प्रविष्ट होने की अनुमति दे दी।[1] तथागत का सङ्घ में प्रविष्ट होने के लिये अनुमति देना तथा अनुमति पाने से पूर्व महाप्रजापति का भगवान् बुद्ध से सङ्घ में प्रविष्ट होने की अनुमति माँगना यह प्रमाणित करता है कि बौद्ध काल में स्त्रियों को धार्मिक कार्यों के लिये पूर्ण स्वतन्त्रता थी। स्त्रियाँ स्वभावतः पुरुषों की अपेक्षा धार्मिक कार्यों में अधिक रुचि लेती थी। थेरीगाथा में नन्दतुरा नाम की भिक्षुणी अपने उद्गारों की अभिव्यक्ति करती हुई कहती है—

"मैं अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य और अनेक देवताओं की पूजा, वन्दना करती थी। नदी के घाटों में जाकर डुबकी लगाती थी। आधे सिर का मुण्डन, पृथ्वी पर सोना, रात्रि भोजन का त्याग....

इस प्रकार मैं अनेक व्रतों का पालन करती थी।[2]

इस नन्दतुरा की अभिव्यक्ति से स्पष्ट है कि उस समय स्त्रियाँ अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य आदि देवताओं की पूजन करती थी। नदी के घाटों पर जाकर जल में डुबकी लगाती थी। रात्रि–भोजन का त्याग आदि लौकिक क्रियाएँ करती थी। इन कार्यों को करने की इन्हें पूर्ण अनुमति थी। ये अमावस्या, पूर्णमासी और प्रत्येक पक्ष की अष्टमी को इसलिये व्रती रहती थी कि उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति हो।[3] समाज में स्त्रियों को धार्मिक कार्यों के लिये कोई प्रतिबन्ध नहीं था। वे धार्मिक कार्य करती थीं, जैसा कि थेरीगाथा में ऋषिदासी के पिता ने उससे कहा था कि तुम घर पर रहकर ही धर्माचरण करो। अन्न–पानादि दान देकर श्रमणों और ब्राह्मणों की सेवा करो। परन्तु पापकर्मों की मुक्तिहेतु, ऋषिदासी के आग्रह पर अन्त में उसके पिता ने प्रव्रज्या लेने की अनुमति दे दी।[4]

तत्कालीन समाज में धार्मिक दृष्टि से नारियों को पुरुषों के समकक्ष ही माना जाता था। सोमा भिक्षुणी जब समाधि की अवस्था में थी तो उसी समय पापी मार आकर उसे पति से विचलित करने का प्रयास करने लगा। तब सोमा भिक्षुणी अपने हृदयोद्गार यों प्रकट करती है— "जब चित्त समाहित हो जाता है, ज्ञान उपस्थित रहता है और धर्म का पूर्णतः साक्षात्कार हो जाता है तब स्त्रीभाव क्या करेगा!" जिस किसी को ऐसा विचार होता है— "मैं स्त्री हूँ अथवा पुरुष हूँ अथवा कुछ और ही, उसी से मार ऐसा कह सकता है।"[5]

सोमा भिक्षुणी की इस गाथा से यह स्पष्ट होता है कि नारियों को धार्मिक कृत्य करने से उन्हें उचित फल मिलने में कोई प्रतिबन्ध नहीं आ सकता। स्त्रियों को धार्मिक कार्य करने में पुरुष के समान ही फल मिलेगा—यह धारणा तत्कालीन समाज में थी। तत्कालीन समाज में स्त्रियाँ भी धार्मिक भावनाओं द्वारा किये गये भिक्षुओं के गुणों का वर्णन करती एवं भिक्षा देकर जो सहानुभूति दिखाती थी उससे उनकी मातृ–भावना प्रकट होती है। रोहिणी द्वारा अपने पिता को श्रम के गुण बताना इस बात का प्रमाण है।[6] प्रारम्भिक अवस्था में ही धार्मिक भावनाओं से जो धार्मिक शिक्षा इन्हें दी जाती थी और

---

१. विनयपिटक, भिक्षुणीस्कन्धक, पृष्ठ ५१९–२०।
२. थेरीगाथा ४२/८७–८८, पृष्ठ ३६।
३. वही, २५/३१, पृष्ठ १६।
४. वही ७२/४३०–३२, पृष्ठ १३०।
५. संयुत्तनिकाय भाग–१, पृष्ठ १०९।
६. थेरीगाथा ६७/२७१–७५, पृष्ठ ९५।

उसकी रूपरेखा इनके मन में बन जाती थी उसी का वे अपनी युवावस्था में परिशीलन करती थी। यदि उनके मन में किसी भी प्रकार की शङ्का उत्पन्न होती थी तो उसके समाधान के लिये धार्मिक महापुरुषों के पास जाया करती थी। भगवान् बुद्ध से, विशाखा मिगार–माता[१], नकुलमाता गृहपत्नी[२], महाप्रजापति गौतमी[३] आदि नारियाँ साक्षात् जाकर अपनी शङ्काओं का समाधान कराती हैं। तथा नारियों के सम्बन्ध में पूछती हैं एवं मनापकायी देवियों की श्रेणी में आने की बात सोचती हैं। इसी प्रकार सुमना[४] राजकुमारी पाँच सौ राजकुमारियों के साथ तथा चुन्दी राजकुमारी[५] धार्मिक भावनाओं से युक्त होकर भगवान् बुद्ध के पास जाती है और भगवान् बुद्ध उनकी धार्मिक शङ्काओं का गम्भीरता से निराकरण करते हैं। इससे यह विदित होता है कि स्त्रियाँ धार्मिक पुरुषों से अपनी शङ्काओं का समाधान कराती थीं। उन्हें इस तरह की स्वतन्त्रता (छूट) थी। उनकी धार्मिक भावनाएँ बहुत अधिक दृष्टिगत होती हैं। वे धर्म को अपना एकमात्र साधन समझती थीं। धर्म–कार्यों में दान आदि देने की प्रवृत्तियों से युक्त थीं। बाल्यावस्था में इन्हें अधिक छूट थी, परन्तु विवाह होने के बाद उनका एक ही धर्म पतिव्रतधर्म हो जाता था। पतिव्रतधर्म न मानने पर कान, नाक आदि काटने का भी दण्ड (सजा) दिया जाता था।[६] परिवार के कल्याणार्थ देवपूजा–सङ्कल्प (मनौती) आदि भी मानती थी।[७] पूजा–पाठ भी करती थी। गृहस्थ जीवन में पतिव्रता रहना, सदाचारिणी रहना, कर्त्तव्यपरायण रहना उनका मुख्य धर्म हो जाता था।[८]

इस अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध साहित्य के अनुसार छठी शताब्दी ई०पू० से लेकर छठीं सदी तक भारतीय समाज में स्त्रियों का धार्मिक एवं शैक्षणिक जीवन न तो वैदिक काल की तरह पूर्ण स्वतन्त्र तथा विकसित था और न मध्यकाल की तरह अत्यन्त ह्रासशील एवं अवनत ही था। वे वैदिक धर्मानुशासन के अन्तर्गत न तो शिक्षा और वैदिक मन्त्रों की अधिकारिणी थी और न पतिसेवा के अतिरिक्त अन्य धार्मिक कार्य के लिये स्वतन्त्र थीं। किन्तु गौतम बुद्ध के उदय एवं बौद्ध धर्म के व्यापक प्रसार के साथ–साथ स्त्रियों का प्रव्रज्या लेकर आत्मशुद्धि और धर्माचरण द्वारा निर्वाण प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त हो गया। परिवार में रहते हुए भी स्वतन्त्रतापूर्वक बुद्ध, धर्म और सङ्घ की सेवा करती एवं धार्मिक कार्यों के लिये पर्याप्त दान देती थी।

दासी एवं गणिका

बौद्ध साहित्य में नारियाँ जीविकोपार्जन का कार्य स्वयं ही करती थीं। वे नारियाँ जो असहाय, निर्धन एवं समाज की अन्य नारियों से भिन्न होती थी, उन्हें जीविकोपार्जन के लिये विशेष कार्य करना पड़ता था। इसके अतिरिक्त समाज में कुछ ऐसी भी स्त्रियाँ थी जिन्हें पारिवारिक सदस्यता प्राप्त करने में असमर्थता होती थी। उन्हें भी अपनी सामाजिक स्थिति को सुदृढ़ करने के लिये जीविकोपार्जन का कार्य स्वतः करना पड़ता था। तत्कालीन

१. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग–३, पृष्ठ ३२९–३३५।
२. वही, पृष्ठ ३३९।
३. वही, पृष्ठ ३३४।
४. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग–२, पृष्ठ २६१।
५. वही, पृष्ठ २६३।
६. जातक, भाग–२, पृष्ठ ३०२।
७. वही, पृष्ठ ३०१।
८. जातक, भाग–२, पृष्ठ ३०८–३३०।

समाज में जीविकोपार्जनहेतु कार्य करने वाली स्त्रियों को दो वर्गों में रख सकते हैं– (१) दासी (२) गणिका।

(१) दासी– बौद्ध काल से पूर्व सम्भवतः वैदिक युग से ही समाज में दास–प्रथा प्रारम्भ हो गयी थी। वैदिक जाति के शत्रुओं में एक दस्यु नामक जाति थी। वैदिक जाति के लोग युद्धों में दस्युओं को पराजित कर उन्हें पकड़ लाते और उनके पुरुषों को दास और स्त्रियों दासी बना लेते थे। प्राचीनतम युगों में युद्ध–बन्दी में पुरुषों का क्रय–विक्रय भी होता था। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है। यह प्रथा प्राचीन भारत में भी प्रचलित थी। इस तरह दास या दासी दो प्रकार के होते थे। एक वे जो युद्धों में पकड़ कर लाये जाते थे, दूसरे वे जो शूद्र या अन्य निम्न वर्गों में उत्पन्न होकर निर्धनता (गरीबी) के कारण उच्च वर्ग के परिवारों में जीविकोपार्जन के लिये भृत्य का कार्य करते थे। यह प्रथा बौद्ध युग में भी प्रचलित थी।

बौद्ध साहित्य में उन सभी स्त्रियों को 'दासी' कहा गया है जो अपनी आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति से विवश होकर दूसरे परिवार में सेवा–कार्य करती थी। इनका जीवन परतन्त्रता की बेड़ियों से कसा रहता था। ये अपनी स्थिति से विवश रहती थी। पूर्णिका भिक्षुणी अपने सम्बन्ध में कहती है[1]–

"मैं पनिहारिन थी,
सदा पानी भरना ही मेरा कार्य था।
स्वामिनियों के दण्ड के भय से
उनके क्रोध–भरे कुवाक्यों से पीड़ित होकर
मुझे कड़ी सर्दी में भी सदा पानी में उतरना पड़ता था।।"

इससे स्पष्ट होता है कि ये दासी स्त्रियाँ कितनी कठिनाई से यातनापूर्ण जीवन व्यतीत करती थीं। इन दासी स्त्रियों का वध तक कर देना स्वामी के अधिकार में था। यही कारण था कि दासियां वध एवं दण्ड से सदैव भयभीत रहा करती थीं।[2] इतना ही नहीं, दासियों का क्रय–विक्रय भी होता था।[3] इसके अतिरिक्त इन्हें उपहार या पारिश्रमिक के रूप में दूसरों को प्रदान किया जाता था।[4] कभी कभी इन वासियों से लोग शादी भी कर लेते थे। और इनसे उत्पन्न पुत्रों को दासीपुत्र कहा जाता था, जो कि उस समय समाज में अपशब्द के रूप में प्रचलित था।[5]

अम्बष्ठ जब भगवान् बुद्ध से विवाद करता है अैर भगवान् बुद्ध उसका उससे गोत्र पूछते हैं तो वह अपना 'कृष्णायन गोत्र' बताता है। इस पर भगवान् कहते हैं, "अम्बष्ठ! राजा इक्ष्वाकु की दिशा नाम की दासी थी, उससे कृष्ण नाम का पुत्र पैदा हुआ। तेरे माता–पिता के गोत्र की समीक्षा करने से, शाक्य! आर्यपुत्र होते और तुम दासी–पुत्र हो।" ऐसा कहने पर उस माणवक ने भगवान् से कहा–"आप गौतम! अम्बष्ठ माणवक को 'दासीपुत्र' के वाद से न लजायें।"[6] इससे स्पष्ट हो जाता है कि दासियों का समाज में जो स्थान था

१. *थेरीगाथा ६५/२३६, पृष्ठ ८६।*
२. *अङ्गुत्तरनिकाय भाग–३, पृष्ठ २२५।*
३. *जातक भाग–१, पृष्ठ ४३३।*
४. *महावस्तु, पृष्ठ २९०।*
५. *दीघनिकाय १/८१।*
६. *दीघनिकाय भाग–१/८१; बुद्धचर्या, पृष्ठ १९८।*

उससे कहीं हीन स्थान उनके पुत्रों का था। दासियां उस समय वैयक्तिक भोग की वस्तु मानी जाती थीं। दासियों का जो स्थान समाज में था वह उनके लिये मरणतुल्य था। ये परिवार के सब प्रकार के कार्य करने के लिये प्रस्तुत रहती थीं। ये स्त्रियाँ पहरा देने का का कार्य भी करती थीं।[१] दासी स्त्रियाँ धान कूटने आदि का कार्य भी करती थी।[२] मज्झिमनिकाय में वैदेहिका गृहपत्नी ने कालीदासी से यह कहा—

''अरी ओ काली!''

''क्या है अय्या?''

''क्यों री! इतना दिन चढ़ाकर क्यों उठी है?''

''कुछ नहीं अय्या''

''कुछ नहीं रे? हमारी दुष्ट दासी और भी दिन चढ़ाकर उठती है।''[३]

यह प्रसङ्ग दासियों के साथ कठोर व्यवहार का परिचायक है। कहीं कहीं दासियों के साथ अच्छा व्यवहार करने का भी प्रसङ्ग मिलता है, जो गृहपति एवं गृहपत्नियां अपनी दासियों के साथ सद्व्यवहार करतीं तथा उनके भरण-पोषण हेतु उचित देखभाल करतीं उनका समाज में अच्छा स्थान था।[४]

इस प्रकार तत्कालीन समाज में दासियों का स्थान नीचा नहीं था, परन्तु इनकी आवश्यकता समाज में थी जिसके कारण समाज में इनको जीविकोपार्जन की सुविधा प्रदान कर रखी थी। वे गार्हस्थ्य-जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रदान करती थी।[५] ये वीणा, मृदङ्ग, गायन आदि में भी निपुणता प्राप्त करती थीं[६] और परिवार के आमोद प्रमोद के लिये इस तरह के आयोजनों में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती थीं।

(२) **गणिका—** प्राचीनकाल में गणिकाआं का स्थान अन्य साधारण लोगों से उच्च था। ये संगीत, वादन एवं गायन में प्रवीण हुआ करती थीं। इनका जीवन आनन्द एवं आमोद प्रमोद के साथ व्यतीत होता था। बौद्ध साहित्य में गणिकाओं का वर्णन विस्तृत रूप में प्राप्त होता है। चम्पा, राजगृह, साकेत, श्रावस्ती, कौशम्बी, वाराणसी, वैशाली, कुशीनगर, कपिलवस्तु, उज्जयिनी आदि नगरों का विकास व्यावसायिक एवं सांस्कृतिक रूप में हो चुका था। इन नगरों के विकास के साथ ही आमोद प्रमोद के साधनों का विकास भी पूर्णतया हुआ। ग्रामीण जीवन की अपेक्षा नगर-जीवन अधिक आकर्षक बना। नगर की शोभा इन गणिकाओं से भी बढ़ी; क्योंकि इनके पास कला थी। एक बार राजगृह का नैगम किसी काम से वैशाली गया और वहाँ उसने देखा गणिका आम्रपाली दर्शनीय, परम रूपवती, नृत्य, गीत एवं वाद्य में चतुर थी। उसने वैशाली की समृद्धिशालिता, सम्पन्नता आदि को देखकर राजा बिम्बसार से कहा— ''देव! अच्छा हो, हम भी गणिका रखें।''[७] इससे स्पष्ट होता है कि नगर की प्रतिष्ठा बढ़ाने में इनकी मुख्य भूमिका थी। उसी समय राजगृह में अत्यन्त दर्शनीय परम रूपवती सालवती नाम की गणिका बनी।[८] इन्हें राजदरबार

---

१. जातक, भाग-१, पृष्ठ ४२८।

२. जातक, भाग-२, पृष्ठ १२७।

३. मज्झिमनिकाय, पृष्ठ ८३।

४. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग-३, पृष्ठ १८७।

५. मज्झिमनिकाय २/२०१।

६. महावस्तु, पृष्ठ १८।

७. विनयपिटक, महावग्ग, पृष्ठ २६६। *८. वही।*

से अत्यधिक सहायता एवं सम्मान मिलता था। राज्य की ओर से गणिकाभिषेक भी किया जाता था।

एक बार भगवान् कौटिक ग्राम में विहार कर रहे थे आम्रपाली गणिका ने सुना कि भगवान् आ गये हैं। आम्रपाली ने भगवान् से निवेदन किया कि—"भन्ते! भिक्षुसङ्घ के साथ मेरा कल का भोजन स्वीकार करें।" भगवान् ने मौन स्वीकृति दी। तत्पश्चात् जब वैशाली के लिच्छिवियों ने भगवान् का आगमन सुना तो उन्होंने भी भगवान् को भोजन पर आमन्त्रित करने का निर्णय किया। तब लिच्छवियों से उन्होंने कहा— "कल का भोजन आम्रपाली के यहाँ करने के लिये स्वीकृति दे चुका हूँ।"[१] इससे स्पष्ट है कि भगवान् बुद्ध ने आम्रपाली का गौरव बढ़ाया तथा उसे उचित सम्मान दिया।

गणिकाओं से उत्पन्न पुत्र समाज में उचित स्थान भी पाते थे। शालवती गणिका से उत्पन्न पुत्र जीवक कौमारभृत्य एक बहुत बड़ा चिकित्सक हुआ, जिसने समाज में बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की। उसने राजगृह से दूर वाराणसी, उज्जैयिनी आदि नगरों में जाकर चिकित्साकार्य किया।[२] इससे स्पष्ट होता है कि समाज में गणिकापुत्रों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया था। जातककथाओं के अनुसार शामा,[३] सुलसा[४], काली[५] आदि गणिकाओं को समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था।

इन गणिकाओं की अपनी आचारसंहिता होती थी। और यदि वे उससे विचलित होती थी तो समाज में उन्हें उचित स्थान नहीं प्राप्त होता था। ऐसा एक प्रसङ्ग पुरुधम्मजातक में आया है कि देवेन्द्र शक्र ने तरुण वेश धारण कर वैश्या की परीक्षा की और उस परीक्षा में उसका शील परम परिशुद्ध रहा। उसी जातक में यह भी कहा गया है कि १. राजा, २. माता, ३. पटरानी, ४. उपराजा, ५. अमात्य, ६. पुरोहित, ७. रथ के घोड़ों की रज्जु (रास) ग्रहण करनेवाला सारथी, ८. सेठ, ९. द्रोणमापक, १०. द्वारपाल और ११. गणिका—ये ११ जन कुलधर्म में प्रतिष्ठित रहे। इन सबने पवित्रता से पाँच शीलों का पालन किया।[६] इससे विदित होता है कि गणिका, अपने नियमों का पालन तो करती ही थी, साथ ही राज्य की ११ जनों में गणिका का एक प्रमुख स्थान था। गणिकाएँ जब चलती थी तो उनका रथ सुसज्जित तथा पर्दों से ढका होता था।[७] इसे ज्ञात होता है कि वे समाज की कुलवधुओं की भाँति शील, लज्जा आदि से युक्त होती थीं। उनमें जो श्रेष्ठ गणिका होती थीं उसको 'अग्र गणिका' कहते थे।

गणराज्यों के काल में गणिकाओं की प्रभुता बहुत बढ़ी हुई थी। गणिका को किसी एक राज्य को नष्ट हो जाने पर कोई चिन्ता नहीं होती थी; क्योंकि उनको अन्य गणराज्यों में स्थान मिल जाता था। साथ ही यदि गणिका किसी अपराधी व्यक्ति पर मुग्ध हो जाती थी तो उसे पाने की प्रबल प्रयास करती एवं सफलता भी प्राप्त कर लेती थीं। शामा गणिका ने मृत्युदण्डप्राप्त चोर पर आसक्त होकर उसे प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की थी।[८] इससे उनकी शक्ति का आभास मिलता है।

---

१. विनयपिटक, महावग्ग, पृष्ठ २४२; दी० नि०, महापरिनिब्बानसुत्त।

२. वही, २६६ से ७०। *३. कर्णवेर जातक ३१८।*

४. सुलसा जातक ४१९।

५. काली–तक्करीय जातक ४८१; जातक भाग–३ कुरुधम्म जातक ८९–१०१।

६. जातक भाग–१, पृष्ठ २५१। *७. महावस्तु, भाग–३, पृष्ठ १७–१८।*

८. जातक, भाग–३, अट्ठकथा ५९–६०।

धार्मिक कार्यों में इनकी रुचि अधिक थी। वैशाली में आम्रपाली द्वारा किया गया भगवान् बुद्ध को निमन्त्रण इस बात का द्योतक है।[१] बुद्ध द्वारा स्थापित बौद्ध सङ्घ में गणिकाओं का प्रवेश भी इसी बात का परिचायक है। बौद्ध साहित्य से ज्ञात होता है कि अधिकांश गणिकाओं में भिक्षुणीसङ्घ में प्रवेश किया था। बुद्ध के द्वारा गणिकाओं को सङ्घ में प्रवेश करने के लिये विशेष सुविधाएँ दी गयी थीं।[२] थेरीगाथा में विमला नामक गणिका, जो बाद में भिक्षुणी हुई, अपने जीवन–परिवर्तन का वर्णन करती हुई कहती है–

"मैं रूप, लावण्य, सौभाग्य और यश से मतवाली हुई यौवन के अहङ्कार से उन्मत्त, अज्ञानी, अपने को कितना गौरवमयी समझती थी।......

मैं आभूषणों से सुसज्जित एवं अलङ्कारों से शरीर को विभूषित एवं चित्रित किये हुए उसे अनेक तरुणों से बातचीत का माध्यम बनाती थी।.....

सब पापों को मैंने दूर फेंक दिया है आज मैं निर्वाण की परम शक्ति का अनुभव कर रही हूँ। मैं निर्वाण प्राप्त हूँ, परम शान्त हूँ"।।[३]

उसके वक्तव्य में कितना यथार्थ है। यह स्पष्ट है कि गणिकाओं के लिये रूप, लावण्य, सौभाग्य और यश और यौवन कितना महत्त्वपूर्ण होता था एवं साथ ही साथ आभूषणों से विभूषित होना इनका स्वभाव था। परन्तु किस तरह से वह इन बन्धनों को त्याग कर बौद्ध सङ्घ में प्रविष्ट होती है तथा जीवन के अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करती हैं।

इसी प्रकार आम्रपाली अपने सम्बन्ध में कहती है–

"किसी समय मेरे बाल काले, भौरों के रङ्ग के समान, जिनके अग्रभाग घुँघराले हैं ऐसे थे।

पुष्पों से गूथा हुआ मेरा केशपाश कभी सुगन्ध की पिटारी के समान सुगन्धित था। कङ्घी और चिमटियों से सजा हुआ मेरा सुविन्यस्त जूड़ा कभी अच्छे रोपे हुये पुष्पगुच्छ की शोभा पाता था।

सुन्दर अङ्गूठी आदि स्वर्ण अलङ्कारों से विभूषित मेरे हाथ रहते थे।....

कभी मेरे उरोज स्थूल सुगोल, उन्नत सुशोभित होते थे।....

एक समय एक शरीर ऐसा था। और इस समय यह जर्जर और अनेक दुःखों का आलय है।।....[४]

उसका कथन गणिकाओं के सौन्दर्य को इङ्गित करता है तथा उसकी धार्मिक भावनाओं को स्पष्ट करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ये गणिकाएँ धार्मिक भावनाओं से भी युक्त हुआ करती थीं। इनकी धार्मिक प्रवृत्ति समाज में इनको विशिष्ट स्थिति प्रदान करती हैं।

उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि गणिकाओं का समाज में एक विशिष्ट स्थान था। ये सारे गण की सम्पत्ति होती थी। इन्हें गणराज्यों में सम्मान प्राप्त था। इनका जीवन सुखमय एवं आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न था। ये बौद्ध सङ्घ से प्रभावित थीं। इनकी उपसम्पदा भी हुई। बहुत सी गणिकाएँ जैसे– आम्रपाली[५], अद्धकासी[६], विमला[७] आदि, भिक्षुणी बनी जिनको समाज में सम्मान की दृष्टि से देखा गया।

---

१. दीघनिकाय २/७६–७८।
२. विनयपिटक, चुल्लवग्ग ३९६–९७।
३. थेरीगाथा ३९/७२, ७६, पृष्ठ ३२।
४. थेरीगाथा ६६/२५२–२७०, पृष्ठ ५१–५४।
५. विनयपिटक, महावग्ग (आम्रपाली), पृष्ठ २६६।
६. थेरीगाथा, पृष्ठ १२।
७. वही, पृष्ठ ३१।

नर–नारीसमता

बौद्ध साहित्य में नारी जाति का जो चित्रण हुआ है उसके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि स्त्री और पुरुष समाज में एक साथ जीवनयापन करते थे। स्त्री पुरुष के सभी कार्यों में हिस्सा बटाती थी।[१] स्त्रियों के जीवन के सम्बन्ध में भगवान् बुद्ध जाणुस्सोणि ब्राह्मण के पूछने पर कहते हैं कि–"हे ब्राह्मण! स्त्रियों का चरम लक्ष्य पुरुष की प्राप्ति होती है। उसका प्रधान विचार अलङ्कारयुक्त रहना होता है। उनकी प्रतिष्ठा उनकी नजर (शालीन दृष्टि) बनी रहने पर रहती है। उनकी परम सन्तुष्टि ऐश्वर्यप्राप्ति से होती है।[२] जब तक स्त्री को पति न मिल जाय तब तक वह अपूर्ण मानी जाती थी। इसीलिये इन्हें 'अर्द्धाङ्गिनी' भी कहा गया है। स्त्री की पूर्णता पति की प्राप्ति एवं सन्तानोत्पत्ति में है। पति और पत्नी की परस्पर सहयोगात्मक प्रवृत्ति की प्रशंसा करते हुए भगवान् बुद्ध ने यह गाथा कही–

"वह बहुत अधिक धर्म कमाता है जो बहुत निर्धनता में रहते हुए भी स्त्री–पुत्रों को पालते पोसते हुए, अपनी अल्प आय में से ही कुछ दान करता है, हजारों दाताओं का सैकड़ों और हजारों का दान वैसे दान की कल्प भर भी समानता नहीं कर सकता।"[३]

उपर्युक्त उद्धरण इस ओर भी इङ्गित करता है कि निर्धनता में भी यदि कोई पति–पत्नी जीविकोपार्जन करते हुये दान देते हैं तो कोई दूसरा आर्थिक दान उस दान की समता नहीं कर सकता। पति–पत्नी के सम्बन्धों को स्पष्ट करते हुये भगवान् बुद्ध कहते हैं कि ध्वजा को देखकर रथ का भान होता है, धूआँ देखकर कहीं अग्नि का अस्तित्व जान लिया जाता है, राजा ही किसी राष्ट्र का चिह्न होता है, इसी तरह कोई स्त्री भी अपने पति से पहचानी जाती है।[४] इससे स्पष्ट है कि स्त्री के जीवन में पति का स्थान कितना महत्त्वपूर्ण है।

बौद्ध युग में स्त्रियों का स्थान पुरुषों के समकक्ष था। कोसलराज प्रसेनजित के उदास होने पर भगवान् ने जो गाथा कहीं उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है। गाथा यों है–

"राजन्! कोई कोई स्त्रियां भी पुरुषों से बड़ी–बड़ी बुद्धिमती, शीलवती, सास की सेवा करने वाली और पतिव्रता होती है, अतः उनके उचित पालन–पोषण होने पर–

"दिशाओं को जीतने वाला महाशूरवीर उससे पुत्र पैदा होता है।

वैसी अच्छी स्त्री का पुत्र राज्य का अनुशासन करता है।"[५]

स्त्रियों की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में यह गाथा कही गयी है कि "स्त्रियों का पतिव्रता होना[६], सास की सेवा करना, शील से युक्त और बुद्धिमत्ता से पूर्ण होना इनका विशेष गुण है। इसी से समाज में इनका स्थान ऊँचा हो सकता है। स्त्रियों पर क्रोध नहीं करना चाहिये।"[७]

भगवान् बुद्ध उस गृहस्थ को अधिक महत्त्व देते हैं जो अपने परिवार में अच्छी

---

१. जातक, भाग–३, पृष्ठ ६१।
२. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग–३, पृष्ठ ६०।
३. संयुत्तनिकाय, भाग–१, पृष्ठ २१।
४. संयुत्तनिकाय भाग–१, पृष्ठ ४३।
५. वही, पृष्ठ ७८।
६. जातक, भाग–१, पृष्ठ ४२८।
७. वही, पृष्ठ ४३३।

तरह से स्त्रियों का पालनपोषण करता है। मातलि संग्राहक और देवेन्द्र शक्र की आपसी बातचीत (संवाद) में यह प्रसङ्ग आता है—"जो ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर रहे हैं, जो पुण्यात्मा गृहस्थ हैं, ऐसे शीलवान् उपासक लोग धर्म से अपनी स्त्री को पोसते हैं। हे मातलि! मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ।" मातलि— "लोक में वे बड़े महान् हैं शक्र! जिन्हें आप नमस्कार करते हैं।[१]"

उस समय स्त्रियों के पालन पोषण को अधिक महत्त्व दिया जाता था।[२] उनको समाज में हेय दृष्टि से देखना उचित नहीं माना जाता था। समाज का उत्थान पुरुष के उत्थान के साथ साथ स्त्रियों के उत्थान पर आधृत था। इनकी गणना सप्त रत्नों में हुई हैं। वे सप्त रत्न इस प्रकार हैं— १. चक्ररत्न, २. अश्वरत्न, ३. हस्तिरत्न, ४. स्त्रीरत्न, ५. गृहपतिरत्न, ६. परिणायकरत्न और ७. मणिरत्न।[३] इन रत्नों में इनका उल्लेख हो जाने से इसकी महत्ता और अधिक बढ़ जाती है तथा समाज में इनका स्थान ऊँचा हो जाता है।

जिस तरह पुरुष को स्त्री के त्याग का अधिकार[४] था उसी तरह से पत्नी भी पति को छोड़ सकती थी।[५] जातक में इन दो उदाहरणों के आधार पर पुरुष और स्त्री के समान अधिकार की बात सिद्ध हो जाती है। जहाँ पुरुष समाज में प्रतिष्ठित होता था, वहीं स्त्रियां भी समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करती थीं। समाज में स्त्रियों को पूरी स्वच्छन्दता तो नहीं थी, परन्तु बौद्ध साहित्य के आधार पर हम उनकी स्वतन्त्रता का दिग्दर्शन करते हैं।

आवरण (पर्दा)— नारी पर्दे में नहीं रहा करती थीं। पर्दा में रहना समाज में उसके स्वतन्त्रता पर अंकुश माना जाता था। परन्तु पर्दा–प्रथा न होने के कारण हम यह स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि नारी उस समय स्वतन्त्र थी। पुत्र–वधू के रूप में कुछ कर्त्तव्य और अधिकार प्राप्त थे। यदि वह पर्दे में होती तो उसे कर्त्तव्य एवं अधिकार पूरा करनें में बाधा होती।[६] पुत्र–वधू सास–श्वसुर के सम्मुख आवश्यकतानुसार विशिष्ट व्यक्तियों से वार्तालाप कर सकती थी, जैसा कि सुजाता कुलवधू भगवान् बुद्ध के समक्ष उपस्थित हुई थीं। बुद्ध ने भार्याओं के प्रकारों का वर्णन उसके समक्ष किया है।[७]

जातकों में बहुत से प्रसङ्ग ऐसे हैं, जिनमें रानियां बिना पर्दे के स्वच्छन्दतापूर्वक मन्त्रियों एवं अधिकारियों के साथ वार्ता करती थीं।[८] कभी–कभी पुत्रवधुएँ प्रतिरोध भी करती थीं। गोपा जब पति के साथ जा रही थी तो उससे कहा गया कि पर्दा कर लो। इस पर उसने विरोध करते हुये यह कहा—"उसका शरीर संयत है। इन्द्रियाँ सुरक्षित हैं। आचार रागरहित हैं और मन प्रसन्न है, तब कृत्रिम आवरण से क्या लाभ?"[९]

समाज में नारियों के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण उदार थे। स्वयं तथागत के विचार सामाजिक दृष्टि से इनके प्रति सहयोगात्मक थे। स्त्रियों के साथ यदि कोई व्यक्ति

१. *संयुत्तनिकाय, भाग–१, पृष्ठ १८५।*
२. *वही, पृष्ठ २१।*
३. *दिव्यावदान ३६/३१, ८७/२७–२८; महावस्तु, भाग–१ ११३–१६–१७; ललितविस्तर, १४/४–६; सुत्तनिपात २/ १८३।*
४. *जातक, भाग–२, पृष्ठ ११८।*
५. *वही, पृष्ठ ४०३।*
६. *अङ्गुत्तरनिकाय, भाग–२, पृष्ठ ३०३; थेरीगाथा ७२/४१०–४१४।*
७. *जातक, भाग–३, पृष्ठ ७२, ७४; अङ्गुत्तरनिकाय भाग–३/२२३।*
८. *जातक, भाग–५/४३९; ६/३१, ३३; ६/२३९, ३००।*
९. *ललितविस्तर।*

व्यभिचार करता है तो वह पापी है, दुःशील है तो मरने के बाद दुर्गति को प्राप्त होता है, नरक में उत्पन्न होता है।[1] उन्होंने स्त्रियों के सम्बन्ध में जो सामाजिक विचार व्यक्त किये हैं उसका हम अवलोकन करते हैं तो ऐसा लगता है कि वे बाल-विवाह से वे अत्यधिक दुःखी थे। स्त्रियों के पाँच दुःखों की विवेचना करते हुए उन्होंने कहा-''भिक्षुओ! स्त्री अपनी छोटी ही आयु में पतिकुल चली जाती है, बन्धुओं को छोड़ देना होता है, स्त्रियों का अपना यह पहला दुःख है जिसे केवल स्त्री ही अनुभव करती है, पुरुष नहीं।''[2] वे सामाजिक दृष्टि से स्त्रियों के उत्थान के लिये कितने चिन्तित थे, इसका आभास संयुत्तनिकाय के मातुगामसंयुत्त के अध्ययन से स्पष्ट होता है। वे नहीं चाहते थे कि स्त्रियाँ कृपणता से मलिन चित्तवाली होकर घर में रहें, निर्लज्ज हों, ईर्ष्यालु हों, आलसी हों, कुलटा हों। वे अनुरुद्ध को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि स्त्रियाँ जीव-हिंसा, चोरी, व्यभिचार, सुरापान आदि हेय कर्मों को करती हैं तो वह नरकगामिनी होती हैं।[3] इसलिये उन्हें इन कर्मों को छोड़ देना ही उपयुक्त होगा।

भगवान् बुद्ध स्त्रियों की सुगति के सम्बन्ध में कहते हैं कि स्त्री को श्रद्धालु, लज्जासम्पन्न, क्रोधरहित एवं प्रज्ञासम्पन्न होना चाहिये। वे सदाचारिणी, पतिव्रता, ईर्ष्यारहित, कृपणतारहित परिश्रमी हाने से सुगति को प्राप्त होती हैं।[4] स्त्री रूपबल, धनबल, ज्ञातिबल, पुत्रबल और शीलबल से यदि युक्त रहती है तो वह परिवार में प्रसन्नतापूर्वक घर में रहती हैं एवं अपने पति को वश में रखती है। यदि पति के पास ऐश्वर्यबल[5] हो तो वह स्त्री को अपने वश में रख सकता है एवं घर में जीवन-यापन कर सकता है। भगवान् बुद्ध भिक्षुओं से कहते हैं- ''स्त्री यदि इन पाँचों बलों में से एक बल से संयुक्त नहीं रहती तो उसे कुल में सम्मान नहीं प्राप्त होता। और यदि सम्पन्न रहती है तो उसे स्वर्ग की प्राप्ति होती है।[6] अतः स्त्री यदि १. श्रद्धा, २. शील, ३. विद्या, ४. त्याग और ५. प्रज्ञायुक्त है तो वह प्रसन्न एवं स्वस्थ रहती है तथा उसमें वृद्धि होती है।

भगवान् बुद्ध स्त्रियों के सम्बन्ध में अनुरुद्ध से कहते हैं-''जिस स्त्री का स्वामी प्रयत्नपूर्वक, उत्सुकतापूर्वक उसका सतत भरण-पोषण करता है, तो स्त्रियाँ उस सभी कामनाओं की पूर्ति करने वाले अपने पति की अवहेलना नहीं करतीं। अपने कल्याण की इच्छुक वह स्त्री ईर्ष्या करके अपने पति को क्रुद्ध नहीं करती। वह पण्डित, जितने लोग भी स्वामी के गौरव के भाजन हैं उनकी पूजा करती है। वह पहले सोकर उठने वाली होती है.....वह मनापकायिका देवियों की सङ्गति में उत्पन्न होती हैं।''[7]

इसी तरह वे विशाखा से कहते हैं-''जिन स्त्रियों में कर्मान्त की सम्यक् व्यवस्था का, परिजनों का संग्रह, पति की इच्छा के अनुकूल चलना, श्रद्धायुक्त प्रज्ञा, त्याग का गुण होता है वे स्वर्ग को प्राप्त होती हैं।[8]''

नारियों में दोष- स्त्रियों के सम्बन्ध में बुद्ध के सामाजिक चिन्तन के साथ हम

---

१. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग-३, पृष्ठ २३४; संयुत्तनिकाय, भाग-१, पृष्ठ ३०४।

२. संयुत्तनिकाय, भाग-२, पृष्ठ ५५१।

३. वही, पृष्ठ ५५२-५३।

४. वही, पृष्ठ ५५५-५५६।

५. वही, बलवग्ग, पृष्ठ ५५६-५७।

६. संयुत्तनिकाय, भाग-२, पृष्ठ ५५६।

७. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग-३, पृष्ठ ३३८।

८. वही, पृष्ठ ३४२।

बौद्ध साहित्य में यह भी पाते हैं कि नारियों में दोष है। जातक की कथाओं में इसका विशेष रूप से उल्लेख प्राप्त होता है। अशातमन्त जातक में स्त्रियों को असाध्वी कहा गया है। उनका कोई समय नहीं होता। जैसे दीप की शिखा सबको जला देने वाली होती है।[१] अण्डभूत जातक में इन्हें नदियों के समान टेढ़ी कहा गया है।[२] टक्क जातक में इन्हें क्रोधी, कृतघ्न, चुगलखोर कहा गया है।[३] जल में मछलियों की चाल की भाँति स्त्रियों के मन की बात जानना दुष्कर है।[४] इन्हें नदी, महामार्ग, धर्मशालाएँ आदि की तरह सबके लिये कहा गया है।[५]

इत्थिवर्ग (स्त्री वर्ग) के साथ ही साथ अन्य विभिन्न जातकों में भी स्त्रियों के दोषों को व्यक्त किया गया है।[६] जिससे स्त्रियों की सामाजिक स्थिति पर विशद प्रकाश पड़ता है। बौद्ध साहित्य में कहीं नारीसमाज के चरित्र पर छींटा भी उछाला गया है।[७] परन्तु इन कथनों के आधार पर हमें यह मानना समीचीन नहीं होगा कि सभी नारियाँ दोषों से पूर्ण एवं दोषों की आगार हैं। इसका आधार यह हो सकता है कि बौद्ध सङ्घ में ब्रह्मचर्यपालन करना मुख्य था।[८] घर को त्याग कर ही उपसम्पदा ली जाती थी। और उसके बाद ही सङ्घ में प्रविष्ट होती थीं। क्योंकि स्त्रियां परिवार की प्रमुख अङ्ग थीं और इनसे विरत होना अत्यधिक कण्टकाकीर्ण था। सम्भवतः इसीलिये उनके दोषों को परिलक्षित किया गया है।

भगवान् के विचारों का नारी पर प्रभाव

भगवान् बुद्ध एक समाज–सुधारक के साथ एक सन्त मनीषी भी थे वे स्वयं खोभ, दुस्स कस्बे में रहने वाले गृहस्थ ब्राह्मणों से कहते हैं–''वे सन्त, सन्त नहीं जो धर्म की बात न करें। राग, द्वेष और मोह को छोड़कर धर्म की व्याख्या करने वाले सन्त होते हैं।[९] सन्त लोग स्त्रियों को माया, राग, मरीचिका, रोग, उपद्रव, कठोर, बन्धन, मृत्युपाश, गुहाशय आदि विशेषणों से विभूषित करते हैं।[१०] ये नारियां इनकी साधना में बाधक होती हैं। इन्हें तप आदि कर्मों से विरत करती हैं, अतः स्वाभाविक है कि धामिर्क दृष्टि से इनकी आलोचना की जाय। यदि यह स्वाभाविक होता तो थेरीगाथा में भिक्षुणियों ने अपने साधनामार्ग में बाधक पुरुषों की निन्दा न की होती।

शुभा नामक भिक्षुणी जब एक बार भिक्षाटन के लिये जाती है तो एक धूर्त, कामी युवक उसे रोकता है और उनके बीच हुए संवाद में शुभा कहती है–

''भिक्षुणी को मार्ग में एक लम्पट पुरुष ने रोका–

---

१. जातक, भाग–१, पृष्ठ ४२०।
२. वही, पृष्ठ ४२२।
३. वही, पृष्ठ ४३२।
४. वही, पृष्ठ ४३४।
५. वही, पृष्ठ ४३७।
६. जातक १२०, १४५, १६७, १९३, १९९, २१२, २६२, २६३, २७४।
७. जातक ६१, ६३, ६४, ६५, १०६, १२५, १९५, २०७।
८. विनयपिटक ९/१६, २३।
९. संयुत्तनिकाय भाग–१, पृष्ठ १४७।
१०. जातक, भाग–१, पृष्ठ ४२०।

'माया, चेसा मरीची च सोको रोगो चुपद्दवो।
खरो च बन्धनावेता मच्चुपासो गुहासयो।।
तासु यो विस्ससे पोसो सो नरेसु नराधमो।

"दुष्ट! जहाँ जाने का मार्ग नहीं है, वहाँ तूँ जाना चाहता है
मानो चन्द्रमा को खिलौना बनाने के लिये तूँ उसे खोजने निकला है।
मूढ़! तू सुमेरु को लाँघना चाहता है
जबकि तु बुद्ध की पुत्री के पीछे इस प्रकार लगता है !
और उसे पाना चाहता है।[१]"

इस प्रकार थेरीगाथा में भिक्षुणियों ने अपने मार्ग में पुरुषों द्वारा उत्पन्न किये गये अवरोधों का वर्णन किया है।[२] स्त्रियों ने वासना से पीड़ित पुरुषों के द्वारा अपने पर किये गये दुष्कर्मों का गान थेरी गाथा में किया है। वे पुरुषों को अपने प्रगति के मार्ग में अवरोध मानती हैं। वे जब अपने पूर्व के जीवन को त्यागकर नवीन जीवन के प्रारम्भ के लिये सङ्घ में प्रवेश करती हैं तो वहाँ भी पुरुष की वासनात्मक प्रवृत्ति उनका पीछा करती है। इसलिये हम उन दोषों का आकलन नारियों के सन्दर्भ में नहीं कर सकते; क्योंकि पुरुषों के साधनामार्ग में नारियाँ और नारियों के मार्ग में पुरुष बाधक सिद्ध होते हैं। यदि पुरुष और नारी समाज में रहते हैं तो समाज विकासोन्मुख होता है, किन्तु जब वे धार्मिक साधना के क्षेत्र में जाते हैं तो ये एक दूसरे के परस्पर विरोधी सिद्ध होते हैं। तथागत भगवान् बुद्ध ने नारियों को सङ्घ में प्रविष्ट होने की अनुमति देकर[३] तत्कालीन समाज की नारियों के बौद्धिक विकास एवं वैचारिक पक्ष को दृढ़ किया है। महाप्रजापति गौतमी एवं तथागत बुद्ध के वार्तालाप नारियों की वास्तविक स्थिति के परिचायक हैं। सङ्घ में नारियों को रहने के लिये जो विनय (नियमात्मक अनुशासन) बनाया गया है वह कठिन अवश्य है परन्तु पुरुषों के नियमों से कम नहीं है; क्योंकि दोनों वर्ग साथ रहेंगे तो साधना के मार्ग में अवरोध उत्पन्न हो सकता है। इसलिये अवरोध को समाप्त करने के लिये कठिन नियमों का सर्जन किया गया है।[४]

तत्कालीन समाज में नारियों की स्थिति समानतामूलक भगवान् बुद्ध के विचारों एवं सिद्धान्तों ने नारी-चिन्तन को नया मोड़ दिया। यदि वे ऐसा न करते तो थेरीगाथा जैसा गीतकाव्य निर्मित हो पाना सम्भव नहीं था।

नारी-जीवन को भगवान् बुद्ध की अनुकम्पा का कितना श्रेय मिला था?-कहा नहीं जा सकता। भिक्षुणियाँ स्वयं कहती हैं कि "मैं बुद्ध की कन्या हूँ।" साथ ही वे यह भी कहती हैं- 'अहो! मैं कितनी सुखी हूँ। मैं कितने सुख से ध्यान करती हूँ।"[५] यह उद्गार नारी समाज का प्रतिनिधि-उद्गार है। बार बार उनका यह कहना कि "चित्त-मलों से विमुक्त हूँ।"[६] "शास्ता के शासन को पूराकर मैं दुःखों से विमुक्त हो गयी हूँ।"[७] "परम शान्ति का अनुभव कर रही हूँ। मैं निर्वाण प्राप्त कर परम शान्त हूँ।"[८] — नारियों के जीवन में भगवान् बुद्ध ने आशा का सञ्चार किया। थेरीगाथा में वर्णित भिक्षुणियों ने उद्गार में

---

१. थेरीगाथा ७१/३६६-९९; पृष्ठ ११७-१२३।
२. थेरीगाथा ५२/१३९-१४२, पृष्ठ ५६-५७।
३. विनयपिटक (भिक्खुनीखन्धक), पृष्ठ ५१९-५२२।
४. वही, (भिक्खुनी पातिमोक्ख), पृष्ठ ३९-७०।
५. थेरीगाथा।
६. वही, ५९/१२६, पृष्ठ १२६।
७. वही, ५२/१४४, पृष्ठ ५७।
८. वही, ४१/८६, पृष्ठ ३५।

निराशावाद का निराकरण है। पुरुषार्थ की विजय है। साधनातीत इन्द्रियातीत सुख का साक्ष्य है और नैतिक ध्येय प्राप्ति की प्रतिष्ठा है। नारी को अपने सामर्थ्य पर विश्वास है।

भगवान् बुद्ध ने नारियों में जो मनोवैज्ञानिक निराशा थी, जो उनके लिये अभिशाप सिद्ध हुई, उसे बदल कर वरदान की स्थिति लाने का प्रयास किया। यह बुद्ध के विचारों का ही प्रभाव था कि एक गणिका जो कि वासना, विलासिता भोग की केन्द्र बनी हुई थी उसे भिक्षुणी का रूप देकर अशान्त विश्व की मानवता को शान्ति का पाठ पढ़ाने के लिये उद्यत किया।।

पञ्चम अध्याय

बौद्ध साहित्य में समाज की आर्थिक स्थिति

बौद्ध साहित्य में समाज की आर्थिक स्थिति
जीविकोपार्जन के अन्य व्यवसाय
अन्न (खाद्य पदार्थ)
फल
पशु, पक्षी एवं जलचर
शिल्प कर्म या छोटे उद्योग
व्यापार
(१) स्थलमार्ग के व्यापार
(२) जलमार्ग के व्यापार
पण्य
वस्त्र–उद्योग आदि
श्रमिक वर्ग
आर्थिक विकास में गृहपतियों की भूमिका

पञ्चम अध्याय

बौद्ध साहित्य में समाज की आर्थिक स्थिति

प्राचीन भारतीय समाज की आर्थिक स्थिति

अर्थव्यवस्था का महत्त्व– आर्थिक व्यवस्था सामाजिक विकास की आधारशिला है। मानव सभ्यता के उत्तरोत्तर विकास के मूल में उसकी आर्थिक व्यवस्था ही प्रमुख कारण रही है। किसी देश, समाज या जाति की सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक समुन्नति मुख्यतः उसके आर्थिक व्यवस्था–सम्बन्धी स्रोतों और सुविधाओं की उन्नति पर निर्भर करती है। जिन देशों में ये सुविधाएँ प्राप्त नहीं होती, वहाँ के निवासी कभी भीअपनी सभ्यता एवं संस्कृति का विकास नहीं कर सकते।

मानव जाति का विकास इस बात का प्रमाण है कि प्राचीन काल में वही जातियाँ सभ्यता और संस्कृति का विकास कर सकीं जो कृषियोग्य मैदानी भूमि एवं पर्वतों की घाटियों में निवास करती थीं अथवा जहाँ नदियों और समुद्र द्वारा व्यापारिक यात्रा करने की सुविधा प्राप्त थी।

आधुनिक वैज्ञानिक युग में जिन भू–भागों में खनिज पदार्थों का अधिक उत्पादन होता है, वहाँ के निवासी आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न होकर अपनी सभ्यता और संस्कृति को उन्नत बना लेते हैं। भारत में जीवन के प्रमुख चार उद्देश्यों–धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष में अर्थ को प्रमुख स्थान प्राप्त है। इसीलिये कौटिल्य ने समाज के नियमन के लिये जिस शास्त्र की रचना की उसका नाम धर्मशास्त्र, राजशास्त्र या नीतिशास्त्र न रखकर अर्थशास्त्र रखा; क्योंकि सभी सामाजिक व्यवस्थाओं का समाहार अर्थव्यवस्था में हो जाता है।

आर्थिक उत्पादन– भारत में वैदिक सैन्धवसभ्यता के पूर्व से ही आर्थिक उत्पादन का कार्य प्रारम्भ हो गया था। पाषाणकालीन मानव के जो प्रस्तरास्त्र उपलब्ध हुए हैं एवं गुफा–चित्रों में आखेटसम्बन्धी जो अङ्कन दिखायी पड़ते हैं उनसे ज्ञात होता है कि इस देश का आदिम मानव शिकार–युग में पशुओं का शिकार करके उसके मांस को खाता, चमड़े का वस्त्र बनाता, चर्बी से प्रकाश करता और हड्डियों से हथियार और औजार बनाता था। आधुनिक पुरातत्व सम्बन्धी उपलब्धियों से यह ज्ञात होता है कि ई०पू० ५००० के लगभग सम्पूर्ण दक्षिणी, मध्य एवं पश्चिमी एशिया में पशुपालन एवं कृषि का कार्य प्रारम्भ हो गया था। जार्डन के जेरिको और ईराक के जरमों नामक स्थानों में जो उत्खनन हुआ है उसमें सबसे निचले स्तर में जौ के दाने प्राप्त हुए हैं। जिनका काल ई०पू० ५०० निर्धारित किया गया। विलोचिस्तान में जो गबरबन्द (पत्थर के बांध) प्राप्त हुए हैं उनसे ज्ञात होता है कि ४००० ई०पू० के लगभग बांध बनाकर सिंचाई के लिये जलाशयों का निर्माण किया गया था।[2] विलोचिस्तान की ये ग्रामीण वस्तियां हड़प्पा सभ्यता के ठीक पूर्व की हैं। सिन्धु–

---

१. मार्टीमोर ह्वीलर, दी इण्डस सिविलिजेशन, कैम्ब्रिज–१९५३, पृष्ठ ९। *२. वही, पृष्ठ ६७।*

घाटी–सभ्यता से सम्बद्ध नगरों एवं ग्रामों का उत्खनन हुआ है उनमें अन्नागारों तथा अन्य के अवशेष प्राप्त हुए हैं। इसे यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि वैदिक सैन्धव सभ्यता के काल में कृषि–व्यवस्था पर्याप्त समुन्नत थी।

कृषिव्यवस्था– इसी तरह वैदिक साक्ष्य से ज्ञात होता है कि इस काल में कृषि–व्यवस्था की पर्याप्त उन्नति हो चुकी थी। ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद के अनेकानेक सूक्तों एवं मन्त्रों में कृषि–कार्य, खाद्यान्न, कृषि–सम्बन्धी यन्त्रों और साधनों का उल्लेख हुआ है। यजुर्वेद में एक स्थान पर कृषक द्वारा जौ की खेती करने और जंगली हिरणों द्वारा फसल के चरने का उल्लेख हुआ है।[1] ऋग्वेद के एक सूक्त में कृषि–कार्य का बहुत अधिक और संश्लिष्ट वर्णन किया गया है, जिससे ज्ञात होता है कि इस काल में हल से खेत जोता जाता था। हल से जोतकर खेत में बीज डाला जाता था। फसल पैदा होने पर उसे हंसिया से काटा जाता था। पशुओं को जल पीने के लिये कुण्ड (हौद) भी बनाया जाता था। एवं खेत की सिंचाई के लिये जलाशयों का निर्माण होता था। जलाशयों एवं कूओं से चमड़े की रस्सी द्वारा जल निकाला जाता था। बैलों को नाद में खिलाया जाता था। फसलों को काटकर, बैलगाड़ी एवं रथ द्वारा ढोकर खलिहान में रखा जाता था। इस काल में पेय जल के लिये कूए बनाये गये थे। जानवरों के रहने के लिये गोष्ठ बनाये जाते थे। पानी खींचने के लिये मसक एवं धातु के पात्र बनाये जाते थे। दूध के लिये गायों का पालन किया जाता था। और लकड़ी एवं पाषाण के घरेलू पात्र एवं यन्त्र बनाये जाते थे। सवारी एवं सामान ढोने के लिये रथ, जो पशुओं द्वारा चलाये जाते थे, बनाये जाते थे।[2] यजुर्वेद में भी कृषि–कर्म का जो विशद वर्णन हुआ है उससे ज्ञात होता है कि उस काल में खेती करने की पद्धति पर्याप्त विकसित हो चुकी थी। यह वर्णन ऋग्वेद के उपर्युक्त वर्णन जैसा ही है।[3]

पशुपालन– वैदिक मन्त्रों से ऐसा ज्ञात होता है कि इस काल में समाज का आर्थिक आधार मुख्यतः कृषि कर्म के समान पशुपालन पर भी आधृत था। वैदिक युग के लोग जिन भूभागों में निवास करते थे वे अधिकतर वनों से भरे हुए थे। जहाँ जङ्गलों को काटकर कृषियोग्य भूमि तैयार कर ली गयी थी, वहाँ तो खेती की जाती थी; किन्तु जङ्गलों का उपयोग प्रायः पशुचारण के लिये ही होता था। पशुओं में गाय सर्वाधिक प्रिय थी जिससे प्रत्येक परिवार को दूध, दही, मट्ठा और घी प्राप्त होता था। ये वस्तुएँ इन लोगों के भोजन की प्रधान सामग्री थी। ये लोग गाय के साथ घोड़ा, बकरी, भेड़, ऊँट, खच्चर आदि का भी पालन करते थे।[4] इन पशुओं में अनेक के मांस खाद्य के रूप में प्रयुक्त करते थे। पशुपालन–सम्बन्धी वर्णन वेदों में बहुत अधिक दृष्टिगत होते हैं। वैदिक मनीषी कृषि–

---

१. यजुर्वेद, अध्याय २३/३१–३८।

"खेत में जाकर जौ खाने के वाले हिरण को देखकर कृषक जैसे प्रसन्न नहीं होता, वैसे ही अज्ञानी से शिक्षा पायी नारी को देखर ज्ञानी पुरुष भी प्रसन्न नहीं होता।

"हे सोम! जैसे कृषकगण बहुत से यवसम्पृक्त अन्न को क्रमपूर्वक पृथक् करके काटते हैं वैसे ही तुम देवताओं को प्रिय हो।"

२. ऋग्वेद, १०/९/१०२, ४/५७।

३. यजुर्वेद, पू०–अ० १२, ६८–७०।

४. (क) पशून् मा हिंसि, अजा मा हिंसी,
अविं मा हिंसि, इमं मा हिंसि द्विपादं पशुं द्विपादं पशुम्।।
मा हिंसीरेकशफं पशुं, मा हिंस्यात् सर्वभूतानि।।

(ख) ऋग्वेद, १०/१९/१०।

धन के समान पशु–धन के लिये भी देवताओं से प्रार्थना करते हैं। उस काल में पशु–धन का इतना महत्त्व था कि दस्यु और पणि वैदिक जाति की इन्द्रपूजक शाखा के लोगों की गायें चुरा ले जाते थे, जिसके लिये युद्ध होता था। ऋग्वेद के एक सूक्त में कहा गया है कि पणियों ने अंगीरसों की गायें चुराकर पर्वत की गुफा में छिपा दी थी। इन्द्रने शर्मा से गायों का पता लगाकर उनका उद्धार किया।[1] इस तरह तत्कालीन समाज में गाय का अत्यधिक आर्थिक महत्त्व था। उसके दूध, दही, घृत को यज्ञों में प्रयुक्त किया जाता था। इसी प्रकार अश्व भी तत्कालीन समाज का बहुमूल्य पालित पशु था, जिसका वर्णन वेदों में बहुत अधिक हुआ है।

उद्योग एवं व्यवसाय– वैदिक सैन्धवसभ्यता की अर्थव्यवस्था कृषिप्रधान होते हुए भी उद्योग एवं व्यवसाय पर बहुत कुछ निर्भर थी। मोहनजोदड़ो, हड़प्पा, लोथल, रंगपुर आदि वैदिक सैन्धवसभ्यता के नगरों में जो मुहरें प्राप्त हुई हैं, वे उन व्यापारियों के नामों की मोहरें हैं जो नावों से विलोचिस्तान, ईरान और मेसोपोटामिया के नगरों तक तथा स्थल–मार्ग से किस निखालक, अनै, हिसार आदि प्राचीन नगरों तक अपनी व्यापारिक सामग्री भेजते थे। इन सामग्रियों में हाथी दाँत की बनी हुई वस्तुएँ, मालाएँ, गुंथे जाने वाले मनके, मिट्टी के बर्तन, वस्त्र एवं अन्य वस्तुएँ होती थीं।[2] ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में मणि, रत्न एवं स्वर्ण का नामोल्लेख मिलता है। वैदिक ऋषि वामदेव ऋभु नामक देवगण से रत्न की याचना करते हैं।[3] इसी प्रकार अन्य ऋषि, दानदाताओं से स्वर्ण प्राप्त करने की इच्छा करते हैं।[4] इस काल में सोने के आभूषण भी बनाये जाते थे।[5]

वैदिक काल में सम्भवतः स्वर्ण की कमी नहीं थी; क्योंकि उसे रथों में भी जड़ा जाता था।[6] यजमान राजा यज्ञ कराने वाले पुरोहितों को सोना, वस्त्र, अश्व का दान देते थे।[7]

जीविकोपार्जन के अन्य व्यवसाय

वैदिक सैन्धव समाज में कृषि, पशुपालन और धातु कर्म के साथ–साथ अनेक प्रकार के व्यवसाय प्रचलित थे, जिन्हें अपना कर जीविकोपार्जन करते थे। ऋग्वेद के एक सूक्त में बताया गया है कि उस समय खाती (बढ़ई) काष्ठ कला का कार्य करता था। गृह निर्माण करने वाले शिल्पकार, पत्थर काटकर जीविकोपार्जन करते थे। शस्त्रकार धनुष्, वाण, बर्छी और भाले का निर्माण करते थे। इस काल में रोगों के निवारण के लिये आयुर्वेदिक चिकित्सा–व्यवसाय अपनाया जाता था। स्त्रियाँ घरों में स्वयं पीसने का कार्य करती थीं। रथकार रथ बनाने का कार्य करता था।[8] ये व्यवसाय जातिगत नहीं होते थे, अपितु एक ही परिवार के लोग जीविकोपार्जन हेतु पृथक्–पृथक् करते थे। उक्त सूक्तकर्त्ता

१. *ऋग्वेद, ३/३१/६–१०, १०/१०८।*
२. *डॉ. शम्भुनाथ सिंह, पुराकल्प, ऋग्वेदकालीन जातियां एवं उनका मूल निवास–स्थान, वर्ष–१, अंक–७, पृष्ठ ६९–७५।*
३. *ऋग्वेद, ४/३५/१।*
४. *वही, ५/२१/४।*
५. *वही, ५/६०/४।*
६. *वही, ५/७७/३।*
७. *वही, ६/४७/२३।*
८. *वही, ९/७/११२।*

ऋषि अपने परिवार के सदस्यों के विभिन्न व्यवसायों का उल्लेख करता है।[१] इसके अतिरिक्त रथकार[२], बढ़ई[३], वैद्य[४], लोहार[५] आदि व्यवसाय करने वाले थे। मणिकार, इषुकार, धनुषकार, रज्जुसर्ग (रस्सी बनाने वाले), मृगयु (शिकारी), श्वनी (कुत्ता पालने वाला), सुराकार, चर्मन (चमार), धीवर, केवट आदि का भी उल्लेख है।

उद्योगधन्धे— वैदिक सैन्धव सभ्यता की कृषि–व्यवस्था अधिक समुन्नत होती गयी साथ ही साथ उद्योग–धन्धे की भी प्रगति हुई। रामायण, महाभारत काल में राजनीतिक सुव्यवस्था और साम्राज्य–विस्तार के कारण भारतीय अर्थव्यवस्था इतनी सुदृढ़ हो गयी थी कि इसे सोने की चिड़िया माना जाने लगा था। इस काल में मध्य एशिया और पश्चिमी एशिया से भारत अपना व्यापारिक सम्बन्ध बना चुका था। जिससे दूसरे देशों से पर्याप्त धन आता रहा। यह व्यापार स्थल एवं जल दोनों मार्गों से होता था। फलतः इस काल में लोगों का जीवन–स्तर बहुत ऊँचा उठ गया।

प्राचीन भारतीय वाङ्मय एवं तत्कालीन पुरातात्विक उत्खननों से उत्खननों से उक्त कथनों को प्रमाणित किया जा सकता है। महाभारत–काल से लेकर बुद्ध पूर्व तक यही स्थिति बनी रही। इस काल में गणराज्यों का विकास हुआ। जिनमें उद्योग–व्यापार की अत्यधिक उन्नति हुई। उद्द्योग एवं व्यापार की उन्नति के कारण विशाल नगरों की स्थापना हुई। इस तरह समग्र भारतवर्ष एक आर्थिक इकाई के रूप में विकसित हो गया।

इस प्रकार बौद्ध साहित्य में हम इन्हीं आर्थिक स्थितियों पर विचार करेंगे।

कृषिकर्म— बौद्ध साहित्य में वर्णित कृषिकार्यों का जब हम अवलोकन करते हैं तो ऐसा लगता है कि कृषि का तत्कालीन समाज में समुचित विकास हो चुका था। उस समय कृषिकर्म लोगों का मुख्य कार्य था।[६] खेत हल से जोते जाते थे, हल प्रायः बैल ही खींचते थे। फसल पकने-पर उसे काटते थे और उसके बाद खलिहान में लाते थे। वहाँ पर दौरी करते थे।[७] कृषि–कार्य करने की यह एक सामान्य प्रक्रिया थी। कृषिकार्य करने वाले को कृषक[८], खेत को 'क्षेत्र'[९] कहते थे। हल के लिये 'नङ्गल' शब्द प्रयुक्त होता था।[१०] खेती का कार्य ब्राह्मण भी करते थे।

सुत्तनिपात में कसिभारद्वाज ब्राह्मण का वर्णन आया है जो पाँच सौ हलों को लेकर जुताई का कार्य कर रहे थे। और भगवान् बुद्ध से उन्होंने स्वयं अपने को कृषक बताया।[११] खेती का कार्य उत्साह एवं लगन के साथ किया जाता था। खेती के कार्य को करने के लिये जो उपकरण प्रयोग में आते थे, वे मुख्य रूप से घुर, हल, फाल, कुल्हाड़ा, कुदाल, हथौड़ी, हंसिया, खुरपा, छकुनी आदि थे।[१]

१. ऋग्वेद, ९/७/३। २. वही, १/६१/४।
३. वही, ८/१०२/८।
४. वही, ९/१२१/१।
५. वही, ४/२/१७।
६. संयुत्तनिकाय, भाग–२, पृष्ठ ८३०; सुत्तनिपात, पृष्ठ १५; जातक, भाग–१, पृष्ठ ३६/३२८; दिव्यावदान १३१/२५–२६; मैत्रेयावदान, पृष्ठ ३६।
७. जातक, भाग–१, ३६/३२७।
८. अवदानशतक १/२९३/९; सुत्तनिपात, पृष्ठ १७; शार्दूलकरणावदान पृष्ठ ३२९।
९. जातक, भाग–४, ४५९/३१४।
१०. सुत्तनिपात, पृष्ठ १५; इन्द्रनाम ब्राह्मणावदान, पृष्ठ ४७।
११. सुत्तनिपात, कसिभारद्वाज सुत्त, पृष्ठ १५; दिव्यावदान ४७/३२; जातक, भाग–३ ३८९/४४४–४५।

भूमि के प्रकार– खेती के लिये ऊर्वरक भूमि का होना अति आवश्यक होता था। सामान्यतः यहाँ की भूमि कृषियोग्य होती थी। वैसे, कंकरीली, पथरीली, ऊसर आदि अनेक प्रकार की भूमि होती थी जिसका उल्लेख बौद्ध आगमों में मिलता है। गौतम बुद्ध ने असिबन्धकपुत्र ग्रामणी को धर्मोपदेश में कृषि–भूमि का उदाहरण दिया– ''ग्रामणी! किसी गृहस्थ के तीन खेत हों। एक बड़ा अच्छा, दूसरा मध्यम और तीसरा बहुत हीन जंगल ऊसर। ग्रामणी! तो, क्या समझते हो वह कृषक किस खेत में बीज बोयेगा?'' ''भन्ते! वह कृषक गृहस्थ सर्वप्रथम पहले खेत में बीज बोयेगा, उसके बाद मध्यम खेत में, उसके बाद हीन खेत में बोयेगा भी और नहीं भी बोयेगा। सो क्यों? यदि यहाँ कुछ भी नहीं हो तो गाय–बैल की सानी (खाने का चारा) तो निकल आयगी न!''[२]

उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि कृषिभूमि का निर्धारण उसकी उर्वरक शक्ति के आधार पर किया जाता था। और ऊसर तथा जङ्गल आदि निकृष्ट भूमियों में कअषि–कार्य नहीं होता था। सामान्यतः कृषिभूमि को 'उद्यानभूमि' कहते थे।[३] जो खेत गाँव के समीप होते थे उन्हें 'ग्राम–क्षेत्र' कहते थे।[४] पशु के आहार के लिये जंगली और ऊसर भूमि का भी प्रयोग कर लिया जाता था।[५] सामान्यतः बीजों के आधार पर हम देखते हैं कि धान की कृषि होती थी जिसके लिए प्रथम श्रेणी की कृषिभूमि वह मानी जाती थी जिसके लिये सिंचाई का उपयुक्त ताल (जलाशय) हो और जहाँ कि आवश्यकतानुसार पानी का जमाव हो। हंसजातक में वाराणसी के बहुपुञ्ञ नामक राजा ने अपनी पटरानी खेमा के नाम पर, खेमानामक तालाब बनवाया जिसमें नाना प्रकार के खाने के धान बोये।[६] खेती के लिये जलयुक्त भूमि का प्रयोग होता था। यह भी कृषिभूमि के वर्गीकरण में आता है।

तत्कालीन समय में भी आर्यावर्त की भूमि कृषि कर्म के योग्य थी और खेती ही जीविकोपार्जन का मुख्य स्रोत था। यहाँ की भूमि प्रारम्भ काल से ही उत्पादयोग्य (उपजाऊ) थी। परन्तु इतिहास के अन्य स्रोतों[७] से कृषियोग्य भूमि का वर्णन मिलता है; तो भी बौद्ध साहित्य में इसका विस्तृत विवरण पृथक् से नहीं मिलता। वैसे हम इस निष्कर्ष पर बौद्ध साहित्य के आधार पर ही पहुँचते हैं कि तत्कालीन समाज में भूमि का वर्गीकरण उत्तम, मध्यम एवं निम्न कोटि के आधार पर किया जाता था।

खेत की तैयारी– प्राचीनकाल में खेती का कार्य भी एक धार्मिक कृत्य था। इस के लिये भी शकुन आदि की प्रक्रियाओं का भी सहारा लिया जाता था। बीज बोने की निश्चित तिथियाँ होती थीं।[८] धान बोने के लिये आषाढ़ मास का शुक्ल पक्ष[९] और भाद्रपद मास[१०] उपयुक्त समझा जाता था। खेत की तैयारी के लिये खेत की जुताई अच्छी तरह से हल–बैल द्वारा की जाती थी। एक समय एक नाल नामक ब्राह्मणग्राम में भगवान् बुद्ध

---

१. *जातक भाग–५ ५१४/१३४; संयुत्तनिकाय भाग–१, पृष्ठ १३८।*
२. *संयुत्तनिकाय, भाग–२, देसनासुत्त, पृष्ठ ५८३।*
३. *ललितविस्तर, पृष्ठ १२८/१६।*
४. *महावस्तु, जिल्द–३, ५०/१५।*
५. *संयुत्तनिकाय, देसनासुत्त ५८३।*
६. *जातक, भाग–५, ५०२/११।*
७. *कौटिल्य अर्थशास्त्र, दूसरा अधिकरण, पृष्ठ १००, २३८, २४४।*
८. *दिव्यावदान, ४१४/२४–२५।*
९. *वही, ४१५/२०।*
१०. *वही, ४१५/२१।*

भारद्वाज ब्राह्मण के यहाँ गये जहाँ उस समय, बीजन काल पर कृषि में भारद्वाज ब्राह्मण के ५०० हल लग रहे थे।[१] साथ ही एक घटना श्रावस्ती की है जहाँ भगवान् बुद्ध उदय ब्राह्मण से कहते हैं—

"बार बार बीज बोते हैं, बार–बार मेघराज बरसते हैं,
बार–बार किसान खेत जोतते हैं।"[२]

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि बोने के लिये खेत की तैयारी विधिवत् की जाती थी। गेहूँ, जौ[३] आदि के वपन के लिये कार्तिक न मार्गशीर्ष में शुक्ल पक्ष की पञ्चमी, षष्ठी, सप्तमी के दिन वपन (बोना) अधिक श्रेयस्कर होता था; क्योंकि इनके लिये आर्द्रता (नमी) आवश्यक होती है।[४]

खेतों को तैयार करने के ही सम्बन्ध में भगवान् बुद्ध कृषक गृहपतियों के कर्त्तव्यों का विवेचन करते हैं। भगवान् बुद्ध कहते हैं कि—

"भिक्षुओ! कृषक गृहस्थ शीघ्र से शीघ्र खेत में हल जोतकर उसकी मिट्टी ठीक करता है, शीघ्र से शीघ्र खेत में हल जोतकर मिट्टी ठीक करके बीजों को बोता है तथा बीजों को बोकर शीघ्र जल भी देता है, तथा समय पर बन्द भी करता है। भिक्षुओं, ये तीन कृषक गृहस्थ के अनिवार्य कर्त्तव्य हैं।[५]

कृषियोग्य बीज— इससे स्पष्ट है कि कृषकों के मुख्य तीन कर्त्तव्यों में खेत की तैयारी और बीज बोना मुख्य है। अच्छे बीजों को बोया जाय इसके संदर्भ में—

"भिक्षुओं जैसे ऊँख का बीज हो, धान का बीज हो, अङ्गूर का बीज हो उसे गीली मिट्टी में बोया जाय। वह जो भी पृथ्वी का रस खींचेगा, जो भी पानी खींचेगा, वह खाद के लिये, माधुर्य के लिये होगा। ऐसा किस लिये? भिक्षुओ, वह बीज ही भला है।"[६]

इससे यह विदित होता है कि खेत में बोने के लिये अच्छे बीज चुने जाते थे तो उसका फल भी अच्छा होता था। इस प्रकार के खेतों की तैयारी की जाती थी और उसमें बीज बोये जाते थे।

सिञ्चन (सिंचाई)— खेती का मुख्य अङ्ग सिंचाई है। यदि सिंचाई का कार्य समय से नहीं हुआ या सिंचाई के साधन उपलब्ध नहीं हुए तो उत्पाद (उपज) अच्छा नहीं हो सकता। प्राचीनकाल में सिंचाई के साधनों में विकास नहीं हुआ था फिर भी सिंचाई के लिये विभिन्न प्रकार के उपाय अपनाये जाते थे। हम जब बौद्ध आगमों का अवलोकन करते हैं कि तो स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज में सिंचाई का मुख्य साधन वर्षा का जल ही। वर्षा यदि नहीं होती थी तो सभी सुख–सुविधाएँ समाप्त हो जानी थीं। इसलिये वर्षा ही सिंचाई का मुख्य साधन था।[७] संयुत्तनिकाय के उदयसुत्त में मेघराज को बार–बार वर्षा करने के लिये कहा गया है।[८] मच्छजातक में शास्ता अपनी वर्षायी हुई वर्षा के सम्बन्ध में

१. सुत्तनिपात, भाग–१, पृष्ठ १३८।
२. सुत्तनिपात, भाग–१, पृष्ठ १३९।
३. थेरीगाथा ६६/२६०, पृष्ठ ९२।
४. दिव्यावदान, पृष्ठ ४१५/२२–२३।
५. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग–१, पृष्ठ २४७।
६. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग–४, पृष्ठ २५६।
७. दिव्यावदान ४३/२३।
८. संयुत्तनिकाय, पृष्ठ ३९।

कहते हैं– "एक समय कोशल देश में वर्षा न हीं बरसी तो खेतियां कुम्हला गयीं, जहाँ तहाँ के तालाब, पुष्करणियाँ सूख गयी।[1] इससे ज्ञात होता है कि कूआ[2], तालाब[3], पुष्करणियाँ[4], जलाशय[5], नदी आदि जो भी सिंचाई के साधन मिलते हैं, वे सभी वर्षा के जल पर ही आश्रित थीं।

सिंचाई के लिये मिट्टी के घड़ों का प्रयोग किया जाता था। घड़ों में पानी भरकर सिंचाई का कार्य किया जाता था।[6] इसके अतिरिक्त हमें मज्झिमनिकाय में अङ्गुलिमाल द्वारा ध्यानावस्थित हो विमुक्त सुख का अनुभव करते हुए एक उदान में कहा गया– "(जैसे) नहर वाले पानी ले जाते हैं, वाण बनाने वाले बाण को सीधा करते हैं।"[7] इससे स्पष्ट होता है कि उस समय सिंचाई के लिये नहरों का भी निर्माण होता था। सिंचाई का कार्य बड़ी तत्परता से होता है।[8] सिंचाई के सम्बन्ध में एक प्रसङ्ग में यह आया है कि एक माली मशक से उद्यानों की सिंचाई करता है। बड़ी जड़ वाले पौधे को अधिक पानी और छोटी जड़ वाली थोड़े पानी से सींचता है।[9]

सिंचाई के साधनों में तुला (ढेकली), करकटक (पूर) और चक्कावट्टक (चक्रावर्तक : रहट) का भी उपयोग होता था। क्योंकि बुद्ध भगवान् ने भिक्षुओं को जल पीने की अनुमति इन्हीं स्थानों पर दी थी।[10]

कृषि से सम्बद्ध अन्य कार्य– जिस प्रकार उपज को बोने के लिये खेत की तैयारी, भूमि का चयन एवं सिंचाई आवश्यक है उसी प्रकार उपज की निराई, गुड़ाई, रखवाली एवं उसको काटना तथा काटने के बाद उसकी दवांई (गाहन) करके अन्न प्राप्त करना भी आवश्यक है। बौद्ध आगमों में हमें इनका भी एक लेख प्राप्त होता है।

खेत की निराई एवं गुड़ाई– इस सम्बन्ध में पानीयजातक की एक कथा के अनुसार काशी राज्य के एक गाँव में दो मित्र रहते थे। वे पानी के तुम्बे लेकर खेत पर जाते और उन्हें एक ओर रख कर खेत कोड़ते एवं प्यास लगने पर जल पीते।[11] इससे स्पष्ट है कि लोग परिश्रम के साथ खेत की निराई एवं गुड़ाई सामूहिक रूप से करते थे। वे कृषि–कार्य समुचित विधि से करते थे।

खेतों की सुरक्षा– खेत की रखवाली भी उचित उपायों से करते थे। लक्खणजातक में खेत की सुरक्षा के सम्बन्ध में एक प्रसङ्ग मिलता है, जो इस प्रकार है–

"मगध देश में खेती के दिनों में, खेती पकने के समय जङ्गल में मृगों से खतरा होता था। खेती खाने वाले मृगों को खेती से दूर रखने के लिये लोग जहाँ तहाँ गढ़े खोदते, कांटे लगाते, पत्थर यन्त्रों (गुलेल) को संवारते, कूट पास आदि बन्धन फैलाते थे

१. जातक, भाग–१, पृष्ठ ४७२।
२. दिव्यावदान २१/१२।
३. जातक, भाग–१, पृष्ठ ४७२।
४. जातक, भाग–१, पृष्ठ ४७३; सौन्दरनन्द, पृष्ठ १/५०।
५. सौन्दरनन्द ११/६१।
६. जातक, भाग–५, ५०५/३३।
७. मज्झिमनिकाय, पृष्ठ ३५९; विनयपिटक, चुल्लवग्ग, ४३३।
८. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग–१, पृष्ठ २४७।
९. जातक, भाग–३, २६८, पृष्ठ ७०।
१०. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, ४३२।
११. जातक, भाग–४, ४५९, पृष्ठ ३१४।

जिससे बहुत से मृग मारे भी जाते।[1] इससे स्पष्ट है कि फसलों की सुरक्षा कांटे लगाकर, गढ़े खोदकर, कूटपाश, गुलेल आदि साधनों से की जाती थी।

फसलों के कटाई आदि के सम्बन्ध में अङ्गुत्तरनिकाय में एक प्रसङ्ग इस प्रकार है– ''भिक्षुओ! जैसे किसी कृषक गृहस्थ का धान हो। कृषक गृहस्थ उसे शीघ्रता से कटवाये, शीघ्रता से कटवाकर उसे शीघ्रता से एकत्र कराये, शीघ्रता से एकत्र कराकर उसे शीघ्र उठवाये, शीघ्र उठवाकर उसका ढेर लगवाये, शीघ्र ही उसका ढेर लगवाकर उसका शीघ्र ही मर्दन कराये, यों शीघ्र मर्दन कराकर उपज शीघ्र पृथक् कराये, शीघ्र ही उसे छाज से उड़वाये, शीघ्र ही छाज से उड़वाकर पुनः शीघ्र ही एकत्र करावे, शीघ्र एकत्र कराकर शीघ्र कुटवाये, शीघ्र कुटवाकर उसका 'भूसा' पृथक् कराये। ऐसा होने से भिक्षुओ! उस कृषक गृहस्थ के वे धान समय से पहले प्राप्त होंगे, सारवान् होंगे, शुद्ध होंगे।[2] इस प्रसङ्ग से तत्कालीन किसानों के कृषिकर्मों का ज्ञान होता है।

अन्न (खाद्य पदार्थ)

धान की कृषि– बौद्ध साहित्य के अनुसार उस काल में कृषि कार्य करके अनेक प्रकार की फसलों को पैदा किया जाता था। बौद्ध आगमों में मुख्य रूप से धान की फसल का वर्णन अनेक स्थलों पर हुआ है। इससे यह प्रतीत होता हौ कि उस समय धान की कृषि अधिक होती थी और चावल उनका मुख्य आहार था। अङ्गुत्तरनिकाय में एक प्रसङ्ग में भगवान् बुद्ध भिक्षुओं से कहते हैं– ''भिक्षुओ! चाहे धान की बाली हो या जौ की, वह ठीक से न रखी गयी हो तथा उस पर यदि हाथ या पांव पड़ जाय तो इसकी सम्भावना है कि उससे हाथ या पाँव विंध जायगा और उनमें से रक्त निकल आयगा।''[3]

इसी प्रकार जातकों में भी धान की (सालि) का वर्णन मिलता है। कपिजातक में यह मिलता है– ''एक दिन धान कूटने वाली दासी ने धूप में फैलाये हुये अपने धानों को खाने वाली बकरी को जलती लकड़ी से मारा।[4]'' इसे परिलक्षित होता है कि धान की खेती विशेष रूप से होती थी।

जौ की कृषि– इसके बाद हमें जौ (यव) का वर्णन मिलता है। जौ का उत्पादन भी अधिक होता था।[5]

ईख की खेती– ईख की खेती का भी उल्लेख बौद्ध आगमों में प्रचुर मात्रा में किया गया है। जहाँ-जहाँ धान का उदाहरण दिया गया है, वहाँ-वहाँ गन्ने की खेती का भी वर्णन प्राप्त होता है।[6] ईख की खेती किस से की जाती है, इसका भी उल्लेख किया गया है। भगवान् बुद्ध अङ्गुत्तरनिकाय में भिक्षुओं से कहते हैं, ''भिक्षुओ! जैसे ईख का बीज हो, वह गीली पृथ्वी में गाड़ा गया है, वह जितना भी पृथ्वी-रस को ग्रहण करता है....वह सब मधुर ही होता है।[7]

१. जातक, भाग-१, ११/२३४।
२. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग-१, पृ॰ २४९।
३. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग-१, पृष्ठ ७।
४. जातक, भाग-४-४०४, पृष्ठ १९, ४३२/१६३. ४६३/३५८;
जातक, भाग-५-५०२, पृष्ठ११, अङ्गुत्तरनिकाय, भाग-१. पृष्ठ २४८; दिव्यावदान ४१५/१४।
५. थेरी गाथा, ९२/२६२; अङ्गुत्तरनिकाय, भाग-१ पृष्ठ ७;
दिव्यावदान, १८४/१०. ४१४/२२, ४१५/१४; मिलिन्दपञ्ह, पृष्ठ ४०।
६. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग-३, पृष्ठ ३४९; मिलिन्दपञ्ह, पृष्ठ ५८; जातक, भाग-४, ४६६/३५८, ३६०।
७. अङ्गुत्तरनिकाय ३४।

ईख की पेराई— ईख के पेराई का वर्णन भी बौद्ध आगमों में प्राप्य है। "महाराज! रस निकालने के लिये लोग ईख को कोल्हू में पेरते हैं।"[1] इससे यह स्पष्ट होता है कि ईख की पेराई उस समय तक कोल्हू से की जाती थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि ईख का वर्णन बहुत प्रसङ्गों पर मिलता है। धान और जौ के साथ ही साथ ईख भी तत्कालीन समय में अधिक मात्रा में उपजाई जाती थी।

धान के रोग— धान और गन्ने के खेतों में लगने वाले रोगों का भी वर्णन बौद्ध आगमों में प्राप्त होता है।

"आनन्द! जैसे किसी लहलहाते धान के खेत को सफेदा नामक रोग लग जाता है तो वह धान खेत चिरस्थायी नहीं होता....आनन्द! जैसे किसी लहलहाते ईख के खेत को लाल रोग लग जाता है ता वह ईख का खेत चिरस्थायी नहीं होता।[2] इसे यह विदित होता है कि धान और ईख की खेती पहले के समय से अधिक होती थी, क्योंकि इनका वर्णन हमें विशेष रूप से उदाहरण के रूप में बौद्ध आगमों में प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त उर्द[3], मूंग[4], बाजरा, कपास[5], गेहूँ[6], कोदो, तिल[7], सरसों[8] का भी वर्णन मिलता है, साथ ही साथ सन[9] का भी उल्लेख प्राप्त होता है जिसका वस्त्र-निर्माण में काम आता था।

इस प्रकार बौद्ध आगमों में हमें खाद्य पदार्थों का वर्णन प्राप्त होता है। जितने प्रकार के अन्न हमें प्राप्त होते हैं उसके अलावा और भी अन्न जैसे ककुनी, डारग, कुशुंभ, वरक, कुल्थी, मटर आदि उस समय में प्राप्त होते थे।[10]

कौटिल्य अर्थशास्त्र से तुलना करने पर अन्नों के प्रकार और सिंचाई आदि की प्रक्रियाओं में समानता दिखायी पड़ती है।

फल

आम— बौद्ध साहित्य के आधार पर हम कह सकते है कि उस समय आम के फल को विशेष महत्त्व प्राप्त था। भगवान् बुद्ध ने कई स्थलों पर आम की चर्चा की है। अङ्गुत्तरनिकाय में भगवान् बुद्ध भिक्षुओं से कहते हैं— "भिक्षुओ! आम चार प्रकार के होते हैं—कच्चे किन्तु पके लगने वाले, पके किन्तु कच्चे लगने वाले, कच्चे और कच्चे लगने वाले, पके और पके लगने वाले।[11]

इससे स्पष्ट है कि आमों की ४ प्रकार की किस्में इनके स्वादों पर आधारित थी। आम के रस का पान बनाकर भी पीते थे।[12] आम उस समय के महत्त्वपूर्ण फलों में एक था। आमों के सन्दर्भ में मिलिन्दपञ्ह में नागसेन कहते हैं, "महाराज! कोई आदमी पके

१. *मिलिन्दपञ्ह, पृष्ठ २०५।*
२. *अङ्गुत्तरनिकाय, भाग-३, पृष्ठ ३४९।*
३. *दिव्यावदान ४१५/१४; विनयपिटक, महावग्ग, पृष्ठ २५०।*
४. *वही, १८४/१०।*
५. *वही, १३१/२८; महावस्तु, भाग-३, ५६/१६; विनयपिटक, महावग्ग, पृष्ठ १३५।*
६. *वही, १८४/११।*
७. *वही, ४१५/१४; १८४/६।*
८. *वही, ४३/२०।*
९. *विनयपिटक, महावग्ग पृष्ठ १३५।*
१०. *कौटिल्य अर्थशास्त्र, द्वितीय अधिकरण, प्रकरण-४, अध्याय-२४, पृष्ठ २३८-२४४।*
११. *अङ्गुत्तरनिकाय, भाग-२, पृष्ठ १०४।*
१२. *विनयपिटक, महावग्ग, पृष्ठ २५०।*

आम को खाकर उसकी गुठली रोप दे, उससे एक बड़ा वृक्ष पैदा हो और उसमें फल लगे, तब वह आदमी पुनः उसके पके फल को खाकर गुठली रोपे। उससे भी एक विशाल वृक्ष पैदा हो और उसमें फल लगे इसी प्रकार इस क्रम के अन्त का कहीं ज्ञान नहीं।''[१]

उपर्युक्त उद्धरण से आम लगाने की विधि और उसके महत्त्व का ज्ञान होता है। उसके महत्त्व के ही सन्दर्भ में मिलिन्दपञ्ह में यह बताया गया है कि आम की चोरी करने वाले व्यक्ति को राजदरबार तक उपस्थित किया जा सकता था और चोरी करने वाले व्यक्ति को राजा से दण्ड मिलने की आशा की जाती थी।[२] आम का महत्त्व कम नहीं था।[३] आम के सम्बन्ध में किछन्द जातक में बहुत ही विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। आम के बाग तीन–तीन योजन लम्बे हुआ करते थे। एक तपस्वी आम्र फल खाने के लिये एक नदी के किनारे यह निश्चय कर बैठ गया कि जब तक आम का फल नहीं मिलेगा तब तक यहाँ से नहीं उठूँगा। जब तपस्वी को आम का फल मिला और समाप्त भी हो गया तो आम के स्वादिष्ठ मधुर मनोरम श्रेष्ठ होने के कारण चिन्तित हो गया और वह यह कहता है कि आम से अच्छा कोई दूसरा फल नहीं हैं।[४] आमों के बागों का वर्णन इस प्रकार आया है।

''नरेन्द्र! वह पुष्पों के रस से मदमस्त हुए पक्षियों का निवास स्थान है।''

क्रोञ्चों का, मयूरों का, कोयल तथा मधुशालीय दिव्य पक्षियों का, और वहाँ हंसों के समूह कुंजन करते हैं तथा वहाँ कोयल का गान होता है। यहाँ आम ऐसे हैं कि जिनकी डालें फलों के भार से झुकी हैं जो की अधिकता से शाली धान की पराल के समान हैं, जो पके ताड़ फलों के समान लटके हुए हैं।[५] इससे यह विदित होता है कि फलों में आम सर्वश्रेष्ठ फल था।

जामुन– जामुन के फल का भी वर्णन हमें प्राप्त होता है। बौद्ध साहित्य में जम्बू द्वीप की जो कल्पना की गयी है उसमें जम्बूद्वीप का नामकरण जामुन[६] के नाम पर ही किया गया है। विनयपिटक में यह प्रसङ्ग मिलता है–

''काश्यप! मैं तुझे भेजकर जिस जम्बु (जामुन) के कारण यह 'जम्बुद्वीप' कहा जाता है उससे फल के पहले ही आकर मैं अग्निशाला में बैठ गया। काश्यप यह वही सुन्दर वर्ण, रस एवं गन्धयुक्त जम्बु फल है। यदि चाहता है तो खा''।[७] इस प्रसङ्ग में जामुन की सरसता एवं मधुरता का वर्णन है।[८] जामुन का पान (पेय) भी बनता था।[९]

अंगूर– अंगूर की खेती कैसे होती थी, इसका भी वर्णन बौद्ध आगम में प्राप्त होता है।[१०] अंगूर का फल रसयुक्त होता है और इसका पान (पेय) भी बनता है।[११]

अन्य फल– इसके अतिरिक्त जो महत्त्वपूर्ण फल थे उनमें मोच (केला)[१२],

१. मिलिन्दपञ्ह, पृष्ठ ९७।
२. मिलिन्दपञ्ह ५७/९०।
३. शार्दूलकर्णावदान, पृष्ठ ३२५।
४. जातक, भाग–५, पृष्ठ ९२।
५. वही, ५११, पृष्ठ ९५।
६. वही, ५११, पृष्ठ ९३।
७. विनयपिटक, महावग्ग, पृष्ठ ९२।
८. शार्दूलकर्णावदान, पृष्ठ ३२५; जातक, भाग–४, ४६६/३६०।
९. विनयपिटक, महावग्ग २५०।
१०. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग–१, पृष्ठ ३४।
११. विनयपिटक महावग्ग २५०; शार्दूलकर्णावदान, पृष्ठ ३२५।
१२. जातक, भाग–५, ५११/९२; विनयपिटक महावग्ग २५१; मिलिन्दपञ्ह २०५।

चोच[१], फालसा[२], महुवा[३], पुरसा[४], ढांक[५], कटहल[६], नारियल[७], निप[८], ताड़[९], गूलर[१०], नीम[११], कोसात[१२], आवला[१३], हर्रे[१४]।

वृक्ष– साल[१५], तमाल[१६], चन्दन[१७], पीपल[१८], वरगद, पाकड़, कच्छक, नील[१९], कपित्थ[२०] वहर्रा[२१] आदि नाना प्रकार के वृक्षों का वर्णन मिलता है। साथ ही साथ कैथ, विभीतक, अश्वत्थ, खैर का वृक्ष, नीम का वृक्ष, व्यग्रोध, खजूर, कुटजी, कुड्ड, तगरी, पाढल, उद्दालक, मल्लीय, पुतजीव, ककुध, असन, कोसम्ब, लबुज, धव आदि फूल वाले एवं महत्त्वपूर्ण उपयोगी वृक्षों का भी पता चलता है।[२२]

बाँस– बौद्ध आगम में बांसों का भी उल्लेख आता है।[२३] बांसों का उपयोग सीढ़ी बनाने, मकान आदि बनाने में आता था।[२४] बांस की झाड़ी इतनी घनी हुआ करती थी कि उसमें से निकलना कठिन हो जाता था। ये एक दूसरे में गुथे हुए होते थे।[२५] बांस के सम्बन्ध में यह लोकोक्ति उस समय भी प्रचलित थी कि बांस का विनाश अपने से ही होता है। नागसेन मिलिन्द से कहता है, ''महाराज जैसे केले का वृक्ष, बांस और खच्चरी उसी के द्वारा नष्ट हो जाते हैं जिसको वे स्वयं पैदा करते हैं।[२६]

बेंत– बेंत का भी प्रयोग होता था।[२७] बेंत जैसे आज उपयोगी है ठीक वैसे ही उस समय भी उपयोगी था।

पशु पक्षी और जलचर

मानव जीवन के आर्थिक पक्ष में पशुओं का स्थान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य

---

१. विनयपिटक, पृष्ठ २५१।
२. वही, शार्दूलकर्णावदान २५०।
३. मिलिन्दपञ्ह २०४।
४. जातक, भाग–५, ५१२/९९।
५. विनयपिटक २५१।
६. जातक, भाग–५ ५११/९३; जातक ४ ४६६/३६०।
७. जातक, भाग–५, ४६६/३६०।
८. जातक, भाग–५, ५११/९२।
९. विनयपिटक महावग्ग २०७; जातक भाग–५ ५११/९३।
१०. शार्दूलकर्णावदान, पृष्ठ ३२५; जातक, भाग–५, ५११/९३।
११. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग–१, पृष्ठ ३४।
१२. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग–१, पृष्ठ ३४।
१३. जातक, भाग–५, ५१२/९९; शार्दूलकर्णावदान ३२५।
१४. वही, ५१२/९९; वही।
१५. शार्दूलकर्णावदान ३२५।
१६. वही।
१७. वही; जातक भाग–६ ५४७/५८९।
१८. शार्दूलकर्णावदान ३२५।
१९. सुत्तनिपात, पृष्ठ १२१।
२०. संयुत्तनिकाय, भाग–२, ६६३।
२१. विनयपिटक महावग्ग २१७।
२२. अम्बा कपित्था पनसा साला जम्बू बिभीतका।
हरीतका आमलका अस्सत्था खदिरानि च।।....
कुटजा सलका नीपा कोसम्बा लबुजा धवा।
साला च पुप्फिता तत्थ पलाल खल सन्निभा ३४४–३५२।
जातक ६, ५४७/५८०–८१।
२३. जातक, भाग–५ ५०५/३७; मज्झिमनिकाय, ७१।
२४. जातक, भाग–५ ५०५/३७।
२५. मिलिन्दपञ्ह, पृ० १३०।
२६. वही, पृष्ठ २०५।
२७. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, पृष्ठ ४५३।

और पशु में अन्तर अवश्य है, परन्तु मनुष्य ने जितना प्रेम और स्नेह पशुओं को दिया है उससे कम पशुओं ने भी नहीं दिया। मानव जीवन का प्रारम्भिक आर्थिक इतिहास पशुओं के सहयोगात्मक प्रवृत्ति से ही प्रारम्भ होता है। कृषि के साथ पशुओं का भी महत्त्व रहा है। आज इस वैज्ञानिक युग में हम जितना अधिक यान्त्रिक शक्तियों पर आश्रित होते जा रहे हैं उतना ही आज का मानव पशुओं के प्रति अपनी उदारता की दृष्टि की उपेक्षा करता चला जा रहा है। प्राचीन काल में ऐसी स्थिति नहीं थी। मनुष्य के जन्म के समय से लेकर जीवन के अन्तिम क्षणों तक इन अबोल पशुओं की मित्रता दूध, आमोद, प्रमोद, जीविकोपार्जन, सङ्घर्ष (युद्ध) आदि विविध रूपों में रही है। बौद्ध वाङ्मय में इनके द्वारा विविध रूपों में मानव मात्र की, की गयी सहायताओं का भरपूर उल्लेख है। कभी कभी मानव ने अपनी दानवता से इन पर अत्याचार किया है तो भगवान् बुद्ध ने इनके प्रतिनिधि के रूप में इनपर किये गये अत्याचारों का विरोध किया है।

जातक–अट्ठकथा से प्रकट होता है कि गौतम बुद्ध ने ५०५ बार विभिन्न योनियों में जन्म लेकर पारमिताओं की पूर्ति की थी। जिनमें मनुष्य योनि में ३५९ बार, पशु योनि में कपि के रूप में १८ बार, मृग के रूप में ११ बार, सिंह के रूप में १० बार, गज के रूप में ६ बार, अश्व के रूप में ४ बार, वृषभ के रूप में ४ बार, सिंगाल के रूप में २ बार, सूकर के रूप में २ बार, श्वान के रूप में १ बार, शश के रूप में १ बार। इस प्रकार पशुओं के योनि में ५९ बार जन्म लिया तथा पक्षियों में वनहंस के रूप में ८ बार, दीर्घचञ्चु (सारस) के रूप में ६ बार, कुक्कुट के रूप में ५ बार, बाज के रूप में ५ बार, मोर के रूप में ४ बार, वनकुक्कुट के रूप में १ बार, काक के रूप में २ बार, कठफोड़वा के रूप में २ बार, चील के रूप में १ बार जन्म लिया। इस प्रकार ३४ बार पक्षियों के योनि में जन्म लिया। पशु–पक्षियों को मिलाकर कुल ९३ बार भगवान् बुद्ध ने इनकी योनियों में जन्म लिया। पशु–पक्षियों के योनियों में जन्म लेकर भगवान् बुद्ध ने अपनी अपार उदारता का परिचय दिया है। इनके जन्म लेने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य पशु–पक्षियों से, जिनका इनके आर्थिक जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है, प्रेम एवं दया का भाव रखे। जैसा कि थेरीगाथा में सङ्घभिक्षुणी कहती है–"संन्यास लेकर मैंने घर छोड़ा, प्यारी सन्तान को छोड़ा, प्यारे पशुओं को छोड़ा।"[1]

बौद्ध साहित्य में पशुपालन पर विशेष प्रकाश डाला गया है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन कृषिप्रधान आर्थिक जीवन में पशुओं का कितना महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। एक किसान के लिये बैल, गाय रखना कितना सुखकर होता है इसका उदाहरण हमें सुत्तनिपात में धनिय गोप के उद्गार से स्पष्ट होता है–

"मेरे तरुण बैल हैं और बछड़े हैं, गाभिन गायें हैं और तरुण गायें भी हैं, और सबके बीज वृषभराज भी है। अब, हे देव! चाहो तो खूब बरसो।"[2]

गौ– गायों के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि–

"माता, पिता, भाई या दूसरे बन्धुओं की तरह गौएँ भी हमारी परम मित्र हैं।"[3] इससे स्पष्ट है कि तत्कालीन समाज में गायों का महत्त्व अधिक था। गाय धन के रूप में प्रयुक्त की जाती थी। इनको 'सम्पत्ति' माना गया।[4] इनके महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए यह कहा गया है कि–

---

१. *थेरी गाथा, पृष्ठ ९।*
२. *सुत्तनिपात, पृष्ठ ७।*
३. *वही, पृष्ठ ५९।*
४. *सुत्तनिपात, पृष्ठ ६१।*

"जिस प्रकार मनुष्यों के लिये पानी, पृथ्वी, हिरण्य, धन-धान्य आवश्यक है उसी प्रकार गायें प्राणियों के लिये उपभोग-वस्तु हैं।"[१] उनके स्वभाव के सम्बन्ध में कहा गया है-"न पाद से, न सींग से, न किसी दूसरे अङ्ग से गाय किसी की हिंसा करती है। प्रिय गायें घड़ों भर दूध देने वाली हैं"।[२] गायें दान में भी दी जाती थी। बौद्ध काल में भी गाय-भैंस[३] और बकरी[४] दूध देने के लिये पाली जाती थी।

बैल- हल जोतने के लिये बैलों की आवश्यकता होती थी। बैलों का महत्त्व अत्यधिक था। संयुक्तनिकाय में भारद्वाजगोत्रीय ब्राह्मण अपने खोये हुये बैलों को किस प्रकार उतावला होकर खोजता है।[५] उसका खोजना इस बात का प्रमाण है कि उस समय बैलों की कितनी आवश्यकता थी। इनसे गाड़ियाँ एवं रथ खिंचवाये जाते थे।[६]

ऊँट इत्यादि-इसके साथ-साथ ऊँट[७], गदहे भी काम मे लाये जाते थे।[८] हाथी के दांत का व्यापार होता था।[९]

व्याघ्र- व्याघ्र चर्म के लिये मारा जाता था।[१०] साथ ही साथ सिंह और चीता भी चमड़े के लिये मारे जाते थे।[११] तत्कालीन समाज में चमड़े का जूता और थैला बनता था।[१२] वह बिछाने के काम में भी आता था। रीछ, मछली, सोंस, सुअर, गदहे आदि की चर्बियों का प्रयोग औषधियों के रूप में किया जाता था। इससे इन पशुओं का महत्त्व अपने आप में छिपा नहीं है।[१३] मेष-चर्म, अज-चर्म और मृग-चर्म विस्तर के रूप में उपयोग लाये जाते थे।

अश्व- बौद्ध साहित्य में घोड़ों का महत्त्व भी प्रतिपादित किया गया है।[१४] घोड़ों का व्यापार होता था।[१५] घोड़े रथ खींचते थे। सैन्धव घोड़े[१६] हवा की भाँति तेज चलते थे। उन्हें अच्छे किस्म का घोड़ा माना जाता था।[१७] ऊँटों, बकरों और मृगों का प्रयोग रथ खींचने के लिये होता था।[१८]

बौद्ध साहित्य में मधुर बोलने वाले पक्षियों का भी वर्णन आया है। ककुत्थक, मुर्गी, कोठ, पोक्खर, जातक, काड़मिय, बलीयपक्ष, तोता, मैना, कुररी, कोयल, कबूतर, रविहंस, चक्रवाक पक्षियों का अनेक बार वर्णन किया गया है।[१९]

---

१. वही, ब्राह्मणधम्मिक सुत्त गाथा-२४, पृष्ठ ६१।
२. वही, श्लोक-२६, पृष्ठ ६१।
३. अवदानशतक, जिल्द-१, ३०७/८।
४. दिव्यावदान ४१६/९।
५. सुत्तनिपात, पृष्ठ १३६।
६. जातक, भाग-५ ५०३/२०; महावस्तु; भाग-२ ७०/६१; जातक, भाग-६ ५३९/५६-६०।
७. मज्झिमनिकाय ५१।
८. दिव्यावदान ३/१६-१७; १५०/२०।
९. जातक, भाग-५ ५१४/१३४; जातक, भाग-६ ५४०/८०९; महावस्तु, भाग-२ २१३/८।
१०. जातक, भाग-६ ५४०/८-९; महावस्तु, भाग-२ २१३/७।
११. विनयपिटक, महावग्ग, पृष्ठ २०९।
१२. थेरीगाथा २६५/९३; विनयपिटक, महावग्ग, पृष्ठ २११।
१३. विनयपिटक, महावग्ग २१६; अङ्गुत्तरनिकाय, भाग-२, पृष्ठ २०१।
१४. करुणापुण्डरीक २१/३१।
१५. जातक, भाग-१ ५/२०९।
१६. जातक, भाग-५ ५०३/२०।
१७. जातक, भाग-६ ५३९/५९।
१८. वही, ५३९/६०।
१९. जातक भाग-६, ५४७/५३।

मयूर— मोरों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। यह पक्षियों में मनोहर, चित्रित पङ्ख वाला एवं श्रेष्ठ पक्षी था।[1] बहेलिये (चिड़ीमार) इन पक्षियों को मारकर और उन्हें बेचकर अपनी जीविका चलाते थे।

बटेर— जातक में एक चिड़ीमार का वर्णन है कि वह किस तरह से बटेर पक्षी को मारता है।[2] पक्षियों का व्यापार भी होता था।

बबेरु— जातक में एक कथा मिलती है जिसमें कुछ व्यापारी बबेरुराष्ट्र में अपना जहाज लेकर गये जहाँ पक्षी नहीं के बराबर थे। उनके जहाज पर दिक्काक (दिशा–कौआ) (जो जहाज पर दिशा जानने के लिये जहाज पर रखे जाते थे) लेकर गये थे। जहाँ वह काक सौ कार्षापण में बिका। तदनन्तर, वे व्यापारी दूसरी यात्रा में मौर आदि पक्षियों को भी व्यापार के लिये ले गये। मोर की कीमत एक हजार कर्षापण लगी।[3] इससे हमें यह विदित होता है कि पक्षियों का व्यापार भी तत्कालीन समाज के लोग अपनी आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करने के लिये विभिन्न राष्ट्रों में किया करते थे। इन पक्षियों का भी आर्थिक जीवन में महत्त्वपूर्ण योगदान था।

जङ्गली पशु— इसके अतिरिक्त जङ्गली पशुओं का भी उल्लेख है। व्याघ्र, हाथी, भैंसे, सिंह, भेड़िये, लकड़बग्घे, भालू, चीता, गैंड़ा आदि का वर्णन प्राप्त होता है जो बहुत ही भयानक होते थे। परन्तु उनका उपयोग भी उस समय किसी न किसी रूप में नियन्त्रित करके किया जाता था।[4]

मत्स्य— मछली भी मनुष्य के आर्थिक पक्ष को सुदृढ़ करती है इनका वर्णन भी जातकों में आया है। इनके भेदों (किस्मों) में रोहित, नलपी, संतवङ्क, अलिगगार, पाठी, काकमच्छ, शंकुल, संबक, सिंगी आदि का उल्लेख है।[5]

पशुओं, पक्षियों एवं जलचरों का महत्त्व बौद्ध आगमों से स्पष्ट हो जाता है। पशुओं को पालने वाले को पशुपालक, गोपालक, गोपाल, पशुपाल और इनसे अपनी जीविका चलाने वाले को बहेलिया (चिड़ीमार) मछुआ आदि नामों से सम्बोधित किया जाता था।[6]

जीविका के लिये शिल्प (पेशा) या छोटे उद्योग

बौद्ध साहित्य से यह ज्ञात होता है कि उस समय लोग अपनी जीविका चलाने के लिये विभिन्न व्यवसायों को अपनाते थे जिनका आर्थिक जीवन में किसी न किसी रूप में अत्यधिक योगदान था। इनके विभिन्न कार्यों छोटे–छोटे उद्योगों, व्यवसायों से सम्बद्ध थे। तत्कालीन समाज के आर्थिक स्वरूप का आकलन हम इनके कार्यों से भी कर सकते हैं। इससे यह भी ज्ञात हो सकता है कि इनके कार्य किस प्रकार के थे। यहाँ बौद्ध साहित्य में प्राप्त विभिन्न व्यवसायों का वर्णन किया जायगा।

किसान— खेती करने वालों को किसान (कर्षक) कहा जाता था। ये समाज के महत्त्वपूर्ण अङ्ग थे। इनकी जीविका मूलतः खेती पर ही आश्रित थी।[7]

---

१. वही, भाग–१, ३२/२१६।
२. वही, ३३/३१८।
३. जातक भाग–३, ववेरु जातक ३३९/२९०–९१।
४. जातक, भाग–६, ५४७/५५१; वही, पृष्ठ ६१९; जातक ५३५/४५११।
५. जातक, भाग–६, ५४७/५९०।
६. सुत्तनिपात ७/२४; दिव्यावदान ४८५/८; अवदानशतक भाग–१, ३३१/६–८।
७. जातक, भाग–४, ४५९/३१५; सुत्तनिपात, पृष्ठ १५; दिव्यावदान ३२९/११; शार्दूलकर्णावदान, पृष्ठ ३२९।

बढ़ई– ये भी समाज के महत्त्वपूर्ण लघु उद्योग करने वालों में आते हैं। ये लकड़ी से पादफलक, भद्रपीठक, भाण्ड आदि वस्तुओं का निर्माण करते थे।[1]

कुम्भकार– ये मिट्टी के बर्तन बनाकर अपनी जीविका चलाते थे।[2]

माली– ये लोग फूल–पौधे उगाते थे तथा पुष्पों से विभिन्न प्रकार की मालाओं को निर्माण करते थे।[3]

लोहार– ये लोग लोहे का कार्य करते थे और लोहे से ही विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का निर्माण करते थे।[4]

धोबी– ये कपड़ों को निर्मल (स्वच्छ) कर उससे प्राप्त धन से अपनी जीविका चलाते थे। ये नगर में रहकर अपना कार्य करते थे।[5] धोबी राख, खार या गोबर में गन्दे कपड़ों को मल–मल कर धोता था।[6]

बुनकर– ये लोग कपास से बने हुए सूत से कपड़ों का निर्माण करते थे इन्हें 'कुविन्द' भी कहा जाता था।[7]

स्वर्णकार– ये लोग सोने से आभूषण आदि बनाते थे। इनका महत्त्व अधिक था।[8]

पशुपालक– ये लोग पशुओं को पालते थे इन्हें 'पशुपालक' कहा गया है।[9]

मल्लाह– ये नाव खेते थे और इससे प्राप्त धन से अपनी जीविका चलाते थे। इनका उपयोग सामुद्रिक व्यापार की दृष्टि से भी अधिक था।[10]

मनियारिन– सम्भवत: ये वर्तमान मनिहारे ही थे जो अपने सामानों को घूम–घूम कर बेचते थे।[11]

मछुआरे– ये लोग मछली मारकर अपनी जीविका चलाते थे। इन्हें 'मछुआ' भी कहा जाता था। इनका गाँव होता था जिन्हें मछुओं का ग्राम कहा जाता था।[12]

गन्धी– ये इत्र आदि बेचने का कार्य करते थे।[13]

कसाई (वधक)– ये पशुओं का वध करते थे और इनका मांसे बेचा करते थे।[14]

शिकारी– ये जङ्गलों में जाकर पशु–पक्षियों का शिकार करते थे। इन्हें व्याघ्र कहा जाता था।[15] ये पक्षियों के साथ–साथ मृग आदि का भी शिकार करते थे।

फेरी करने वाले– ये बनियों की ही एक श्रेणी थी जो दरिद्र (गरीब) होने पर

---

१. जातक, भाग–४ ४६५/३५४; वही ४६६/३५८; महावस्तु, भाग–२ ४६४/२०।
२. सुत्तनिपात, पृष्ठ १२७; महावस्तु, भाग–२ ४३४/२,५,८।
३. जातक, भाग–५, ५०५/३६; दिव्यावदान १५३/२२; जातक, भाग–६, ५४५/३१५।
४. जातक, भाग–१, ३८/३३७; दिव्यावदान २८०/२०३।
५. जातक, भाग–६, ५४५/३१५।
६. संयुत्तनिकाय ३७८।
७. महावस्तु, जिल्द–३, २५५/११–१२; दिव्यावदान १७१/१।
८. जातक, भाग–३, २९०/१४९; महावस्तु, जिल्द–२ ४७०/६; जातक, भाग–६, ५४५/३१५; सौन्दरनन्द १५/६८–६९; सुत्तनिपात, पृष्ठ ११।
९. दिव्यावदान ४८५/८; सुत्तनिपात, पृष्ठ ७; रुद्रायणावदान, पृष्ठ ४८५।
१०. महावस्तु, भाग–३, १६६/११–१२।
११. जातक, भाग–६, ५४५/३१५। *१२. जातक, भाग–१, ४१/२५२।*
१३. जातक, भाग–६, ५४५/३१५।
१४. जातक, भाग–५, ५०९/७४; संयुत्तनिकाय, भाग–१, पृष्ठ ३०२।
१५. जातक, भाग–१, ३३/३१८; जातक, भाग–५, ५–१/२–१०; संयुत्तनिकाय, भाग–१, पृष्ठ ३०२।

घूम–घूम कर गाँवों या नगरों की गलियों में सौदा बेचते थे और टूटे–फूटे बर्तनों को खरीदते थे। सम्भवतः वर्तमान ठठेरों को यह संज्ञा दी जा सकती है।

सोरि वाणिज्य जातक में थाली के क्रय–विक्रय का सन्दर्भ आया है।[1]

चिकित्सक (वैद्य)—वृक्षों की जड़–मूल से बनी हुई औषधियों को पोटलियों में बाँध–बाँध कर लोगों को देते और इससे धन प्राप्त कर अपनी जीविका चलाते थे।[2] ये चिकित्सक सर्पों के विष को भी नष्ट कर देते थे। इनकी पारङ्गतता के सम्बन्ध में धन्वन्तरि, वैतर्णी एवं भोज नामक वैद्यों का उल्लेख आया है।[3]

जादूगर— ये अपने चमत्कारयुक्त कार्यों से लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करते थे। ये रंगभूमि में मायावीपन दिखाकर जनता को मुग्ध कर लेते थे। घोर विद्या के अभ्यासी जादूगर औषधि लेकर अदृश्य हो जाते थे। इस प्रकार धन उपार्जन का कार्य करते थे।[4]

जादूगरनी— जादूगरों का काम स्त्रियों करती थीं तो उन्हें जादूगरनी कहा जाता था।[5]

गणिका— ये समाज की स्त्रियों में से ही होती थीं, जबकि इनका कार्य भी नृत्य गीत आदि द्वारा जीविकोपार्जन के लिये ही होता था।[6]

वेश्या— ये पैसा लेकर अपना स्त्रीत्व बेचती थीं।[7]

कपड़े बेचने वाला— यह भी एक व्यवसायी वर्ग था जो कि कपड़ा बेचता था। इन्हें 'दुस्सिक' कहा जाता था।[8]

रसोइया— ये लोग भी अपना जीवन उच्चकुलीन घरों में भोजन बना करके चलाते थे।[9]

नट— ये कला दिखाने वाली जाति थी। इनकी शारीरिक कला ही इनके जीवन–यापन का मुख्य आधार थी।[10] ये लोग सबको रङ्गमञ्च पर सच या झूठ अभिनय से हंसते और हंसाते थे। रङ्गमञ्च पर इनकी कौतुक रागमयी क्रीड़ाएँ अधिक राग उत्पन्न कर देती थीं।

नर्तक— ये लोग नाच कर अपना जीवन–यापन करते थे।[11]

गायक— ये गाने वाले होते थे। इनका स्वर मधुर होता था और ये लोग सङ्गीत द्वारा अपना जीवन–यापन करते थे।[12]

ताली बजाकर गाने वाले— उन्हें 'तालिक' कहा जाता था। ये तालिया बजाकर खाने वाले होते थे।[13]

---

१. जातक, भाग–३, १९०–१९१।
२. जातक भाग–४, ४९५/५७०; जातक भाग–४, ४६७/३७१।
३. जातक, भाग–५, ५१०/८७।
४. जातक, भाग–५, ५१०/८६–८७। ५. वही, ५०७/६३।
६. जातक, भाग–६, ५४५/३१४।
७. जातक, भाग–६, ५४५/३१४। ८. वही, ५४५/३१५। ९. वही।
१०. महावस्तु, भाग–३, २५५/११; भाग–३, ४४२/८; संयुत्तनिकाय, भाग–२, पृष्ठ ५८१; जातक, भाग–६, पृष्ठ ३१५।
११. जातक, भाग–६, ५४५/३१५; महावस्तु, भाग–३, २५५/११।
१२. जातक, भाग–६, ५४५/३१४।
१३. वही, ५४५/३१५; महावस्तु, भाग–३, ४४२/८।

घड़े बजाकर गाने वाला– ये 'कुम्भधुनिक' कहे जाते थे। ये घड़ा बजा–बजा कर गाते थे।[१]

ग्वाले– इन्हें 'गोपाल' भी कहा जाता था। ये चरवाहे होते थे इनके सम्बन्ध में भगवान् बुद्ध ने कहा है कि– "भिक्षुओ! जिस ग्वाले में ११ गुण होते हैं वही ग्वाला गोओं को चराने के लिये ले जाने के योग्य होता है और उनकी उन्नति करता है।"[२]

चित्रकार– जो नाना प्रकार के चित्रों को बनाते थे तथा इससे अपनी जीविका चलाते थे।[३]

पनिहारिन– ये स्त्रियाँ जो बड़े घरों में पानी भरती थीं और उससे प्राप्त धन से जीवन–यापन करती थीं। थेरीगाथा में एक भिक्षुणी अपने विषय में कहती है कि "मैं पनिहारिन थी तथा सदा पानी भरना ही मेरा काम था।"[४]

ज्योतिषी– ये लोग लक्षणविद्या से अपनी जीविका चलाते थे।[५]

रञ्जक– ये लोग कपड़ों के रंगने का कार्य करते थे इन्हें रंगरेज भी कहा जाता था।[६] इसी से जीवन–यापन करते थे।

नाई– यह भी एक प्रमुख जाति थी जो सिर के बालों को बना–सँवार कर उससे प्राप्त धन से अपनी जीविका चलाती थीं।[७]

हाथी दांत के काम करने वाले– ये लोग सामान्य प्रयोग में आने वाली छोटी–मोटी वस्तुएँ हाथी–दांत से निर्मित करते थे। साथ ही वे मूल्यवान् नक्काशी का काम हाथी के दाँत पर करते थे।[८]

चमड़े के काम करने वाले (चर्मकार)– ये लोग विभिन्न पशुओं के चमड़ों से थैले, रस्सी, जूते आदि का निर्माण करते थे।[९]

सूदखोर– ये लोग धन देकर उसके व्जाय (सूद) से अपनी जीविका चलाने का कार्य करते थे जिसका विरोध बुद्ध भगवान् द्वारा जातक में किया गया है।[१०]

खेलुक– ये खेल खेलकर तथा लोगों का आमोद–प्रमोद करके अपना जीविकोपार्जन करते थे।[११]

गान्धर्विक– ये लोग वीणा बजा–बजा कर लोगों को सङ्गीत सुनाते थे।[१२]

मणिकार– ये लोग विभिन्न प्रकार की मणियों व बहुमूल्य रत्नों से आभूषण बनाते थे।[१३]

---

१. जातक, ५४५/३१५।
२. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग–४, पृष्ठ ३६३; दिव्यावदान ४८५/८; मज्झिमनिकाय ५०।
३. थेरीगाथा ६६/२५६; दिव्यावदान ४२/१२।
४. थेरी गाथा, ६५/२६६।
५. जातक, भाग–३, पृष्ठ २८९/१४६–४७।
६. महावस्तु ४६७/११–१५।
७. जातक, भाग–२, पृष्ठ २९२।
८. जातक, भाग–५, ५१४/१३४; जातक, भाग–६, ५४०/८–९।
९. थेरीगाथा ६६/२६५; विनयपिटक, महावग्ग, २०९; जातक, भाग–६ ५४०/८–९; संयुत्तनिकाय, भाग–१, पृष्ठ ३०२, अङ्गुत्तरनिकाय, भाग–१, ३३/११०।
१०. जातक, भाग–४, ४६९/३८२।
११. महावस्तु ३/२५५/१२।
१२. वही, ४४२/८।
१३. महावस्तु ३/२५५/१३।

बांसफोड़— ये लोग बांस से अनेक प्रकार की जीवनोपयोगी वस्तुओं का निर्माण करते थे। वर्तमान में इन्हें 'धरकार' कहा जाता है।[1] इससे ये अपना जीवन–यापन करते थे।

योद्धा— ये लोग अस्त्र–शस्त्र से राष्ट्र की रक्षा करते थे। युद्ध में लड़ने का कार्य करते थे।[2]

तृणहारक— ये घसियारा होते थे। ये लोग घास बेंचकर अपनी जीविका चलाते थे। इनका उद्यम यही था।[3]

काष्ठहारक— इसे 'लकड़हारा' भी कहते थे ये अपनी जीविका लकड़ी बेंच कर करते थे।[4]

इनके अतिरिक्त और भी बहुत से लोग सेवा करके, खेल–खिलौने आदि बनाकर, बेंत की टोकरियाँ आदि बनाकर, पत्थर आदि काटकर, एवं सूई आदि का निर्माण करके अपना जीविकोपार्जन करते थे।[5]

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् बुद्ध के समय में लोग स्वजीविकोपार्जन के लिये विभिन्न प्रकार के उद्यम करते थे। इनका संगठन भी होता था जिन्हें पूग[6] या गण के नाम से जाना जाता था। इनके सङ्घ को श्रेणिय[7] भी कहा जाता था। पूग के प्रधान अधिकारी को पूग ग्राम'णीक कहा जाता था।[8] पालि बौद्ध साहित्य में इनका विस्तृत उल्लेख नहीं है। फिर भी पूग या गण इन व्यवसायियों का एक प्रकार का सङ्घ था।

व्यापार

व्यापार आर्थिक जीवन में उत्पादन की अधिकता जनसामान्य की समृद्धि एवं सम्पन्नता का परिचायक है। प्राचीन काल में व्यापार की बहुत प्रगति हुई थी। जिसका आकलन हम बौद्ध साहित्य के माध्यम से करेंगे। बौद्ध साहित्य के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जल एवं स्थल दोनों भागों से वणिक् लोग व्यापार करते थे। व्यापार करने वालों के सामने जो बहुत सी कठिनाइयां आती थी उनका भी उल्लेख प्राप्त होता है। व्यापार उस समय तक स्वतन्त्र था, उसके लिये वणिक् अथवा व्यापारिक वर्ग ही उत्तरदायी था। राज्य के माध्यम से व्यापार नहीं होता था। व्यापार अन्तर्देशीय एवं विदेशी—दोनों प्रकार के होते थे।

(१) स्थल मार्ग से व्यापार

उस समय व्यापारी स्थल मार्ग से व्यापार करते थे। अपण्णकजातक में ५ सौ गाड़ियां लेकर व्यापार के लिये पूर्व देश से अपरान्त देश एवं अपरान्त देश से पूर्व देश जाने का उल्लेख है।[9] ये लोग ६० योजन[10] तक की लम्बी यात्रा व्यापार के लिये करते थे।

---

१. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग–१, १३/११०।

२. मज्झिमनिकाय, पृष्ठ ४५४।

३. जातक, भाग–१, ४/२०३; मज्झिमनिकाय ५१।

४. मज्झिमनिकाय, ५१।

५. जातक, भाग–३, ३८७/४३५; विनयपिटक चुल्लवग्ग, पृष्ठ ४३०–४९, संयुत्त निकाय, पृष्ठ ३०३।

६. दिव्यवदान, ९५, २४।

७. बुद्धचर्या, पृष्ठ ३०९।

८. वही, पृष्ठ ३८३।

९. जातक, भाग–१, १/१७६–७७।

१०. जातक, भाग–१, २/१८६।

इनके रास्ते में विविध प्रकार की कठिनाइयां उत्पन्न होती थी। ये गाड़ियों के माध्यम से जब अपने व्यापार के लिये चलते थे तो उन्हें रास्ते में विविध प्रकार के कान्तार (वन) प्राप्त होते थे। ये पाँच प्रकार के होते थे–चोरों का कान्तार, व्याल (हिंसक) जन्तुओं का कान्तार, भूतों का कान्तार, निर्जल और अल्पभिक्ष कान्तार।[१] इन कान्तारों को पार करने के लिये ये लोग गाड़ियों में बड़े–बड़े जल से भरे मटके रखते थे तथा भोजन–सामग्रियाँ रखवा लेते थे। गाड़ियों में तिल, चावल आदि खाद्य–सामग्री लदवा कर व्यापार के लिये चलते थे। कान्तारों की यात्रा समुद्र जैसी कठिन यात्रा होती थी। इसलिए वे अपने पास दिशा–प्रदर्शक (स्थलनियामक) यन्त्र लेकर चलते थे। वह दिशा–प्रदर्शक नक्षत्रों को देखकर सार्थवाह (काफिले) को कान्तार से पार उतारता था।[२] इस प्रकार वे अपना मार्ग तय करके व्यापार करते थे। व्यापार के स्थल–पथ–कर्मिक एवं जल–पथ–कर्मिक कर्मचारी हुआ करते थे।[३] मूल्य निश्चित करने वाले अधिकारी को 'अर्थकारक' कहा जाता था। ये लोग घोड़ा, हाथी, मणि, सुवर्ण आदि का मूल्य निश्चित करके व्यापारी को उचित मूल्य दिलवाते ते।[४] व्यापारिवर्ग निरन्तर व्यापार करता रहता था; क्योंकि व्यापार न करने से धन में कमी आंती थी। व्यापारिकवर्ग एक दूसरे से सम्बन्ध बनाये रखते थे। प्रत्यन्त देश के एक व्यापारी ने अपने आदमियों से कहा कि प्रत्यन्त देश के इस उत्पाद (पैदावार) को श्रावस्ती ले जाओ जहाँ हमारा मित्र सेठ अनाथपिण्डक रहता है और इसके बदले में उस से अमुक सामान ले आवो। इसी तरह अनाथपिण्डक ने भी ५०० गाड़ियां प्रत्यन्त देश में भेजी।[५] इससे ज्ञात होता है कि व्यापार करने में विभिन्न देशों के व्यापारिकवर्ग आपस में सद्भावनापूर्ण सम्बन्ध बनाये रखते थे।

आपस में मिल करके साझे में भी व्यापार किया जाता था। इनका परस्पर समझौता भी रहता था। ये बहुत बुद्धिमत्ता के साथ सम्मिलित (साझा) व्यापार करते थे।[६] व्यापारीवर्ग जङ्गल के रक्षकों को मुद्राएं देकर जङ्गल पार करते थे। क्योंकि जङ्गलों में अनेक प्रकार के चोर, डाकू, बदमाश रहा करते थे। इस प्रकार ये लोग व्यापार करने के लिये हर बाधाओं को सहने के लिये तैयार रहते थे।[७]

ये लोग नाना राष्ट्रों से आये हुए व्यापारियों की समिति गठित करते थे और एक प्रधान नियुक्त कर व्यापार आदि का कार्य सम्पादित करते थे।[८] ये लोग नाविक विद्या में भी पारङ्गत हुआ करते थे।[९]

स्थल–व्यापार के लिये रथ, बैल, गाड़ी ऊँट आदि का प्रयोग करते थे।[१०] व्यापार करने से पूर्व ये लोग अपने व्यापार की सफलता हेतु धनदायी देवता की पूजा आदि करके व्यापार यात्रा प्रारम्भ करते थे।[११] इन व्यापारियों को 'सत्थवाह' कहते थे; क्योंकि पाँच–पाँच सौ व्यापारी एक साथ झुण्ड बनाकर यात्रा करते थे।

---

१. वही, १/१७७; महावस्तु, भाग–३ ३०३/४–६।
२. वही, २/१८७।
३. जातक, भाग–१, ४/२०४।
४. वही, ५/२०७।
५. वही, ९०/५३५।
६. वही, ९८/५७०।
७. जातक, भाग–३, २६५/६०।
८. जातक, भाग–४, ४९३/५५९।
९. वही, ४६३/३३८।
१०. जातक, भाग–१, ५/२०७; जातक, भाग–३, २६५/६०; कोटिकर्णावदान, पृष्ठ–३।
११. जातक, भाग–४, ४९३/५५९।

फेरी करने वाले व्यापारी भी बहुत दूर–दूर तक चले जाते थे। ये लोग नगर की गलियों को आपस में बांट लेते थे और घूम–घूम कर अपने मालों को बेचते थे।[1] ये लोग अत्यधिक कार्यकुशल हुआ करते थे। व्यापारिक कलाओं में ये इतने निपुण हुआ करते थे कि चुल्लसेट्ठि, जिसके पास कुछ नहीं था, अपनी कार्यकुशलता से सेट्ठि बन गया।[2]

उस समय में श्रावस्ती, काशी, राजगृह आदि नगर व्यापार के मुख्य केन्द्र बने हुये थे। अनाथपिण्डक अपने समय का अत्यधिक धनाढ्य व्यापारी था; वह श्रावस्ती का ही रहने वाला था। ये व्यापारी लोग चतुर होते थे, निरर्थक धन नष्ट नहीं करते थे।[3]

(२) जलमार्ग से व्यापार

हमारे देश में प्राचीन काल से ही जलमार्ग से भी व्यापार होने की जानकारी प्राप्त होती है। जलमार्ग से व्यापार तो होता ही था, विचारों को भी दूर दूर तक प्रचारित करने का कार्य भी हुआ। बौद्ध आगमों, विशेषकर जातकों में इसका उल्लेख अधिक प्राप्त होता है। वैसे अङ्गुत्तरनिकाय, संयुत्तनिकाय, विनयपिटक, दिव्यावदान, महावस्तु और अवदानशतक में भी इसके उद्धरण मिलते हैं। इससे हमारी प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति पर भी प्रकाश पड़ता है और विचारों के क्षेत्र की तरह आर्थिक क्षेत्र में भी हमारे पूर्वज कितने दृढ़ एवं समुन्नत थे–इसका ज्ञान होता है। जलमार्ग द्वारा जो व्यापार होता था, वह बहुत ही कष्टकर एवं भयानक होता था। फिर भी लोग कठिनाइयों से युद्ध कर व्यापार कार्य में संलग्न रहते थे। उन लोगों की कार्यकुशलता, क्षमता, दृढ़ विश्वास और स्वदेशप्रेम के आख्यानों से बौद्ध साहित्य भरा पड़ा है। इनका व्यापारिक जीवन देश को प्रगति एवं धन–धान्यपूर्ण बनाने के लिये एवं विदेशी राज्यों के साथ सम्बन्ध बनाने में सहायक सिद्ध हुआ है।

जलमार्ग से व्यापार करने के लिये व्यापारी समूह बनाकर जाया करते थे। अङ्गुत्तरनिकाय में भगवान् बुद्ध और आनन्द की वार्ता में कम्बोज (कम्बोडिया) व्यापार करने के लिए स्त्रियां क्यों नहीं जाती–इसका प्रसङ्ग आया है।[4] इस वार्ता से स्पष्ट होता है कि कम्बोज तक ये वणिक् लोग व्यापार के लिये जाया करते थे। ये वणिक् लोग नाविक विद्या में पारङ्गत हुआ करते थे। सुप्पारक नामक जातक में व्यापारी नौका तैयार करते हैं और अन्धा होने पर भी सुप्पारक को नाव–निदेशक बनाते हैं।[5] ये महीनों तक समुद्र की यात्रा करते थे। इनकी सामुद्रिक यात्रा में खुरभाल समुद्र आता था जिसमें मनुष्य शरीर के समान उस्तुरे की तरह तेज मछलियां पानी से ऊपर नीचे जाती आती थी। अग्निभाल समुद्र आता था जिसके जल का प्रकाश प्रज्वलित अग्निस्कन्ध तथा मध्याह्न के सूर्य के समान था। दधिमालक समुद्र आता था जिसका जल दूध दही की तरह चमकने वाला था। नीलवर्ण कुसभाल समुद्र आता था जिसका जल हरे तृण की तरह हरा अथवा धान की तरह नीला था। बालभाल नामक समुद्र आता था जो बांसों के वन की तरह दिखायी देने वाला था, वड़वामुख समुद्र जिसका जल उछल उछल कर चारों ओर जाता था, द्रमिले जिसमें क्रमशः हीरा, सोना, चांदी, मणि, विल्लौर आदि रत्न प्राप्त हुए।[6] इनके जहाज

१. जातक, भाग–१, ३/१९१।
२. वही, ४/२०३।
३. जातक, भाग–४, ४५८/३०९।
४. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग–२, पृष्ठ ८३।
५. जातक, भाग–४, ४६३/३३९।
६. वही, ४६३/३४०–३४२।

(यानपात्र) बड़े–बड़े होते थे।[१] जिसमें ७०० व्यापारी अपने सामानों के साथ बैठ सकते थे।[२] ये लोग जहाजों में दिशाज्ञान के लिये 'दिशा काक' रखते थे। बबेरु राष्ट्र तक व्यापार करने के लिये जाते थे। बबेरु जातक में पक्षियों के व्यापार का उल्लेख है।[३] ये व्यापारी जब व्यापार के लिये समुद्र में अपनी नौका लेकर जाते थे तो वहाँ जल–राक्षस उनके लिये बाधा उत्पन्न करता था।[४] कान्तार की यात्रा जिस तरह कठिन होती थी उसी तरह समुद्र की यात्रा भी दुष्कर थी।[५] समुद्र में तूफान[६] आदि के कारण जहाजों के नष्ट होने का भय बना रहता था। ऐसी दशा में वे देवी–देवताओं की प्रार्थना भी करते थे।[७] उस समय व्यापारी, व्यापार के लिये जाते समय, देवताओं को बलि चढ़ाकर यह याचना करते थे कि विना किसी विघ्न बाधा के लौट आने पर पुनः बलि–कर्म करेंगे।[८]

पण्य

उस समय में व्यापार विकसित था। व्यापार विभिन्न वस्तुओं, द्रव्यों, धातुओं का होता था। जिन्हें 'पण्य'[९] कहते थे। निम्नलिखित पण्यों का बौद्ध आगमों में उल्लेख हुआ है। **अश्व–पण्य**—घोड़े के व्यापारी वाराणसी, तक्षशिला आदि स्थानों पर व्यापार करते थे।[१०] वाराणसी में उत्तरापथक घोड़े का व्यापारी ५०० घोड़े लेकर आया था।[११] इस व्यापार में उन्हें अत्यधिक धन प्राप्त होता था।[१२]

रत्नपण्य—रत्न समुद्रों से अधिक प्राप्त होते थे और ये इन्हें प्राप्त कर अपने देश (जम्बूद्वीप) लौट आते थे। वहाँ इन्हें हीरे, विल्लोर, मणि, मूंगे, स्वर्ण, चाँदी, नील मणि आदि प्राप्त होते थे।[१३] काला लोहा (अयस्), लोहा, त्रिपु (जस्ता), सीसा[१४], आदि बहुमूल्य धातुओं का भी व्यापार होता था।[१५]

विनिमय

वाणिज्य एवं व्यापार में विनिमय का अत्यधिक महत्त्व है। पहले वस्तुओं के आदान–प्रदान से व्यापार होता था; परन्तु बाद में चलकर मुद्राओं का विकास हुआ। बौद्ध साहित्य में हम देखते हैं कि उस समय तक मुद्राओं का विकास हो चुका था। बौद्ध साहित्य में कार्षापण[१६], निकष[१७] (निष्क), मासक[१८], हिरण्य[१९] (मोहर), सुवर्ण[२०], पुराण[२१] का उल्लेख

---

१. महावस्तु, भाग–३, २८६/ १७–१८।
२. जातक, भाग–४, ४६३/३४२।
३. जातक, भाग–३, ३३९/२९०–९१।
४. जातक, भाग–६, ५२९ पृष्ठ ३४४।
५. जातक, भाग–१, २/१८६।
६. दिव्यावदान, १४४/८; १०५/२३, २५/८।
७. जातक, भाग–१, ४६३/३४०।
८. जातक, भाग–१, १९/२६६।
९. दिव्यावदान, ३/१७, १७/११
१०. जातक, भाग–१, ४/२०४।
११. वही, ५/२०८।
१२. महावस्तु, भाग–२, १६७/१, २/१७५/३–८।
१३. जातक, भाग–४, ४६३/३४१।
१४. संयुक्तनिकाय, भाग–२, ६६३।
१५. जातक, भाग–१, ३/३९१; सद्धर्मपुण्डरीक २५/१४–१७।
१६. मज्झिमनिकाय ३९५:, जातक भाग–४, ४०२/६–८।
१७. जातक, भाग–५, ५०१/१०; दिव्यावदान ४९/१, ८।
१८. जातक, भाग–४, ४२१/१०६; दिव्यावदान १८/२८।
१९. विनयपिटक, चुल्लवग्ग ४६१।
२०. दिव्यावदान १९/१९।
२१. महावस्तु, भाग–१, २३२/६७।

प्राप्त होता है। इन सिक्कों के अतिरिक्त करिस[1] का उल्लेख सालिकेदारजातक में प्राप्त होता है।

वस्त्रउद्योग— बौद्ध साहित्य में हमें वस्त्रउद्योग का पर्याप्त विवरण मिलता है। उस समय कपास की खेती होती थी और उससे वस्त्र निर्मित होता था। तत्कालीन समाज में लोग सन के कपड़े[2], वृक्षविशेष की छाल से बने हुए कपड़े, चमड़े से बनी पट्टियों के कपड़े, कुश से बने हुए कपड़े पहनते थे।[3] बालों से बने कम्बल और पक्षियों के परों से बने वस्त्र का भी निर्माण होता था।[4] इसके लिये काशी अत्यधिक प्रसिद्ध रहा है।

भगवान् बुद्ध अङ्गुत्तरनिकाय में कहते हैं— "भिक्षुओ! काशी का नया वस्त्र भी सुन्दर होता है, चिकना होता है, कुछ समय काम में लिया हुआ भी काशी का वस्त्र सुन्दर होता है, पुराना काशी का वस्त्र भी सुन्दर होता है, रत्न काशी के पुराने वस्त्र में भी या तो लपेटे जाते हैं या सुगन्धित पतों में रखे जाते हैं।" इससे स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज काशी वस्त्रों के उद्योगों का केन्द्र बनी हुई थी। काशी वस्त्रउद्योग में प्रमुख थी इस सम्बन्ध में भगवान् बुद्ध स्वयं कहते हैं— "भिक्षुओ! जब मैं सुकुमार था तो मेरी पगड़ी, निवसन (पहनने का वस्त्र), उत्तरासङ्ग (चादर) काशी के ही होते थे।[5] काशी का रेशम भी प्रसिद्ध था। काशी का रेशम सूक्ष्म एवं सुन्दर होता था।[6] स्त्रियां काशी के बने रेशमी वस्त्रों को पहनने के लिये उत्सुक रहा करती थीं।"[7]

गन्ने का उद्योग— गन्ने की खेती होती थी।[8] इससे खण्डिकारक[9], शक्कर[10], गुड़पाचक[11] नामक वस्तुओं के सम्बन्ध में पता चलता है। गुड़ का व्यापार भी होता था।[12]

चर्म उद्योग— उस समय में चमड़े का उद्योग भी होता था; क्योंकि चर्मकारों की भी एक श्रेणी थी।[13] विभिन्न पशुओं के चमड़ों से जूते, चमड़ों की थैलियाँ आदि बनाये जाते थे।[14] जङ्गल के पशुओं के चमड़ों का उद्योग में विशेष स्थान था।[15]

धातु उद्योग— धातु के उद्योगों का भी विकास हो चुका था। स्वर्णकार सोने को पहले अच्छी तरह धोता था। जब स्वर्णकला ही शेष रह जाती थी तब सुनार या सुनार के शिष्य उस सोने को भूस (कुठाली) में डालकर तपाता था।[16] उसके बाद वह पुनः साफ

१. दिव्यावदान २०/१३, २६/४०।
२. दिव्यावदान, ५२/३२।
३. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग–२, १९८–९९; महावस्तु, भाग–३, २१६/६
४. वही; महावस्तु, भाग–१, १४९/५।
५. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग–१, पृष्ठ १४८; दिव्यावदान १९६/१३।
६. थेरीगाथा ७१/३७४।
७. वही, ६८/२९८।
८. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग–१, ३४; अङ्गुत्तरनिकाय, भाग–३, पृष्ठ ३४९।
९. महावस्तु, भाग–३, ४४२/१४।
१०. महावस्तु, भाग–२, ११३/११।
११. महावस्तु, भाग–३, ४४२/१६।
१२. विनयपिटक, महावग्ग, पृष्ठ २३६।
१३. दिव्यावदान, १२/६।
१४. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग–१, पृष्ठ २६२, २१७।
१५. विनयपिटक, २०९।
१६. सौन्दरनन्द, १५/६८।

होता था, तपाया हुआ होता था, कोमल होता था, कमनीय एवं भास्वर होता था। इस प्रकार स्वर्णकार उसके कर्धनी, कुण्डल, कड्डा, माला आदि बनाते थे।

लोहा, चाँदी आदि से कुल्हाड़ी, खेती से सम्बद्ध सामान आदि का निर्माण होता था। इस प्रकार धातु उद्योग यथेष्टरूप से तत्कालीन समय में विकसित हो चुका था। व्यापार आदि कार्यों में इन धातुओं का अत्यधिक महत्त्व था।

मृत्पात्र उद्योग— बौद्धागमों से यह ज्ञात होता है कि उस समय मिट्टी के पात्रों का उद्योग भी विकसित हो चुका था। मिट्टी से गोरथ, अजरथ, मगरथ आदि रंग-बिरंगे खिलौने बनते थे। जो बच्चों के खेलने के काम आते थे।[१] साथ ही साथ मिट्टी के भाण्ड आदि का निर्माण होता था।[२]

लौह उद्योग— लोहे का उद्योग भी काफी विकसित हो चुका था जिससे कारीगर, छोटी कुल्हाड़ी, कुदाल, खन्ती, हथौड़ी, हंसिया, खुरपा, तलवार, लोहे का डंडा, आरा, खूंटे तथा लोहे के चक्कर आदि बनते थे।[३]

काष्ठ उद्योग— बढ़इयों का वर्ग चारपाई, पीढ़ा, घर बनाने से सम्बद्ध उपकरण बनाते थे।[४] ये लोग गाड़ियों, रथों आदि का भी निर्माण करते थे।[५] इस प्रकार विविध प्रकार के उद्योगों का विकास हुआ था। इससे तत्कालीन जनसामान्य के आर्थिक जीवन की दृढ़ता का आभास मिलता है एवं व्यापार में इन उद्योगों से उत्पादित वस्तुओं की महत्वपूर्ण भूमिका थी।

श्रमिक (मजदूर) वर्ग

श्रम (मजदूरी) करके जीविका चलाने वाले को 'मजदूर' की संज्ञा दी जाती है। इस वर्ग के पास धन नाम की कोई वस्तु नहीं होती थी। इनका श्रम ही इनका धन था। इन लोगों का आर्थिक पक्ष को सुदृढ़ बनाने में अत्यधिक योगदान होता है; क्योंकि श्रम के विना उद्योग या कृषि असम्भव है। आज इस औद्योगिक युग में इनका जितना योगदान है उस युग में भी कम नहीं था। उस समय भी विभिन्न व्यवसाय के लोग अपने व्यवसायों के माध्यम से लघु उद्योग आदि कार्य सङ्घ के रूप में करते थे। परन्तु यह वर्ग भी किसी न किसी रूप में अपने श्रम के बल पर समाज के लोगों के साथ जुट कर जीविकोपार्जन में लगा हुआ था। बौद्ध आगमों में इनका उल्लेख प्राप्त होता है।

कृषि-कार्यों में मजदूर वर्ग का अत्यधिक योगदान था। कृषिभारद्वाज ब्राह्मण पाँच सौ हलों से अपने खेत जुतवाता था तथा अपने उन मजदूरों को खाना भी देता था।[६] इससे स्पष्ट है कि खेतों को जोतने का कार्य मजदूरवर्ग ही करता था। मजदूरी करने वाला वर्ग दरिद्र कुल का होता था। मजदूर वर्ग प्रातः खेत पर जाकर सायङ्काल ही लौटता था। वे श्रम का ख्याल न कर कार्य करते थे। मजदूरों को उत्सवों के दिन प्रातःकाल ही भोजन मिल जाता था।[७] व्यापार के कार्यों में भी उनका योगदान था। इनका क्रयविक्रय भी होता था। ये दास के रूप में भी अपना जीवन व्यतीत करते थे।[८]

१. सद्धर्मपुण्डरीक, पृष्ठ ८१। *२. जातक, भाग-५।*

३. जातक, भाग-५, पृष्ठ ५१४/१३४; दिव्यावदान ७७/१०।

४. जातक, भाग-४, ४६६/३५९; दिव्यावदान १०२/२।

५. दिव्यावदान ३/१६, १५०/२।

६. संयुत्तनिकाय, भाग-१, पृष्ठ १३८।

७. जातक, भाग-४, ४२१/१०४-५। *८. जातक, भाग-१, ३९/३३९।*

संयुत्तनिकाय में एक भिक्षु और बन में रहने वाले देवता की वार्ता इस प्रकार होती है– "मैं आपकी नौकरी नहीं करता, न आपसे मुझे कोई वेतन मिलता है।"[१] इससे स्पष्ट होता है कि नौकरी करने वाले लोग वेतनभोगी भी होते थे। ये मजदूर अपने परिवार के भरण–पोषण के लिये मजदूरी करते तथा उसके बदले में प्राप्त धन से परिवार का भरण–पोषण करते थे।[२] सुत्तनिपात में इन्हें 'सेवक' भी कहा गया है। भगवान् बुद्ध वासेट्ठ से कहते हैं–

"वासेट्ठ! मनुष्यों में जो कोई दूसरों की सेवा करके जीविका करता है उसे सेवक जानों, न कि ब्राह्मण।"[३] इस सम्बन्ध में समाज की धारणा 'सेवक' के रूप में रही है।

नारियों का श्रमिक वर्ग– नारियाँ भी मजदूरी करती थीं जो दासियां भी कही जाती थीं।[४] ये अपने जीविकोपार्जन के लिये राजमहलों से लेकर समाज के सामान्य वर्ग तक में मजदूरी का कार्य करती थीं। ये मूसल से धान आदि कूटने का कार्य करती थीं।[५] ये स्त्रियां जल भरने आदि का कार्य भी करती थीं।[६] ये बच्चों का पालन–पोषण आदि सभी कार्य करती थीं।[७]

आर्थिक विकास में गृहपतियों की भूमिका

बौद्ध आगम में हम यह देखते हैं कि प्राचीन भारत के आर्थिक विकास में इन गृहपतियों का महत्त्वपूर्ण योगदान था। भारत को धन धान्य से युक्त बनाने के लिये इन लोगों ने कठिन से कठिन कार्य करने में कुछ भी सङ्कोच नहीं किया। इनके जीवन का उद्देश्य ही प्रतिष्ठामय शिल्प का ज्ञाता होना, भौतिक योग्य के पदार्थों का संग्रह करना एवं गृहस्थी का कार्य सम्पन्न करने का था।[८] ये दूर दूर तक जाकर व्यापार कार्य करते तथा रत्नों एवं धातुओं का संग्रह करते थे।[९] व्यापारी वर्ग व्यापार को समुचित ढंग से चलाने के लिये व्यापार–समितियों का निर्माण करते थे। ये व्यापार–समितियां इनके व्यापार में सहायक सिद्ध होती थीं।[१०]

मूल्यनिर्धारण– ये गृहपति लोग मूल्यों का निर्धारण स्वयं नहीं करते थे यह इनकी एक विशेषता थी। इनकी धारणा थी कि वस्तुओं का मूल्य निश्चित करना वैसा ही है जैसा मनुष्यों का प्राण लेना होता है। ये निश्चित किये गये मूल्य पर सौदा बेचते थे।[११] बाहर का आया हुआ व्यापारी भी स्वयं मूल्य निश्चित नहीं करता था, वह भी सरकारी कर्मचारी अर्धकारक द्वारा निश्चित किये हुये मूल्यों पर ही अपने सामानों को बेचता था। उस समय की यह एक विशेषता थी कि वस्तुओं का मूल्यनिर्धारण लाभ (मुनाफे) को दृष्टि

१. संयुत्तनिकाय, भाग–१, पृष्ठ १६३; दिव्यावदान १८८/३.५.९।
२. जातक, भाग–४, ४४६/३४३।
३. सुत्तनिपात, पृष्ठ १३५।
४. जातक, भाग–४, ४२१/१०४।
५. सुत्तनिपात २१/२३।
६. थेरीगाथा, ६५/२३६।
७. अवदानशतक १/३६/१०, ३७/१२।
८. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग–३, पृष्ठ ७०।
९. जातक, भाग–१, २/१८७; जातक, भाग–४, ४६३/३४०।
१०. जातक, भाग–४, ४६३/५५९।
११. जातक, भाग–१, १/१७६–७७।

में रखकर व्यापारी स्वयं नहीं करता था, इससे सामान्य जन को उचित मूल्य पर वस्तुएँ प्राप्त होती थीं। यह अवश्य था कि गृहपति–जन लाभ की दृष्टि से ही व्यापार करते थे, किन्तु उनका दृष्टिकोण सामान्य जन के हित में ही निहित था।

बौद्ध आगमों से यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन समय में गृहपतियों के नाम उनके पूरे धन के मूल्यों पर था। महाबोधिजातक में ८० करोड़ धन वाले महासारवान् उदीच्य[1], या १८ करोड़ धन वाले सेठ[2] का उल्लेख प्राप्त होता है और इन लोगों को 'सेट्ठिक'[3], 'वणिक्' उपाधियों से सम्बोधित किया गया है।

इससे यह भी परिलक्षित होता है कि उस समय में गृहपति अपना धन छिपाकर (अघोषित) नहीं रखते थे। उनका धन धार्मिक एवं सामाजिक कार्यों में लगता था। अनाथपिण्डक जैसे महाव्यापारी इसके स्पष्ट उदाहरण हैं। यह अवश्य था कि कुछ वणिक् कंजूस भी थे जिनका उल्लेख बौद्ध साहित्य में भी आया है।[4] परन्तु किसी न किसी प्रकार उनमें दान देने की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई।[5] इनके यहाँ दानशालाएँ रहा करती थी। इन दानालाओं के सञ्चालक नगरों एवं जनपदों में सम्मानित होते थे।[6]

गृहपति लोग आशायुक्त हुआ करते थे। ये अपने विचारों के प्रति दृढ़ और कर्मठ हुआ करते थे। आशा से प्रेरित होकर धन की खोज में जाते थे। ये नौकाओं पर चढ़कर समुद्र में जाते। कभी–कभी वे वहाँ डूब भी जाते और धनविहीन होकर विनाश को प्राप्त होते;[7] परन्तु ये अपने सङ्कल्पों से विचलित नहीं होते थे। आर्थिक सन्दर्भों में लेन–देन की प्रक्रिया चलती थी। इस प्रक्रिया में लोग ऋण देकर, सूद लेकर जीविका चलाते थे। सूद से जीविका चलाने वालों का बौद्ध साहित्य में विरोध किया गया है। महाकण्हजातक में राजा के पूछने पर देवराज शक्र द्वारा कही गयी गाथा को शिकारी बताता है– "जो ऋण देकर उसके सूद से जीविका चलायेंगे तब उन्हें मारकर यहाँ मेरा कुत्ता मुक्त होगा।"[8]

इस प्रकार बौद्ध साहित्य के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज की आर्थिक व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने में गृहपतियों का योगदान महत्त्वपूर्ण रहा है। ये गृहपति सम्पूर्ण उत्पादन के क्षेत्रों पर किसी न किसी रूप से अपना स्वामित्व बनाये हुए थे। परन्तु ये राज्य का पूर्ण सहयोग करते थे। एक बार ८० करोड़ वाला गृहपति राजपरिवार से सम्मानित हुआ उसे 'श्रेष्ठी' का पद मिला।[9] इस प्रकार से राजपरिवार के सहयोग से ही कार्य करते थे।

उस समय यह एक धारणा बनी हुई थी कि अधर्म से जीविका चलाने की अपेक्षा पात्र लेकर अनागारिक होकर भिक्षावृत्ति से जीविका चलाना ही अच्छा है। साथ ही यह भी विचार था कि ऐसे ऐश्वर्यलाभ तथा धनलाभ को धिक्कार है जो नरकगामी कर्म वा अधर्म आचरण से मिले।[10] इससे पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि समाज में लोग धर्म के माध्यम से

१. जातक भाग–५, ५२८/३१२।
२. जातक, भाग–६, ५४०/७८।
३. जातक, भाग–५, ५३५/४६६।
४. वही, ५३५/४६५।
५. वही, ५३५/४७५; जातक, भाग–३, ३४०/२९२।
६. वही, ४३५/४६६।
७. जातक, भाग–५, ४३५/४८६।
८. जातक, भाग–४, ४६९/३८२।
९. जातक, भाग–५, ५३५/४६६।
१०. जातक, भाग–४, ४३३/१७७।

ऐश्वर्यलाभ या धनलाभ करते थे। इसलिये यह कहा जा सकता है कि तत्कालीन समाज के आर्थिक जीवन में भ्रष्टाचार कम था। यह सत्य था कि उस समय भी गरीब और अमीर दो वर्ग थे और गरीबों की स्थिति शोचनीय थी।[१] परन्तु आर्थिक जीवन में भी ईमानदारी कम नहीं थी।

---

१. *अङ्गुत्तरनिकाय, भाग-२, पृष्ठ ८५।*

षष्ठ अध्याय

बौद्ध साहित्य में समाज की सांस्कृतिक स्थिति

षष्ठ अध्याय

बौद्ध साहित्य में समाज की सांस्कृतिक स्थिति

यद्यपि संस्कृति के अन्तर्गत धर्म, दर्शन, अध्यात्म, भौतिकता, व्यावहारिक धर्म, रीति–रिवाज आदि का समावेश होता है, किन्तु यहाँ केवल सामाजिक जीवन–विधि, रीति–रिवाजों और व्रत उत्सवों के पक्ष को ही सांस्कृतिक स्थिति के अन्तर्गत ग्रहण किया जा रहा है।

बौद्ध साहित्य में जिस समाज का चित्रण हुआ है वह भारत का वैदिक सैन्धव काल से ही निरन्तर विकसित होता हुआ समाज था। फलतः उसकी अनेक सामाजिक परम्पराएँ पूर्वकाल से ही चली आ रही थीं। साथ ही साथ इस समाज में कुछ ऐसी परम्पराएँ भी विकसित हो चुकी थी जो वैदिक सैन्धव समाज में प्रचलित नहीं थीं। इस कारण बौद्ध साहित्य में चित्रित समाज की सांस्कृति स्थिति का अध्ययन करने से पहले वैदिक एवं उत्तर वैदिककालीन समाज की जीवनविधि से सम्बद्ध सांस्कृतिक गति–विधियों का विहङ्गावलोकन आवश्यक है।

वैदिक सैन्धव सभ्यता

वैदिक सैन्धव सभ्यता में परिवार का विकास हो चुका था और पारिवारिक सम्बन्धों का स्वरूप भी विकसित हो चुका था। पारिवारिक जीवन में विवाह की प्रथा बहुत ही महत्त्वपूर्ण थी। उस समय चार आश्रमों की–ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास की मान्यता प्रचलित थी; जिसके अनुसार बालक जब विद्याध्ययन की अवधि समाप्त कर लेता था तो विवाह कर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता था। गृहस्थ जीवन के लिये पुरुष को पत्नी की अपेक्षा होती थी[1]; क्योंकि यज्ञ मे पति और पत्नी एक साथ मिल कर यजमान का स्थान ग्रहण करते थे। शतपथब्राह्मण के अनुसार पत्नी पुरुष की अर्धाङ्गिनी होती थी और पत्नी के विना पुरुष का जीवन अर्पूण रहता था[2]। पत्नी प्राप्त करने के लिये विवाह का विस्तृत वर्णन ऋग्वेद में सूर्या के विवाह में किया गया है। उस समय विवाह स्वयम्वर पद्धति द्वारा होता था एवं कन्या के माता–पिता भी अपनी पुत्री के लिये वर की खोज करते थे। सूर्या का विवाह स्यम्वर रीति से हुआ था, जिसमें रथ दौड़ाने की प्रतियोगिता रखी गयी थी और इस प्रतियोगिता में अश्विनीकुमारों को प्रथम स्थान प्राप्त हुआ था[3]। जिसमें सोम, विश्वावसु आदि देवता आये थे। उसमें अश्विनीकुमारों को ही सूर्या का वर चुना गया। पति का चयन हो जाने के बाद ऋचाओं के पाठ और साम–गान के साथ वर–वधू का विवाह हुआ और अश्विनीकुमार सूर्या को रथ पर बैठा अपने घर ले गये[4]।

१. ऋग्वेद, ५/३/३,

२. ऋग्वेद १/११६/१६.

३. शतपथ ब्राह्मण ५/२/१/१०.

४. ऋग्वेद १०/८५।

कन्या की विदाई के बाद कुछ समय अनेक धार्मिक कर्म किये जाते थे ताकि मार्ग में उसे कृत्या की बाधा न प्राप्त हो। पति के घर पहुँच कर वर–वधू दोनों मैले वस्त्र त्याग कर नवीन वस्त्र धारण करते थे और ब्राह्मणों को दान करते थे[१]। पति–गृह में कुल के वृद्ध जन वधू को देखने आते और उसे आशीर्वाद दे अपने–अपने घर लौट जाते थे[२]।

वैदिक काल में माता–पिता द्वारा भी कन्या के लिये वर–चयन किया जाता था। ऋग्वेद में अनेक उदाहरण है जिनमें वर–वधू के चयन की बात कही गयी है। कन्या पक्ष और वर पक्ष–दोनों ही योग्य वर और योग्य वधू के लिये सचेष्ट रहते थे। पिता जब अपनी कन्या के लिये योग्य वर पा जाता था तो उसकी प्रसन्नता की सीमा नहीं रहती थी।

जिस व्यक्ति को केवल पुत्री ही होती थी वह अपनी पुत्री का विवाह बहुत सोच--समझ कर योग्य पुरुष से करता था ताकि उसे सुयोग्य दौहित्र प्राप्त हो सके[३]। कन्या का विवाह माता–पिता जिस पति से कर देते थे उसके साथ कन्या वधू बनकर आजीवन निर्वाह करती थी[४]।

विवाहविच्छेद (तलाक)

वैदिक काल में साधारणतः पुरुष एकपत्नीव्रत वाला होता था किन्तु यदि वह अयोग्य एवं दुराचारी होता था तो कन्या उस पति का त्याग कर देती थी। ऋग्वेद में एक ऐसे ही जुवारी का वर्णन हुआ है जिसकी सुन्दर एवं सुशील भार्या उसके दुष्कृत्यों के कारण उसका परित्याग कर देती है[५]। इससे प्रतीत होता है कि उस काल में विवाहविच्छेद (तलाक) की प्रथा भी थी।

बहुपत्नीप्रथा

ऋग्वेद से यह भी ज्ञात है कि वैदिक काल में बहुपत्नीप्रथा प्रचलित थी। उस काल के राजाओं और मनीषियाँ द्वारा एकाधिक पत्नियों को रखने का प्रमाण मिलता है। सौभर ऋषि ने त्रसदस्यु, पौरुकुत्स नामक राजा की ५० कन्याओं से विवाह किया था[६]। ये पचासों कन्याएँ निश्चय ही अनेक पत्नियों से उत्पन्न हुई होंगी। च्यवन ऋषि अत्यन्त वृद्ध हो गये थे तो अश्विनीकुमारों ने चिकित्सा द्वारा उन्हें यौवन प्रदान किया, जिसके फलस्वरूप उन्होंने अनेक कन्याओं से विवाह किया[७]।

शिक्षापद्धति

वैदिक काल में बालकों और बालिकाओं को अधिकतर परिवार में ही शिक्षित किया जाता था। ब्राह्मण और ऋषि स्वयं अपने घर पर सन्तान को वेदों का ज्ञान कराते थे और क्षत्रियकुमार गुरु के आश्रम में जाकर शिक्षा प्राप्त करता था। प्रत्येक कुल में वैदिक ज्ञान की शिक्षा पृथक्–पृथक् पद्धति से दी जाती थी, जिसके परिणामस्वरूप वैदिक संहिताओं की विभिन्न शाखाएँ बन गयीं। इस तरह ऋग्वेद की शाकल, वाष्कल, शाङ्खायन और काण्डूकायन आदि शाखाएँ बनी। जिनमें से केवल शाकलशाखा की संहिता वर्तमान

१. ऋग्वेद, १०/८५/२८, २९.
२. वही १०/८५/३३.
३. ऋगवेद ३/३१/१.
४. शतपथ ब्राह्मण ४/१/५/९.
५. ऋग्वेद ३/३४/२,३.
६. वही, ८/१९/३६.
७. ऋग्वेद १/११६/१०.

समय में उपलब्ध है। इसी तरह यजुर्वेद की कण्व शाखा माध्यन्दिन शाखा बनी। इसी प्रकार सामवेद एवं अथर्ववेद की विभिन्न शाखाओं का विकास हुआ। इससे स्पष्ट है कि इन शाखाओं में वैदिक ज्ञान की शिक्षा पृथक् पृथक् पद्धति से दी जाती थी।[१]

यजुर्वेद में याज्ञिक कर्मकाण्डों के विधि–विधान और मन्त्रों के विनियोग का रूप इतना सघन (उलझा हुआ) था कि विना विधिवत् शिक्षण के उसे अधीत करना असम्भव था। इसी तरह सामगान और ऋग्वेद के मन्त्रों के पाठ की पद्धतियां इतनी जटिल थीं कि विना विधिवत् शिक्षण उन्हें अधीत नहीं किया जा सकता था।

इसी पारिवारिक एवं शाखागत प्रशिक्षण के फलस्वरूप उत्तर वैदिक काल में छह वेदांङ्गों का विकास हुआ। इन सभी विषयों के विशाल साहित्य के सम्बन्ध में प्रथम अध्याय में विचार किया जा चुका है। ये सभी पृथक् पृथक् विशेषीकृत ज्ञान के विषय थे जिनका अध्ययन विभिन्न गुरु–शिष्य परम्परा के माध्यम से होता था। ऋग्वेद के एक सूक्त में व्याकरण का उल्लेख सांकेतिक रूप से किया गया है, जिसका भावार्थ यह है कि व्याकरण से अनभिज्ञ व्यक्ति वाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता और सुनता हुआ भी नहीं सुनता, किन्तु व्याकरण के विद्वान् के लिये वाणी सुन्दर वस्त्राभूषण से अलंकृत स्त्री के समान अपने को समर्पित कर देती है[१]। इसी तरह छन्द और ज्योतिष का उल्लेख भी वेदों में विविध प्रकार से हुआ है[२]। निरुक्त, काव्य का विकास उत्तर वैदिक काल में उस समय हुआ जब लोग वेदों के वैदिक मन्त्र भूलने लगे। यही सब विषय परवर्ती काल में गुरुकुलों में छात्रों के अध्ययन के विषय बने।

उपनिषत्काल में शिक्षा के क्षेत्र का और भी विस्तार हुआ तथा वेदाङ्गों के अतिरिक्त षड्दर्शनों–वेदान्त, न्याय, वैशेषिक, योग, मीमांसा और सांख्य का विकास हुआ। जिनके अध्ययन के लिये ऋषियों के पृथक् पृथक् दार्शनिक सम्प्रदाय बन गये। इन सम्प्रदायों के विद्वान् राजदरबारों में, विशेषतः मिथिला के राजा जनक के दरबार में, शास्त्रार्थ करते थे। जिनका उल्लेख उपनिषदों में हुआ है[३]। तैत्तिरीय उपनिषद् में शिक्षावल्ली ब्रह्मानन्दवल्ली और मृगवल्ली में शिष्ट और आचार सम्बन्धी विषय का विशद वर्णन किया गया है[४]।

भोजन में प्रयुक्त खाद्य पदार्थ

सैन्धव वैदिक समाज कृषिजीवी समाज था, जिसमें कृषि की पद्धति पर्याप्त विकसित हो चुकी थी। इस काल में लोग यव (जौ) आदि का उत्पादन करते थे। अतः स्पष्ट है कि उनका मुख्य खाद्यान्न जौ ही था[५]। वे जौ को जाँते (चक्की) में पीसकर रोटी एवं धान को कूट कर उसके चावल से भात पकाते एवं पके हुए मांस के साथ खाते थे। विशेष कर यज्ञों के अवसर पर ऐसा किया जाता था[६]। किन्तु उत्तरवैदिक काल में यज्ञ में पशुवध तथा भक्षण के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई और मांसाहार को वर्जित किया था। शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ के लिये दीक्षित पुरुष तथा तपस्वी को मांस का प्रयोग निषिद्ध है[७]।

---

१. *ऋग्वेद १०/७१/४.*

२. *वही १/१६४, १०/१३०.*

३. *वृहदारण्यक, अध्याय ३–४.*

४. *तैत्तरीय उपनिषद्–अनुवाक–११.*

५. *ऋग्वेद १०/१३१/२.*

६. *ऋग्वेद १/१६२/१०.*

७. *शतपथ ब्राह्मण १२/९/१/१, ११/६/१/३.*

वैदिक काल में सोमरस और सुरापान का उल्लेख शतशः हुआ है[१]। सोम को देवता माना गया है और सोमलता को पत्थर पर पीसने, ऊनी वस्त्र से उसका रस छानने, घड़े में भरने का एवं उसमें दुध या दही मिलाकर उसे पीने का उल्लेख बार बार हुआ है[२]। सम्भवतः यह ऐसा पेय था जिससे कुछ नशा उत्पन्न होता था और कल्पनाशक्ति और तेज होती थी। देवताओं को भी सोमरस अर्पित किया जाता था। इन्द्र को सोमरस अत्यन्त प्रिय था। एक सूक्त में इन्द्र स्वयं सोमरस पीकर मदमत्त दिखाये गये हैं[३]।

सोम के अतिरिक्त वैदिक समाज में मधु (शहद) का भी प्रयोग किया जाता था और उसे विभिन्न खाद्य पतार्थों में मिलाकर खाया जाता था[४]।

वैदिक काल के लोग सोम के अतिरिक्त सुरापान करते थे, यद्यपि सुरापान हानिकारक पेय माना जाता था। ऋग्वेद के सूक्त में सुरा को क्रोध, जूआ, अज्ञान के सदृश ही हानिकारक बताया गया है[५]। उपनिषत्काल में सुरापान को पाप समझा जाता था[६]।

वेशभूषा

वस्त्राभूषण और प्रसाधन की दृष्टि से भी वैदिक सैन्धव सभ्यता पर्याप्त विकसित हो चुकी थी। मोहनजोदड़ो की एक प्रस्तरमूर्त्ति के शरीर पर तिपत्तीय के अलङ्करण से शोभित उत्तरीय दिखाया गया है। ऋग्वेद में वस्त्र बुनने की क्रिया का भी वर्णन मिलता है[७]। इससे स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन लोग शरीर पर ऊनी[८] और सूती वस्त्र धारण करते थे। ये लोग स्वर्णनिर्मित तथा मणियों से गुथे हुये आभूषण भी पहनते थे। मोहजोदड़ो, हड़प्पा आदि नगरों के उत्खनन से भी इस प्रकार के आभूषण प्राप्त हुए हैं। हड़प्पा से प्राप्त एक नर्तकी की मूर्ति पर अनेक प्रकार के आभूषण दिखाये गये हैं। ऐसे आभूषणों का उल्लेख ऋग्वेद में भी हुआ है[९]। स्त्रियाँ कटि (कमर) में करधनी पहनती थी, जिसे 'रसना' कहा जाता था[१०]। पुरुष और स्त्रियाँ शरीर के ऊपरी भाग को ढकने के लिये विना सिला हुआ वस्त्र धारण करती थी, जिनमें उपवसन (दुपट्टा), परिआहळन (लम्बी हल्की चादर), प्रतिधि (कंचुकी), उल्क (लम्बा-चौड़ा कसीदे वाला लबादा) और द्रापि (चपक कर बैठने वाला कोटनुमा कपड़ा) प्रमुख था[११]। उस काल में पुरुष दाढ़ी और मूंछ के सम्बन्ध में स्वैच्छिक नीति अपनाते थे, वे या तो दाढी-मूँछ रखते या दोनों मुँड़ा देते थे या दोनों में से किसी एक को रखते थे। ऋग्वेद में एक स्थान पर दाढ़ी-मूँछ मुड़ा देने का वर्णन मिलता है[१२]। मोहनजोदड़ो में प्राप्त प्रस्तरमूर्ति में मूँछ साफ है एवं दाढी भी कटी-छंटी दिखाई पड़ती है[१३]।

---

१. ऋग्वेद १०/१२०/४, १/९१/१, १/८६/१, १/९३/१, १/४४/८, ८/३६/१,२,३,४,५.
२. वही ४/२०/४, ९/७७/२.
३. वही १०/११९, ८/३७.
४. वही १/१२०/३.
५. वही ७/८६/६.
६. छान्दोग्य उपनिषद् ५/१०/९, ५/११/५.
७. ऋग्वेद १०/७१/९, ६/९/२-३, १०/२६/६.
८. वही ८/६७/३, १/१२६/७, ४/२२/२.
९. वही ८/४६/३३.
१०. शतपथ ब्राह्मण १/३/१५.
११. डॉ० मोतीचन्द्र, प्राचीन भारतीय वेश-भूषा, प्रयाग संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ १८-१९.
१२. ऋग्वेद १०/१४२/४.
१३. सर मार्टीमेर ह्वीलर, दी इण्डस सिविलीजेशन, प्लेट संख्या १६,१८ कैम्ब्रिज-१९५३.

वैदिक सैन्धव सभ्यता की उपर्युक्त सांस्कृतिक परम्पराएं ही परिवर्तित होती हुई बौद्ध साहित्य के युग तक पहुंची थी। इस युग में वैवाहिक रीतियों और पारिवारिक सम्बन्धों में अधिक परिवर्तन नहीं हुआ, किन्तु वेशभूषा और वस्त्रालङ्करण में पर्याप्त परिवर्तन हो गया था जिसके सम्बन्ध में आगे विचार किया जायगा।

विवाह

प्राचीन काल में विवाह एक संस्कार के रूप में माना जाता था। समाज की उन्नति एवं विकास के लिये विवाह एक वैधानिक एवं धार्मिक संयोग है। बौद्ध साहित्य में विवाह को धर्म माना गया है[१]। विवाह का स्वरूप एक नहीं था। विवाह के सम्बन्ध में अङ्गुत्तर– निकाय में भगवान् बुद्ध भिक्षुओं से कहते हैं– "माता पिता पांच बातों को ध्यान में रख कर सन्तानोत्पत्ति की इच्छा करते हैं–१. पोषित होकर हमारा पोषण करेगा, २. हमारा काम–काज करेगा, ३. कुल–परम्परा चिरस्थायी होगी, ४. उत्तराधिकारी होगा और ५. प्रेतावस्था प्राप्त होने पर (मरणानन्तर) दक्षिणा (दान) देगा[२]। इस उद्धरण से यह स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज में विवाह का मुख्य उद्देश्य धैर्यवान्, श्रद्धावान् एवं सुयोग्य पुत्र उत्पन्न करना था जो मरने के बाद दक्षिणा आदि देकर श्राद्ध संस्कार कर पितृ–ऋण से उऋण हो सके।

बौद्ध साहित्य में विवाह के लिये दो शब्द आवाह एवं विवाह मिलते हैं[३]। विवाह के लिये शुभ नक्षत्र होना आवश्यक था एवं साथ ही साथ जात एवं गोत्र का ध्यान रखा जाता था। भगवान् बुद्ध दीघनिकाय में अम्बष्ठ से कहते हैं "यत्थ खो, अम्बट्ठ, आवाहो वा होति, विवाहो वा होति, आवाहविवाहो वा होति, यत्थेतं वुच्चति जातिवादो वा इति पि, गोत्तवादो वा इति पि, मानवादो वा इति पि–अरहसि वा मं त्वं, न वा मं त्वं अरहसी" ति[४]। इससे यह स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज में विवाह के लिये जाति एवं गोत्र का ध्यान रखा जाता था। जातक में यह उल्लिखित है कि लड़के (वर) की इच्छा न रहने पर भी माता पिता ने उसके लिये समान जाति, कुल की कुमारी से विवाह किया[५]। यहां यह भी स्पष्ट होता है कि विवाहयोग्य लड़के का विवाह उसकी इच्छा न रहने पर भी किया जाता था। माता पिता लड़के के लिये स्वयं कन्या ढूँढ कर लाते थे। जातक में एक दूसरा प्रसङ्ग है कि तिरिटवक्ष अपनी कन्या के लिये राजा के पास जाता है और राजा से विवाह का प्रस्ताव रखता है– "देव! मेरे घर में स्त्रीरत्न उत्पन्न हुआ है वह राजा के ही योग्य है, लक्षणज्ञों को भेज कर यथारुचि परीक्षा करा लें[६]।" इस प्रकार उक्त उद्धरणों से ज्ञात हो ता है कि वैवाहिक सम्बन्ध–निर्धारण में माता पिता ही वर अथवा कन्या के चयन के लिये पारस्परिक वार्ता एवं मध्यस्थता का आश्रय लेते थे।

विवाह के प्रकार

बौद्ध साहित्य के अनुसार तत्कालीन समाज में विवाह विभिन्न रूपों में होता था। यद्यपि स्पष्ट रूप से बौद्ध साहित्य में विवाह के प्रकारों का वर्णन नहीं मिलता, परन्तु फिर

१. महावस्तु, भाग २/४४४/३.
२. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग–२, पृष्ठ २७१.
३. दीघनिकाय, ३/१४२, १/१२.
४. वही, १/८६, ८७.
५. जातक, भाग–४, ४४३/२२०.
६. जातक, भाग–५, ५२७/२९३.

भी गाथाओं एवं आख्यानों के आधार पर विवाह के स्वरूपों पर प्रकाश डाला जा सकता है। बौद्ध साहित्य का अध्ययन करने का विवाह के निम्नलिखित स्वरूप दिखायी देते हैं।

सजातीय विवाह

तत्कालीन समाज में विवाह अपने जाति–कुल में ही सम्पन्न होता था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र तथा पुक्कुस अपने ही वर्ण में विवाह करते थे[1]। ब्राह्मणपुत्र बोधि कुमार तक्षशिला से शिक्षा ग्रहण के बाद जब पुनः घर पहुँचा तो उसके माता–पिता ने उसके विवाह के लिये समान कुल एवं जाति की लड़की को चुना[2]। विवाह करने से पूर्व माता–पिता कुल की श्रेष्ठता पर विशेष ध्यान देते थे। अननुसोचीय जातक में ब्राह्मण माता–पिता अपने पुत्र के विवाह के लिये अनुयायियों के साथ यह कह कर भेजते हैं कि ''जाओ और जम्बू द्वीप भर में घूमते हुए ऐसी ब्राह्मणकुमारी को जो पुत्र के योग्य हो, ले आओ[3]।'' थेरीगाथा में ऋषिदासी एक सेठ की पुत्री थी और उसका विवाह भी उच्चकुलीन, धनवान् सेठ के लड़के से ही हुआ था। इस कथन की पुष्टि स्वयं ऋषिदासी करती है[4]। इससे स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज में सजीयता का भी विशेष ध्यान दिया जाता था।

अन्तर्जातीय विवाह

तत्कालीन समाज में सजातीय विवाह के साथ–साथ अन्तर्जातीय विवाह भी होते थे। अभिजात वर्ग के लोग ही गोत्र का ध्यान छोड़कर अन्य जातियों में विवाह करते ते। ८० करोड़ धन के समालिक किरीटवक्ष सेठ अपनी रूपवती, सौभाग्यवती तथा उत्तम लक्षणों से युक्त लक्षणों से युक्त कन्या का विवाह 'शिव' नामक राजा से करते हैं। उसकी लड़ती उम्मादन्ती सभी गुणों से सम्पन्न थी[5]। इससे स्पष्ट होता है कि राजा क्षत्रिय और सेठ वैश्य था किन्तु उम्मदवतीके गुणों पर मुग्ध होकर ही शिव ने उससे वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया। ऐसे लोग कुल एवं गोत्र का ध्यान करते थे, क्योकि वे गुणों के प्रेमी थे[6]। दीघनिकाय में अम्बट्ठ सुत्त में भगवान् बुद्ध अम्बष्ठ माणवक से कहते हैं, ''यदि क्षत्रिय कुमार ब्राह्मण कन्या के साथ सम्वास करे .... यदि एक ब्राह्मणकुमार क्षत्रिय कन्या के साथ सम्वास करता है तो जो ब्राह्मण कुमार का क्षत्रिय कन्या से उत्पन्न पुत्र क्या ब्राह्मणों में आसन पानी पायगा? ''पायगा, हे गौतम''[7]। उक्त उद्धरणों से सम्पुष्ट होता है कि तत्कालीन समाज में अन्तर्जातीय विवाह प्रचलित था। साथ ही साथ उनके द्वारा उत्पन्न सन्तान का समाज में समान आदर भी था।

अनुलोम या प्रतिलोम विवाह

उच्च कुल का पुरुष निम्न कुल की कन्या से यदि विवाह करता है तो 'अनुलोम विवाह' कहा जाता है और यदि निम्न कुल का पुरुष उच्च कुल की कन्या से विवाह करता है तो उसे 'प्रतिलोम विवाह' कहते हैं। तत्कालीन समाज में इस तरह के विवाहों का भी प्रचलन था। एक राजा माली की लड़की को, जो सुन्दर थी और बेर बेचने के लिये

---

१. दिव्यावदान, ३२१/६–११.
२. जातक, भाग–४, ४४३/२२१.
३. जातक, भाग–३, ३२८/२६०.
४. थेरीगाथा, ७२/४०५, ४०६.
५. जातक, भाग–५, ५२७/२९३.
६. ललितविस्तर, १३९/२१,२२.
७. दीघनिकाय, अम्बट्ठसुत्त, पृष्ठ ७६.

निकली, देखकर मुग्ध हुआ और उसे अपनी पटरानी बना लिया वह राजा की प्रिया हुई[१]। चाण्डाल बालिका सक्षयमाला से मुनि वशिष्ठ का विवाह भी अनुलोम विवाह के अन्तर्गत ही आयेगा[२]। सेनजीत की पुत्री का विवाह चाण्डाल के साथ सम्पन्न हुआ था[३]। शार्दूलकर्ण और प्रकृति का विवाह प्रतिलोम विवाह का ही उदाहरण है[४]।

बहुविवाह

तत्कालीन समाज में एक पति का एक पत्नी से विवाह श्रेयष्कर माना जाता था। पति की सेवा करने पर ही पत्नी का कल्याण समझा जाता था। स्वामी की आज्ञाओं का पालन करने वाली, उसके अनुकूल व्यवहार करने वाली एवं प्रियभाषिणी भार्या उत्तम भार्या समझी जाती थी[५]। तत्कालीन समाज में बहुपत्नीविवाह का भी उल्लेख मिलता है। वैशाली के उग्र गृहपति के पास चार कुमारियां उसकी पत्नी थीं। वह भिक्षुओं से कहता है, ''भन्ते! उस समय चार कुमारियां मेरी पत्नियाँ थीं। जहां वे पत्नियाँ थीं, वहाँ मैं पहुँचा[६]।'' राजपरिवार में बहुपत्नीप्रथा विशेष रूप से थी; क्योंकि जहाँ भी जातकों में राजाओं का प्रसङ्ग आता है वहां पटरानियों का भी उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट होता है कि राजाओं के पास कई पत्नियाँ हुआ करती थीं और उनमें जो सुन्दर होती थीं, उसे 'पटरानी' बनाते थे[७]। वाराणसी के इक्ष्वाकु राजा के पास बहुत की स्त्रियां थीं[८]।

पुनर्विवाह

बौद्ध आगमों से यह ज्ञात होता है कि उस समय पुनर्विवाह का भी प्रचन था परन्तु इसका व्यापक स्वरूप देखने को नहीं मिलता। १. **अंगुत्तरनिकाय** में उग्र गृहपति अपने बारे में भिक्षओं को बतलाता है– ''भन्ते! मेरे एसा कहने पर मेरी जेष्ठ पत्नी ने मुझ से कहा–'आर्यपुत्र, आप मुझे अमुक आदमी को सौंप दें।' भन्ते! तब मैंने उस आदमी को बुलवाया और बाँये हाथ से अपनी पत्नी को पकड़ और दायें हाथ में गङ्गासागर (जलपात्र) ले उसे उस पुरुष को सौंप दिया[९]।'' इस उद्धरण से यह स्पष्ट होता है कि इसमें पति भी सहायता कर देता था। २. **थेरीगाथा** में ऋषिदासी अपने बारे में कहती है कि मेरा विवाह एक अन्य कुल वाले धनाढ्य पुरुष से कर दिया और उसके बाद मेरे पिता ने मेरा विवाह एक भिक्षु के साथ कर दिया[१०]। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि स्त्रियों का अनेक बार विवाह हो सकता था एवं पति द्वारा तलाक भी दिया जाता था। ३. **नन्दजातक** में एक गृहस्थ था जिसकी पत्नी तरुणी थी और वह मरने के समीप था। उसे एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ। गृहस्थ ने सोचा, ''यह तरुणी स्त्री मेरे मरने के पश्चात् किसी दूसरे पुरुष को लेकर इस धन को नष्ट कर दे, मेरे पुत्र को न दे''[११]। ४ इसी प्रकार सुसीमजातक में राजा के मरने के बाद उसकी विधवा रानी ने अपने राजपुरोहित से ही विवाह कर लिया[१२]। इससे ऐसा

१. जातक, भाग–३, ३०६/१९१.
२. सौन्दरनन्द ७/२८.
३. वही, ८/४४.
४. शार्दूलकर्णावदान, पृष्ठ ४२/७.
५. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग–३, पृष्ठ ३३७.
६. वही, पृष्ठ २९४,२९७.
७. जातक, भाग–५, ५२९/३३१. जातक, भाग–४, ४५९/३१८.
जातक, भाग–६, ५३९, पृष्ठ ३५. जातक, भाग–३, ३०६/१९१.
८. महावस्तु, भाग–२, ४२४, ११, १४.
९. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग–३, पृष्ठ २९४.
१०. थेरीगाथा, ७२/४०६, ४२०, ४२२.
११. जातक, भाग–१, ३९/३४०.
१२. जातक, भाग–२, सुसीम जातक (१६३)

विदित होता है कि पति के मर जाने पर दूसरे पुरुष के साथ विवाह कर लेना उस समय अनुचित नहीं माना जाता था। परन्तु इसके बाद भी स्त्रियां अपनी श्रेष्ठता को बनाये रखने के लिये एकपतिव्रत धर्म का निर्वाह करने के लिये इस अधिकार का उपयोग नहीं करती थीं। ५. महागोविन्द ब्राह्मण ने अपनी पत्नियों को यह अधिकार दे दिया था कि मै प्रवज्या लेने जा रहा हूं और कोई पत्नी परपुरुष को पति बनाना चाहती हो तो पति खोज ले। परन्तु उन पत्नियों ने इस अधिकार का प्रयोग नहीं किया।

साथ ही पुत्ररत्न की प्राप्ति के बाद भी स्त्रियां पुनर्विवाह से विमुख रहती थीं। उपक और चापा के वार्तालाप से स्पष्ट होता है कि चापा ने अपने पति के प्रवज्या ले लेने पर परपुरुष के साथ विवाह नहीं किया[1]। उक्त तथ्यों से यह ज्ञात होता है कि पुनर्विवाह विशेषतः स्त्रियों की इच्छा पर ही निर्भर करता था। विधवाविवाह का भी प्रचलन तत्कालीन समाज में था। उच्छङ्ग जातक में राजा द्वारा एक स्त्री के भाई, पति और पुत्र को पकड़वा लिया गया स्त्री ने उन्हे छुड़ाना चाहा, राजा तीनों में से एक को छोड़ने पर राजी हुआ, स्त्री ने भाई को ही छोड़ने के लिये कहा और उसने गाथा में यह भी कहा "देव! पुत्र तो गोद में हैं और पति रास्ते चलती को मिल सकता है परन्तु वह देश नहीं दिखायी देता जहां से सहोदर भाई लाया जाय।"[2] पति के न रहने पर पत्नी विवाह कर सकती थी। कौटिल्य अर्थशास्त्र के अनुसार निःसन्तान विधवा को विवाह करने का अधिकार था।[3] अतः स्पष्ट है कि तत्कालीन समाज में विधवा विवाह एवं पुनर्विवाह दोनों का प्रचलन था और यह स्त्रियों की इच्छा पर निर्भर करता था।

बाल विवाह— बालविवाह के सम्बन्ध में और भी बहुत सी ज्ञातव्य बातें बौद्ध साहित्य में प्राप्त होती है। बालविवाह भी उस समय होता था परन्तु उसको अच्छा नहीं माना जाता था। आवेणिक सुत्त से यह ज्ञात होता है, "भिक्षुओ! स्त्री अपनी छोटी ही आयु में पतिकुल चली जाती है। स्त्री का अपना यह पहला दुःख है जिसे केवल स्त्री ही अनुभव करती है, पुरुष नहीं।"[4]

प्रेमविवाह— तत्कालीन समय में प्रेमविवाह का भी प्रचलन था। वाराणसी में ब्रह्मदत्त नामक राजा ने लकड़ी चुनने वाली एक स्त्री से सहवास किया और उसे गर्भ हो गया, राजा ने अंगुली की अँगूठी देकर कहा यदि लड़की हो तो इसे बेचकर उसका पालन करना और यदि लड़का हो तो उसे मेरे पास लाना, उस स्त्री को लड़का उत्पन्न हुआ और अँगूठी की निशानी को दिखाकर राजा को बताया और राजा ने उसे गृहणी बनाया।[5] मिथिला के विदेह नामक राजा के युवराज महौषधि का अमरादेवी से विवाह के लिये चर्चा प्रारम्भ हुई तो स्वयं अपनी बहन डुम्बर से कहता है कि मैं लड़की स्वयं खोजकर लाऊँगा और महौषधि अमरा देवी की नाना प्रकार से परीक्षा कर उससे विवाह किया।[6] इससे स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन समय में प्रेमविवाह होता था। माण्डव्य ऋषि कुमारी पद्मावती और पञ्चाल के राजा ब्रह्मदत्त का विवाह इसी रीति से हुआ था।[7]

१. थेरीगाथा, ६८/२९१-३०७।
२. जातक, भाग-१, ६७/४४४।
३. कौटिल्य अर्थशास्त्र, ३/४।
४. संयुत्तनिकाय, भाग-२, पृष्ठ ५५१।
५. जातक, भाग-१, ७/२२०-२२२।
६. जातक, भाग-६, ५४६/४१०-४१४।
७. महावस्तु, भाग-३/१५७-१६०।

विवाहविधि— तत्कालीन समाज में विवाह बड़ी धूम–धाम (ठाठ–वाट) के साथ होता था। इसे मङ्गलकार्य समझा जाता था। लोगों को भेंट भी भेजी जाती थी।[१] विवाह के अवसर पर आने वाले आगन्तुकों के लिये सालन की सामग्री इकट्ठा की जाती थी और पहले से ही सुअर आदि को तैयार रक्खा जाता था।[२] विवाह की तैयारी पहले से की जाती थी! नक्षत्र आदि का विशेष रूप से ध्यान रखा जाता था। नक्ढाल जातक में आया है कि समय से न पहुँचने पर जनपदवासियों ने दूसरे की लड़की प्रदान कर दी।[३]

आहार (भोजन)

मनुष्य की मूल आवश्यकताओं में भोजन मुख्य आवश्यकता है। मनुष्य आहार के विना जीवित नहीं रह सकता, मनुष्य का भोजन भौगोलिक स्थितियों पर निर्भर करता है। जिस देश की जैसी जलवायु होती है वहाँ के लोगों का भोजन उसी के अनुरूप होता है। हमारे देश की भौगोलिक स्थिति में पर्याप्त अन्तर है। इसलिये एक प्रदेश से दूसरे के आहार में अन्तर स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। फिर भी सामान्य रूप से पर्यवेक्षण किया जाय तो आहार में मौलिक अन्तर अपेक्षाकृत कम मिलेगा। बौद्ध साहित्य के आधार पर हम तत्कालीन समाज के आहार का विश्लेषण करें तो उन्हें निम्नलिखित प्रकारों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) शाकाहार, (२) मांसाहार एवं (३) पेय पदार्थ।

(१) शाकाहार— हमारे देश के लोगों का मुख्य भोजन अन्न, फल, शाक एवं कन्दमूल रहा है। प्राचीन लोग अपना जीवन इसी पर व्यतीत करते थे। बौद्ध साहित्य के आधार पर तत्कालीन समाज का मुख्य अन्न चावल रहा है इसे सालि, वीहि (ब्रीहि) अथवा तन्डूल[४] के नाम से जाना जाता था।[५] चावल के अनेक प्रकार के भोजन बनते थे, इससे खिचड़ी[६], खीर[७], मधुपायस[८], बनता था। इसे ओदन[९] भी कहते हैं। चावल से गवपान भी बनता था, यह गवपान दूध को गाढ़ा करके उसमें चावल डालकर मधु, शक्कर, चूर्ण, घी आदि से तैयार किया जाता था।[१०] चावल तत्कालीन समाज का मुख्य अन्न था। इसकी खेती का विशेष वर्णन मिलता है।[११]

बौद्ध साहित्य में जौ का भी वर्णन आया है। जिससे यह विदित होता है कि जौ भी लोग खाते थे।[१२] गोधूम[१३] (गेहूँ), श्यामाक[१४] (सांवां), पण्डु मुटिक[१५] (लाल धान का भात)

१. *जातक भाग–६, ५४६/४१४।*
२. *जातक, भाग–१, ३०/३०४।* ३. *वही, ४९/३८१।*
४. *विनयपिटक, महावग्ग, पृष्ठ २४५; जातक, भाग–६, ५३८/२७।*
५. *दिव्यावदान, ७४/२४; विनयपिटक, महावग्ग, पृष्ठ ११९।*
६. *विनयपिटक, महावग्ग, पृष्ठ ११९।*
७. *निदानकथा, पृष्ठ १७१।*
८. *महावस्तु, भाग–२, १३१/११*
९. *दिव्यावदान १८४/४।*
१०. *निदानकथा, पृष्ठ ८३।*
११. *जातक, भाग–४, ४०४/१९, ४२१/१६३; दिव्यावदान, ४१४/१५।*
१२. *थेरीगाथा, ९२/२६२; अङ्गुत्तरनिकाय, भाग–१, पृष्ठ७५*
१३. *कनकवर्णावदान।*
१४. *शार्दूलकर्णावदान, पृष्ठ ४१५।*
१५. *मज्झिमनिकाय, पृष्ठ ३३०।*

आदि का भी प्रयोग खाने में होता था। दाल के रूप में मूंग, उड़द, मसूर, मटर[१] का प्रयोग होता था।[२]

मिष्ठान्नों का प्रयोग भी इस समय होता था; क्योंकि ईख का वर्णन विशेष रूप से आया है।[३] ईख से गुड़[४], शक्कर[५], मोदक[६], खाँड[७] बनती थी। उस समय श्यामाक, नीवार[८] या यवागू[९] सामान्य जन का प्रधान भोजन था। इसमें नमक डालकर बनाया जाता था।

सत्तू—मस्तजातक में एक ब्राह्मण जब घर से बाहर जा रहा था तो उसकी पत्नी ने उसे चमड़े की थैली में सत्तू बांध दिया। ब्राह्मण परिवार गरीब था।[१०] इससे स्पष्ट हो जाता है कि सत्तू उस समय के निर्धन परिवार का आहार था।

कुम्मास (कुल्मास) भी गरीब परिवार का ही भोजन था। कुम्मास कलेवा के लिये प्रयुक्त किया जाता था। कुम्मास में नमक तेल या शक्कर मिलाकर लड्डू आदि बनाया जाता था।[११] **पीट खज्जक** (खाजा) भी लोग खाते थे, क्योंकि यह मधुर होता था। सारिपुत्र स्थविर ने मधुर खाजा को न खाने का प्रण किया था।[१२] एक नरेश ने शिक्षण करने वाले ऋषियों का सम्मान यवागू एवं खज्जक मिला कर किया। उससे वे ऋषि उस पर प्रसन्न हुए। तत्कालीन समाज में खज्जक लोगों का प्रिय मिष्ठान्न था। मीठे पक्वानों में पूवों का भी विशेष उल्लेख मिलता है। कुसजातक में बोधिसत्त्व के जङ्गल में जाने के बाद उसकी भाभी ने उसके हिस्से का रक्खा पूवा यह कहकर कि देवर के लिये और पूवा पकाऊँगी, शेष पूवे भिक्षुओं को दे दिये।[१३]

दूध, घी, मक्खन का विशेष एवं अधिक उल्लेख प्राप्त होता है। तथा तेल, मधु, खांड़ का भी प्रयोग मिलता है।[१४] इसके साथ ही साथ शाकाहार में नाना प्रकार के फल कन्दमूल और साग खाने का भी उल्लेख प्राप्त होता है। आम[१५], जामुन[१६], अंगूर[१७], कटहल[१८], नारियल[१९] आदि फलों का भी सेवन लोग करते थे। आलू तथा ताल के कन्दों को खोद कर और विषाक्त तक्कल कन्दों को छोड़कर अन्य शाक, भिंसु, मधु, बेर, आँवला का भोजन करते थे।[२०] जङ्गल में रहने वाले ऋषियों का जीवन कन्दमूल और फल पर निर्भर

१. मज्झिमनिकाय, पृष्ठ ३३०।
२. विनयपिटक, महावग्ग, पृष्ठ २५०।
३. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग–१, पृष्ठ ३४, मिलिन्दप्रश्न, पृष्ठ २०५।
४. विनयपिटक, महावग्ग, पृष्ठ २३६, पूर्णावदान पृष्ठ १८।
५. दिव्यावदान, १८/२, ८१/४, निदानकथा, पृष्ठ ८३।
६. पूर्णावदान, पृ०१८।
७. दिव्यावदान १८४/६।
८. जातक, भाग–३, ३४६/३०६, ३०७।
९. जातक, भाग–४, ४३४/१८०।
१०. वही, पृष्ठ ४०२/७, महावस्तु, भाग–२/४६०/४१५।
११. वही, ४१५/६६–६७, वीतशोकावदान, पृष्ठ २७५।
१२. जातक, भाग–१, ६९/४४८।
१३. जातक, भाग–५, ५३१/३७०, ५१२/१०९ मञ्जुश्रीमूलल्प–१/४८/७, दिव्यावदान १५९/१५–१६।
१४. विनयपिटक, महावग्ग, पृष्ठ १६७, मज्झिमनिकाय, पृष्ठ २०९; जातक, भाग–१, ९३/५४९, दिव्यावदान १४१/१३।
१५. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग–२, पृष्ठ १०४।
१६. जातक, भाग–४, ४६६/३६०।
१७. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग–१, पृष्ठ ३४।
१८. जातक, भाग–५, ५११/९३।
१९. वही, ४६६/३६०।
२०. जातक, भाग–४, ४९६/५८०–८१।

था।[१] धर्मपूर्वक प्राप्त सांवा (सामाक), चिगुलक, चीनक (चीनी) साग–सब्जी, कन्दमूल, लताफल (सिंघाड़ा) जैसा फल खाने के प्रयोग में आता था।[२]

(२) मांसाहार– मनुष्य प्रारम्भ से ही मांसाहारी था। ज्यों ज्यों सभ्यता एवं संस्कृति का विकास होता गया और कृषि को अपनाया जाने लगा, त्यों त्यों मांस खाना कम होता गया। बौद्ध आगमों में मांसाहार का उल्लेख हमें प्रचुर मात्रा में प्राप्त होता है। मनुष्य का मुख्य भोजन अभी तक मांस ही था। धीरे धीरे मांस खाने की प्रवृत्ति में कमी आयी।

तत्कालीन समाज का शाकाहार में मुख्य अन्न चावल था। उसके साथ मांस का प्रयोग होता था। एक बार एक राजा जङ्गल में प्रविष्ट होता है और एक ऋषि (बोधिसत्त्व) खाने के लिये कन्दमूल आदि देते हैं तो राजा कहता है, "मैं पत्ते नही खाता। यह मेरा भोजन नहीं है। मैं मांस के साथ शुद्ध शालि (धान) के भात का भोजन करता हूँ।"[३] मांस के साथ चावल को मिलाकर पुलाव बनाया जाता था जिसे 'मांसोदन' कहते थे।[४] मांसयुक्त भोजन सामान्य रूप से प्रत्येक जाति के लोगों के लिये चलता था।[५] तत्कालीन समाज में मांस का प्रयोग व्यापक रूप से होता था, इसलिए विभिन्न पेशेवर जातियाँ मांस का विक्रय करके जीविकोपार्जन करती थीं। वे मांस को गाड़ियों पर लादकर बाजारों में बेचने के लिये ले जाते थे।[६]

तत्कालीन समाज में लोग भेड़, बकरी, सूअर, मुर्गा आदि मारकर देवताओं को बलि चढ़ाते थे तथा उसका भोजन में भी उपयोग करते थे।[७] विवाह आदि उत्सवों में पहले से ही सूअर को यवागु–भात खिलाकर भोज में खाने के लिये तैयार किया जाता था।[८] विनयपिटक में भगवान् बुद्ध ने हाथी, घोड़े, कुत्ते (दुर्भिक्ष के समय), सांप (दुर्भिक्ष के समय), सिंह, बाघ, चीता, लकड़बग्घा के मांस को खाने के लिये भिक्षुओं को वर्जित किया।[९] इससे स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज में हाथी, घोड़े, सिंह, बाघ, चीता का मांस खाया जाता था और लोग विशेष परिस्थिति में दुर्भिक्ष आदि पड़ने पर कुत्ते, सर्प के मांस का भक्षण भी करते थे। रीछ की चरबी, मछली की चर्बी, सूंस की चर्बी, सूअर की चर्बी, गदहे की चर्बी का प्रयोग विशेष रूप से दवाओं के रूप में किया जाता था।[१०] सूकरिक, मागविक, मत्स्यघातक आदि का उल्लेख बौद्ध आगमों में मिलता है।[११] ये लोग मछली, सूकर, मृग आदि का शिकार करते थे और उनका मांस भोजन के लिये उपलब्ध कराते थे। तत्कालीन समाज में मृग का मांस बड़े चाव से लोग खाते थे। ये लोग मछलियों का भी भोजन करते थे।[१२] बौद्ध साहित्य में रोहित, नलपी, सिंगु आदि मछलियों का उल्लेख मिलता है।

---

१. महावस्तु, भाग–३ ११३/९।
२. सुत्तनिपात, पृष्ठ ४८।
३. जातक ६, ५३८/२७।
४. जातक ५, ५१२/१०९।
५. जातक ४, ४९६/५८१।
६. जातक ३, ३१५/२१८, १९।
७. जातक १, ४९/३८३।
८. वही, ३०/३०४।
९. विनयपिटक, महावग्ग, पृष्ठ २३२–३३।
१०. वही, पृष्ठ २१६।
११. मज्झिमनिकाय, पृष्ठ २०९।
१२. जातक, १, ४१/३५२–५३।

बौद्ध आगमों में यह भी मिलता है कि लोग जङ्गलों के आसपास, जहाँ से मांस आदि पर्याप्त मात्रा में मिल सके, गाँव बसाकर रहते थे। वहाँ से जङ्गलों में घूम घूम कर मृगों का शिकार करते तथा उसके मांस[१] से अपने बच्चों का पालन–पोषण भी करते थे।[२] साथ ही यह भी मिलता है कि यज्ञों में गाय, भेड़, बकरी, सूअर एवं मुर्गे काटे जाते थे। क्योंकि अङ्गुत्तरनिकाय में भगवान् बुद्ध कहते हैं कि ''न मैं सभी यज्ञों की प्रशंसा करता हूँ और न सभी यज्ञों की निन्दा करता हूँ। ब्राह्मण! जिन यज्ञों में गौओं की हत्या होती है, बकरों, भेड़ों की हत्या होती है, मुर्गे, सूअरों की हत्या होती है मैं इस प्रकार के हिंसक यज्ञों की प्रशंसा नहीं करता।''[३] सूकरमांस खाने का भी उल्लेख प्राप्त होता है। चुन्द करमार (सुनार) पुत्र ने भगवान् बुद्ध के लिये सूकरमार्दव (सूकरमद्दव) तैयार कराया था।[४] इससे स्पष्ट होता है कि सूकर–मांस भी लोग खाते थे।[५] पक्षियों में कबूतर,[६] हंस, क्रौञ्च, मयूर,[७], मुर्गे[८] का मांस खाते थे।[९] इसके अतिरिक्त जातकों में गोध (गोह) के खाने का भी उल्लेख मिलता है।[१०] पक्षिमांस उत्तम चावल के साथ लोग खाते थे।[११]

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि तत्कालीन समाज में बहुसंख्यक लोग मांस का भक्षण करते थे। उनके भोजन में मांस मुख्य रूप से रहता था और समाज का बहुसंख्यक वर्ग विविध प्रकार के मांसों का सेवन करता था। परिणामस्वरूप जैन एवं बौद्ध मत के प्रवर्त्तकों ने अहिंसा धर्म का उपदेश दिया।

पेय पदार्थ

भोजन के साथ ही साथ पेय का भी महत्त्व तत्कालीन समाज में अधिक था। पेय में अत्यधिक मात्रा में दूध का प्रयोग होता था। सुत्तनिपात में गौओं के विषय में कहा गया है कि भेड़ जैसी प्रिय गायें घड़े भर दूध देनेवाली हैं।[१२] धनी गोप कहता है कि 'भात मेरा पक चुका है, दूध दुह लिया, यहीं नदी के तीर पर स्वजनों के साथ वास करता हूँ, कुटी छा ली है, अग्नि जला ली है, अब, हे देव! जितना चाहो बरसो।''[१३] इससे स्पष्ट है कि दूध[१४] का प्रयोग प्रचुर मात्रा में होता था। इसके अतिरिक्त मधु, मक्खन, घी आदि पौष्टिक पदार्थों का प्रयोग भी होता था।[१५]

इक्षुरस (गन्ने के रस) का पान भी प्रचलित था।[१६] इसके अतिरिक्त उस समय

१. सद्धर्मपुण्डरीक १८०/२०।
२. जातक ४, ४६८/४९४।
३. अङ्गुत्तरनिकाय, तीसरा निपात ४३।
४. बुद्धचर्या, पृष्ठ ४९८; दीघनिकाय, पृष्ठ ९९।
५. महावस्तु, भाग–२/२१३/७।
६. जातक ३, २७७/१०३; सद्धर्मपुण्डरीक १८०/२०।
७. करुणापुण्डरीक ११२/९–१०।
८. जातक २, पुण्णाविन्दजातक (२१४)।
९. सद्धर्मपुण्डरीक १८०/१९।
१०. जातक ३, ३२५/२५२, जातक ५ ५२४/२४२।
११. सुत्तनिपात, पृष्ठ ४९।
१२. वही, पृष्ठ, ६१।
१३. वही, पृष्ठ ५।
१४. दिव्यावदान २/१४, अवदानशतक भाग–१/१५, १३, भाग–२, १६/१।
१५. विनयपिटक महावग्ग, पृष्ठ १०७, मिलिन्दप्रश्न, पृष्ठ ७६।
१६. मिलिन्दप्रश्न, पृष्ठ २०५, अवदानशतक १/१६८/८, दिव्यावदान २८४/२३, विनयपिटक, महावग्ग २५१।

आम्रपान, जम्बूपान, चोचपान, मोचपान (केला), मधु पान, अंगूर का पान, सालूक पान और फारुसक (फालसा) का पान लोग पीते थे।[१] इन पानों के साथ साथ सभी फलों के रसों का पान बनाते थे। एवं फूल के रसों का भी पान तैयार किया जाता था। ढाक के रस का पान, महुवे के फूल के रस का पान सङ्घ में वर्जित था, किन्तु सामान्य जन में इसका प्रचलन था।[२]

तत्कालीन समाज में गोरस का प्रयोग महत्त्वपूर्ण माना जाता था। मेण्डक सेट्ठि को उपदेश देने के बाद भगवान् ने भिक्षुओं से कहा– ''भिक्षुओ! अनुमति देता हूँ पाँच गोरस, दूध, दही[३], तक्र (छाछ), नवनीत (मक्खन) और घी (सर्पिष्) की।[४] लोग तक्र में नमक मिलाकर भी पीते थे।[५]

इन पानों के अतिरिक्त तत्कालीन समाज में सुरापान का भी अत्यधिक उल्लेख मिलता है। समाज का अधिकांश वर्ग सुरापान[६] करता था। पानागार (शराबखाना) सर्व-- साधारण के लिये होता था। जो भी उसे पीना चाहते थे वे जाकर उसमें पीते थे।[७]

सुरापान

बौद्ध साहित्य में सुरापान का उल्लेख मिलता है। तत्कालीन समाज में सुरा के व्यापारी होते थे।वे तीक्ष्ण सुरा बनाकर उसे रजत या सोना लेकर बेचते थे। शराब बेचने के लिये व्यापारी नौकर भी रखते थे।[८] थके हुए नागरिक शराब की सुराही ले मछलियां खा–खाकर शराब पीते थे। सेठ लोग भी शराब पीते थे। सुरा के सम्बन्ध में एक कंजूस सेठ की कहानी जातक में मिलती है जो सुरा न पाने पर बीमार पड़ा और उसकी पत्नी ने उसके पीने की व्यवस्था की– ''अच्छा, तो इतनी शराब बनाऊँगी जितनी की तुझ अकेले के लिये पूर्ण हो।''[९] इससे स्पष्ट होता है कि सुरा का सेवन सेट्ठी भी करते थे। सुरा पीने के लिये सुराधूर्त (शराबी) चोरी भी करते थे।[१०] शराब पीकर लोग राजकुल में नहीं जाते थे।[११] गरीब मजदूर भी अपनी मजदूरी से कटौती करके उत्सवों पर शराब पीते थे। एक भिश्ती पानी भरने की मजदूरी करता था और एक दरिद्र स्त्री भी पानी भरने की मजदूरी करती थी। दोनों ने अपनी मजदूरी के अंश में से आधा आधा भाग मिलाकर सुरापान करने का निश्चय किया।[१२] सुरा–उत्सव भी होता था। लोक सुरा–उत्सवों में सुरापान करके उत्सव मनाते थे।[१३] सुरा–मैरेय का पान मधु की तरह मधुरके ज्ञाता पीते थे।[१४] उस समय कुशल–क्षेम पूछ लेने के बाद पान में सुरा भी पूछने के प्रचलन का भी उल्लेख प्राप्त होता

१. *विनयपिटक, महावग्ग २५१।*
२. *वही।* ३. *वही, पृष्ठ २५०।*
४. *दिव्यावदान २/१४, ३५/२३. अवदानशतक, भाग १/१५/१३, महावस्तु, भाग ३/११३/८।*
५. *विनयपिटक, महावग्ग २२६।*
६. *संयुत्तनिकाय, भाग–१, पृष्ठ १६९, जातक ६, ५३८/३३, ३४; जातक ५, ५१२/१८, मज्झिमनिकाय, पृष्ठ ५८१।*
७. *जातक १, ६५/४३७।*
८. *जातक १, ४७/३७४।*
९. *वही, ७८/४९८।*
१०. *जातक १, ५३/३९५।*
११. *जातक १, ५३/३९६।*
१२. *जातक ४, ४२१/१०६।*
१३. *वही, ४५९/३१६।*
१४. *वही, ४५९/३१७।*

है।[1] सुरा पीने वाले को 'सुरापायी' भी कहते थे।[2] अर्क उतरी शराब को 'सुरा', कच्ची शराब को 'मैरेय' और चावल की शराब को 'तुषोदक' कहते थे।[3] दवाओं में सुरा का प्रयोग होता था एवं सुरा की अभ्यङ्ग (मालिश) भी (अङ्ग टूटने पर) की जाती थी।[4] जातक में एक उद्धरण मिलता है जिसमें तरुणों की एक मित्र-मण्डली ने अपने एक मित्र से पैसा ऐंठने के लिये धूर्तता से सुरा पी और पिलायी।[5] इस प्रकार हम देखते हैं कि तत्कालीन समाज में सुरापान का व्यापक प्रचार था। समाज के प्रत्येक वर्ग के कुछ न कुछ लोग सुरापान करते थे। निर्धनवर्ग के लोगों एवं गृहस्थ वर्ग में भी सुरापान प्रचुर मात्रा में होता था। यद्यपि समाज के लिये सुरापान कष्टकर एवं हानिप्रद (रोगकारक) था, फिर भी लोग मांस के साथ सुरा का सेवन करते थे।

मद्यनिषेध

मद्यपान समाज एवं राष्ट्र के लिये अभिशाप है। इसका विरोध तत्कालीन समाज के प्रबुद्ध वर्ग द्वारा विशेषरूप से किया गया। ब्राह्मण, तापस, पुरोहित, ब्रह्मचारी, श्रमण, भिक्षु आदि लोग इसके विरुद्ध थे। सुरापान के विरुद्ध गौतम बुद्ध के विचार बौद्ध आगमों में विशेष रूप से परिलक्षित होते हैं। उन में सुरा की उत्पत्ति एवं उसके अवगुणों का उल्लेख विशेष रूप से किया गया है। कुम्भजातक में सुरा की उत्पत्ति एवं अवगुणों का जो उल्लेख किया गया है वह बहुत ही यथार्थ एवं मनोवैज्ञानिक है।

सुरा की उत्पत्ति— इस सम्बन्ध में यह बताया गया है कि "हिमालय पर एक वृक्ष उग कर तीन तनों में विभक्त हो गया था, वहाँ तीनों तनों के बीच में गड्ढा बन गया वर्षा का पानी उसमें एकत्र होने लगा तथा उस गड्ढे के चारों ओर हर्रे, आँवला तथा मिर्च के पेड़ थे। उसके पके फल टूट-टूट कर उसमें गिरते थे। थोड़ी ही दूर पर स्वयं उत्पन्न धान के पौधे थे। वहाँ से तोते धान की बालें लाकर उस वृक्ष पर बैठ कर खाते और उनके खाते समय धान और चावल उसमें गिरते और पड़ते थे। इस प्रकार सूर्य की धूप से पकते रहने के कारण वह पानी रक्त वर्ण हो गया । धूप के समय प्यास से व्याकुल पक्षिगण उसे पीते तो मूर्च्छित (बेहोश) होकर गिर पड़ते और थोड़ी देर तक सोये रहकर फिर चहचहाते उठ जाते। वहाँ सुर नाम के एक जङ्गली व्यक्ति ने इसे देख कर उसने सोचा— "यदि यह विष होता, तो ये पक्षी मर जाते, किन्तु ये थोड़ी देर सोकर सुखपूर्वक सोकर चले जाते हैं, अतः यह विष नहीं है।" उसने उसको स्वयं पीकर परीक्षण किया और वरुण नाम के तपस्वी को पिलाया। वरुण और सुर के द्वारा इसका व्यापक प्रचार किया गया, इसलिये इस पेय पदार्थ का नाम 'सुरा' एवं 'बारुणी' पड़ा।"[6]

'सुरा' की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कही गयी उपर्युक्त कथा बहुत ही रोचक है। सुरा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में और भी परिकल्पनाएँ एवं धारणाएँ हो सकती हैं, मनुष्य ने किस तरह से इसका निर्माण किया, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। पर यह तो स्पष्ट है कि सुरा सड़ने और गलने से उत्पन्न हुई है।

---

१. जातक ६, ५३८/२५।
२. वही, ५३८/३४।
३. मज्झिमनिकाय, पृष्ठ ५०।
४. विनयपिटक, महावग्ग, पृष्ठ २२०।
५. जातक ५, ५३७/५४४, ४५।
६. जातक, ५, ५१२/११।

सुरा पीने से जो दुर्गुण उत्पन्न होते हैं और उसके जो दोष हैं उनका वर्णन बौद्ध साहित्य में यथार्थ रूप में किया गया है। श्रावस्तीनरेश जब राज्य-सिंहासन पर बैठकर सुरा पीने के लिये उद्यत हुए तब देवेन्द्र शक्र ने उसे देख यह सोचा, "यदि यह सुरा पीयेगा तो तमाम जम्बूद्वीप नष्ट हो जायेगा, मैं कुछ ऐसा करूँ कि जिससे यह सुरा न पिये।" उसने सुरा से भरा एक घड़ा हाथ की हथेली पर रखकर ब्राह्मण का वेष धारण कर राजा के सम्मुख खड़े होकर आवाज लगायी- "यह घड़ा लो।" राजा ने आवाज सुनते ही पूछा, "यह किसका घड़ा है? हे ब्राह्मण! मुझे यह बात बता।" तब शक्र ने, 'तो सुन' कहकर सुरा के दोष बताये। "न तो यह घी का घड़ा है, न तैल का घड़ा है, न शक्कर का या न मधु का ही है। इस घड़े में अनेक दोष हैं। इस घड़े के बहुत से दोष हैं, उनको सुन-

"जिसे पीकर लड़खड़ाये, प्रपात, गढ़े, कीचड़, तालाब अथवा जोहड़ (कच्चे तालाब) में गिर पड़े और जिसे पीकर आदमी अनेक प्रकार के अखाद्य पदार्थ खाये।

"जिसे पीकर चित्त पर नियन्त्रित न रहे और आदमी बैल की तरह इधर उधर कुछ भी खाता हुआ घूमता रहे, अनियन्त्रित होकर गाता और नाचता रहे। नग्न होकर गाँव की गलियों में भटकने लगे है और मूढ़चित्त तथा देर तक सोते रहने वाला हो जाय।

"जिसे पीकर उठकर, काँपता हुआ, हाथ-पाँव घुमाता हुआ, कठपुतली की तरह नाचता है।"

'जिसे पीकर अग्नि से भी जल मरते हैं और गीदड़ों द्वारा भी खाये जाते हैं तथा बन्धन और सम्पत्ति की हानि को प्राप्त होते हैं।"

"जिसे पीकर सभा में बैठा हुआ व्यक्ति निर्वस्त्र होकर न बोलने योग्य बात बोलता है और जिसे पीकर अपने ही वमन से दु:ख को प्राप्त होता है। अभिमान से लाल-लाल आँखें करके आदमी यह समझने लगता है कि सारी पृथ्वी मेरी है और कोई चक्रवर्ती राजा मेरे समान नहीं है। यह अभिमान पैदा करने वाली है, कलह पैदा करने वाली है, चुगलखोरी का कारण होती है, दुर्बल करने वाली है, नग्न करने वाली है। वह धूर्त चोरों की गति है, उनका निकेतन है।"

'जिसने लोक में हजारों की सम्पत्ति वाले समृद्धशाली कुलों को नष्ट कर दिया, जो धन-धान्य, चाँदी-सोना, खेत तथा पशुओं को नष्ट कर डालती है।"

"जिसे पीकर दुष्ट मनुष्य माता तथा पिता को गालियाँ देता है और कामवासनावश सास तथा पतोहू का भी हाथ पकड़ लेता है। नारी इसे पीकर ससुर तथा स्वामी को गालियाँ देती है और नौकर तथा दास का भी हाथ पकड़ लेती हैं।"

"जिसे पीकर पुरुष धर्माचारी, श्रमण अथवा ब्राह्मण की भी हत्या कर सकता है और उसके फलस्वरूप नरक जाता है, मनुष्य शरीर, वाणी अथवा मन से दुष्कर्म करता है और दुष्कर्म करके नरकगामी होता है।

"जिस सत्यव्रत पुरुष को बहुत सोना देकर भी झूठ नहीं बोलवाया जा सकता, वही आदमी इसे पीकर झूठ बोला है, कोई आवश्यक कार्य होने पर यदि किसी को कहीं भेजा जाय तो वह आदमी कही हुई बात तक न समझे।

"जिसे पीकर लज्जावान् पुरुष भी निर्लज्ज हो जाते हैं और जिसके मद में गम्भीर पुरुष भी बकवास (प्रलाप) करने लग जाते हैं।

"जिसे पीकर आदमी बिना खाये-पीये कठोर भूमि पर गठरी बनकर गिर पड़ता है और दुर्वर्णता तथा निन्दा को प्राप्त होता है, गले में लोहा बाँधे पशुओं की तरह आदमी

बिना खाये पिये सिर गिराये पड़ा रहता है जिससे लोग विषैले सर्प की तरह भय खा कर दूर भागते हैं दुनियां में वह विषसदृश पेय पदार्थ किसके पीने योग्य है।''[१]

सुरापान के उपर्युक्त दोषों को शक्र और श्रावस्तीनरेश के वार्तालाप के माध्यम से व्यक्त करके सुरापान को रोकने का उपक्रम किया गया है। इसमें यह भी परिलक्षित होता है कि जम्बूद्वीप में रहने वाले लोगों के लिये सुरापान वर्जित था। तत्कालीन समाज में सुरापान को रोकने का प्रबल प्रयास बौद्ध आगमों के माध्यम से किया गया है। भगवान् बुद्ध एवं सिङ्गाल गृहपतिपुत्र[२] की वार्ता में सुरासेवन के दुष्परिणामों का उल्लेख मिलता है।

''गृहपतिपुत्र! सुरा–सेवन एवं नशीली पदार्थों के सेवन के छः दुष्परिणाम हैं– (१) तत्काल धन की हानि होती है, (२) कलह बढ़ता है, (३) यह रोगों का घर है, (४) अपयश उत्पन्न करनेवाला है, (५) बुद्धि (प्रज्ञा) को दुर्बल करता है।''[३]

इन दोषों के साथ साथ सुरा को विनाश का कारण बताया गया है विनाश के छ कारणों में शराब, नशा आदि का सेवन, विकाल (सन्ध्या) में चौरस्ते की सैर, समज्या (समाज) नाच तमाशा देखने का नशा, जुआ, बुरे मित्र की मिताई, आलस्य में फँसना है।[४] सुरा पान में साथ रहने वाला नहीं होता।[५] सुरा, मेरय आदि मादक (नशीली) वस्तुओं के सेवन से विरक्ति, प्राणी–हिंसा से विरक्त रहने वाले कुलपुत्र की सम्पदा है तो 'इसे शील सम्पदा' कहते हैं।[६]

शराब आदि नशीली चीजों के पीने से विरत रहने वाले शील को ग्रहण करते हैं।[७] अनाथपिण्डक को भगवान् बुद्ध पाँच भय या वैर शान्त होने के सम्बन्ध में बताते हुये कहते हैं व सुरा, मैरेय आदि नशीली चीजों को ग्रहण करने के परिणामस्वरूप इसी जन्म में जिस भय-वैर को प्राप्त होता है, सुरा, मेरय आदि नशीली चीजों को ग्रहण न करने से वह भय-वैर शान्त हो जाता है।[८] सुरा के सेवन से भय और वैर–दोनों ही बढ़ते हैं। भय और वैर को शान्त करने के लिये सुरापान नहीं करना चाहिये।

भगवान् बुद्ध शिक्षा के सम्बन्ध में शिक्षा की दुर्बलताओं को बताते हुए कहते हैं ''भिक्षुओ! ये पाँच शिक्षासम्बन्धी दुर्बलतायें हैं– हिंसा करना, चोरी करना, कामभोग सम्बन्धी मिथ्याचार, झूठ बोलना तथा सुरा, मैरेय, मद्य आदि नशीली चीजों का व्यवहार।''[९] मादक पेयों का पान शिक्षा में भी व्यवधान उत्पन्न करता है। इसलिये सुरापान का परित्याग अनिवार्य है। ग्रामभोजक मद्य की बिक्री रोकता था। क्योंकि उत्सवों में इसके पी लेने पर लोग झगड़ते हाथ–पैर तोड़ते, सिर फोड़ते और बहुत डण्डे तोड़ते थे।[१०] सुरा के पीने के कारण एक ब्राह्मण ने अपने पुत्र को घर से निकाल दिया और कहा–''हे तरुण! हम किसी अन्य को गोद लेकर पुत्र बना लेंगे। रे दुष्ट! तू वहाँ जाकर रह जहाँ से हमें फिर तेरा नाम

१. जातक ५, ५१२/१०२–१०७।
२. दीघनिकाय, भाग–३, सुत्त–८।
३. दीघनिकाय, भाग–३, पृष्ठ १४१; बुद्धचर्या, पृष्ठ २५८।
४. वही।
५. वही, पृष्ठ १४२–४३; बुद्धचर्या, पृष्ठ २५९।
६. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग–३, पृष्ठ ३८४।
७. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग–४, पृष्ठ ३४।
८. अङ्गुत्तरनिकाय ४, पृष्ठ ४३–४४।
९. वही, पृष्ठ ८३ तथा ८२, ८५, ८६।
१०. जातक ४, ४५९/३१६।

भी सुनने को न मिले।''[१] इस प्रकार सुरापान का विरोध भी हुआ। समाज का प्रबुद्ध वर्ग इसके पान के विरुद्ध था। भगवान् बुद्ध गृहस्थ धर्म के सम्बन्ध में कहते हैं, ''इस धर्म के इच्छुक गृहस्थ मद्यपान के परिणाम को उन्माद जानकर न तो उसका सेवन करें, न पिलावे और न पीने की अनुमति ही दें।[२]

बौद्ध आगमों से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज में हो रहे सुरापान का विरोध भगवान् बुद्ध द्वारा किया गया। इसके पूर्व भारतीय साहित्य में सुरापान के विरोध में कोई भी तथ्य उपलब्ध नहीं होता। भगवान् बुद्ध और सङ्घ के स्थविरों द्वारा मद्यनिषेध का कार्य प्रारम्भ करके सुरासक्त अतएव पतित लोगों का पथ-प्रदर्शन किया गया।

वस्त्र एवं आभूषण

तत्कालीन समाज के लोग किस तरह के और कौन कौन से वस्त्र एवं आभूषण प्रयोग में लाते थे उसका ज्ञान हमें अन्य स्रोतों जैसे, शिलालेख, मूर्ति, यात्रावर्णन, साहित्य आदि से प्राप्त होता है। परन्तु बौद्ध साहित्य में भी तत्कालीन समाज के लोगों द्वारा प्रयुक्त वस्त्रों एवं आभूषणों के प्रयोग का वर्णन मिलता है।

बौद्ध साहित्य में वस्त्रों के विकास का ज्ञान काशी के बने सुन्दर वस्त्रों के वर्णन से ही हो जाता है।[३] उस समय काशी के रेशमी वस्त्र अत्यधिक प्रसिद्ध थे।[४] सन एवं कुश से बने हुए कपड़े तथा बालों से बने वस्त्रों का भी प्रयोग होता था।[५] चर्म का प्रयोग भी तन ढकने के लिये कपड़े के रूप में एवं जूते के निर्माण के रूप में किया जाता था।[६] तत्कालीन समाज के लोग क्षोम (अलसी की छाल) कपास, कोये (कीडें) से उत्पादित सभी प्रकार के सूत, ऊन, साढ़ (सनका) और भंग (भांग की छाल का बना अथवा उक्त पाँचों के मिश्रण से बना हुआ) से बने हुए वस्त्रों का प्रयोग करते थे।[७]——लोग मृग का चर्म भी धारण करते थे।[८]

उस समय तक विभिन्न प्रकार के रंगीन वस्त्र पहनने का प्रचलन प्रारम्भ हो गया था; क्योंकि काशी के कोमल और चिकने वस्त्र नीलवर्ण, पीतवर्ण, लालवर्ण एवं सफेदवर्ण के होते थे।[९] लोग वस्त्रों के पहनने में वर्ण का ध्यान रखते थे। ऐसा लगता है कि उस समय नागरिक गृहस्थ सुन्दर से सुन्दर वस्त्र पहनते थे; क्योंकि भगवान् बुद्ध, इसके विपरीत, भिक्षुओं को विनय बताते समय यह निर्देश देते थे कि ''वे गृहस्थों की तरह विलासमय वस्त्र न पहनें क्योंकि कामभोगी गृहस्थ बहिर्लोमी (बाहर रोम निकला ओढ़ना), ऊनी चादर धारण करते हैं।''[१०] बहुमूल्य वस्तुओं को भी धारण करते थे।[११] उस समय भी

---

१. जातक ५, ५३७/५४५-४६।
२. सुत्तनिपात, पृष्ठ ७९।
३. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग-१।
४. थेरीगाथा ७१/३४७।
५. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग-२, पृष्ठ १९८-९९, महावस्तु ३/२१६/६, वही १/१४९/५।
६. विनयपिटक, महावग्ग, पृष्ठ २७९।
७. विनयपिटक, महावग्ग, पृष्ठ २७५।
८. मज्झिमनिकाय, पृष्ठ ५०।
९. वही, ३१२-३१३।
१०. विनयपिटक, चुल्लवग्ग ४२१।
११. सद्धर्मपुण्डरीक, अधिमुक्तिपरिवर्त ११४।

अच्छे एवं सुन्दर वस्त्रों की तरफ लोगों का आकर्षण विशेष रूप से रहा करता था।[१] उस समय धोती (साटक) पहनने का प्रचलन अत्यधिक था।[२] लोग धोती भी विभिन्न प्रकार से पहनते थे। नाभि के नीचे तक पहनने को 'हस्तिशौण्डिक' कहते थे, किनारी और छोर को चुनकर मछली की पूँछ की भाँति पहनने की ढंग को 'मत्स्यवालक' कहते थे, ऊपर दो किनारे और नीचे दो किनारे दिखायी दें तो इस प्रकार के पहनने के ढंग को 'चतुष्कर्णक' कहते थे, ताड़ पत्ते की भाँति चुनकर लटका कर पहनने की प्रक्रिया को 'सत्तवल्लिक' कहते थे।[३] नाना प्रकार के कमरबन्द, कलावुक, देड्डुमक, मुरज होते थे, परन्तु विशेष रूप से गृहस्थ श्वेत वस्त्र ही पहना करते थे।[४] मद्दवीण धारण करते थे।[५] लोग वस्त्रों को बहुत ही आकर्षक ढंग से पहनते थे। स्त्रियां कञ्चुक[६] एवं साड़ियाँ पहनती थीं[७] और अलंकृत रहा करती थीं। वे रेशमी वस्त्र अच्छी तरह से पहनती थीं।[८] वे विभिन्न रंगों के वस्त्र धारण करती थीं।[९]

श्वेत मखमली चादरों का भी प्रयोग होता था। हंस एवं बक के चित्रों से युक्त दरियाँ भी काम में लायी जाती थीं।[१०] कोजव (लम्बे बालों वाला कम्बल) क्षौम (मिश्रित कम्बल) का प्रयोग ओढ़ने में होता था।[११]

आसन्दी, पलंग, गोंड़क (रोयेंदार कम्बल) चित्रक (नक्सेदार), पटिक, पटलिक, (फूलदार), तूलिक (रूईदार), विकतिक (सिंह, व्याघ्र आदि के चित्र वाला), उद्धलोमी (ऊनी चादर, जिसके दोनों ओर झालर लगी हों), एकन्तलोमी (ऊनी चादर, जिसके एक ओर झालर लगी हों) कट्टिस्स (कामदार रेशम) का प्रयोग शय्या के रूप में होता था।[१२] उस समय चैल पंक्ति (पांवड़े) घुस्सों (कपड़े के थान) के बिछायी जाती थी। जिस पर अतिथि चला करते थे।[१३] इस प्रकार घर आये अतिथियों का स्वागत होता था।

प्रसाधन

पुरुष मुख पर चूर्ण मलते थे और मैन्सिल से मुख को अङ्कित करते थे और अङ्गराग (पाउडर) लगाते थे। मुखराग (मुख रंगने वाला रंग) लगाते थे। इसी प्रकार स्त्रियां भी मुखचूर्ण, मैन्सिल, अङ्गराग, मुखराग का प्रयोग करती थीं।[१४] बाल संवारने के लिये कोच्छ (थकरी), फण (कंघी) और दर्पण का प्रयोग किया जाता था। सुगन्धित तेलों का भी प्रयोग होता था।[१५] केशों को पुष्पों से भी सजाया जाता था। पुरुष लम्बे लम्बे बाल रखते

१. सद्धर्मपुण्डरीक, अधिमुक्तिपरिवर्त ११०।
२. बुद्धचर्या १८१।
३. विनयपिटक, चुल्लवग्ग।
४. विनयपिटक, महावग्ग २०५।
५. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, पृष्ठ ४४२।
६. विनयपिटक २८।
७. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, पृष्ठ ५३०।
८. जातक, भाग–४, ४३१/१५७–१६१; महावस्तु–२, २३४/४।
९. महावस्तु भाग–१, २६०/१३, १७, ३; वही ८ भाग–३, ११९/१५; विनयपिटक, चुल्लवग्ग ५२९, सद्धर्मपुण्डरीक, ९६।
१०. सद्धर्मपुण्डीक, ९६।
११. विनयपिटक, महावग्ग २७४।
१२. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, ४६६, विनयपिटक महावग्ग २०९।
१३. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, ४३७।
१४. वही, ४–४२०, ५२८।
१५. दिव्यावदान १७६/२८।

थे और मूँछे कटवाते भी थे, मूँछ दाढ़ी रखते भी थे।[1] नेत्रों में शलाका से अपाङ्ग (आञ्जन) लगाया जाता था।[2]

उस समय सुगन्धित होने के लिये मूलगन्ध का प्रयोग होता था, जिसमें विशेष रूप से कालानुसारिक (खस) महत्त्वपूर्ण था। सारगन्ध में मुख्य रूप से लोहित चन्दन (लाल चन्दन) का और पुष्प–गन्ध में वार्षिकी (जूही) का प्रयोग अधिक किया जाता था।[3]

अन्य वेश–भूषा (पहनावे)

तत्कालीन समाज में लोग पैरों की सुरक्षा के लिये विभिन्न प्रकार के जूते धारण करते थे। ये जूते कई तल्ले वाले हुआ करते थे। एक तल्ले वाले जूते, दो तल्ले वाले जूते, तीन तल्ले वाले जूते और बहुत तल्ले वाले भी जूते हुआ करते थे।[4] जूते नीले, पीले, लाल, मजीठिया, काले महारंग से रंगे विभिन्न प्रकार के रङ्गों के हुआ करते थे।[5] उस समय एड़ी ढकने वाले जूते, कुटुबद्ध जूते, पणिगुंठिम (आजकल के बूट की तरह से) के होते थे।[6] जूते रोंयेदार भी होते थे। भेड़ की सींग बँधे हुए, बकरे की सींग बधे, बिच्छु के डङ्क की तरह नुकीले जूते भी लोग धारण करते थे। साथ ही मौर-पङ्ख से बने जूते एवं चित्रित जूते भी कुछ लोग धारण करते थे।[7] ये जूते सिंह, व्याघ्र, चीता, मृग, उदबिलाव, बिल्ली काड़क (गिलहरी) और उल्लू के चमड़ों को परिष्कृत करके बनाये जाते थे। इसके अतिरिक्त लोग काठ की खड़ाऊँ, ताड़ के पत्तों की पादुका, बांस तृण एवं मूँज की पादुका, हिन्ताल की पादुका आदि अनेक प्रकार की पादुकाएँ भी धारण करते थे। लोग अपनी पादुकाओं में यथारुचि कांच, रांगा, तांबा, कांसा, चांदी, सोना के अलङ्कार भी जड़ा लेते थे।[8]

आभूषण

बौद्ध साहित्य में विभिन्न प्रकार के आभूषणों का उल्लेख मिलता है जिनका प्रयोग तत्कालीन समाज की स्त्रियाँ एवं पुरुष करते थे। दक्ष मणिकार[9] स्वर्णकार[10] बहुमूल्य धातुओं और मणियों से विभिन्न प्रकार के आभूषण बनाकर लोगों की आवश्यकता की पूर्ति करते थे। इनमें बाली[11], पामण्डग (लटकन), कर्ण–सूत्र, कटि–सूत्र, खडुवा, केयूर[12], हस्तामरण, अंगूठी[13] आदि का प्रयोग बहुत अधिक होता था।[14] स्त्रियां हाथों में कंगन पहनती थीं।[15] स्वर्णमालाएँ भी निर्मित होती थीं।[16] मोती, माणिक्य और स्वर्णाभूषित हाथ के

---

१. विनयपिटक चुल्लवग्ग ४४०, ४४१।
२. वही, ५२९, अवदानशतक १/१७/३।
३. मज्झिमनिकाय, पृष्ठ ४५६।
४. विनयपिटक, महावग्ग २०४।
५. विनयपिटक, महावग्ग २०४।
६. वही।
७. वही।
८. वही, २०८।
९. महावस्तु ३/२५५/१२।
१०. जातक, भाग–३, २९०/१४९।
११. दिव्यावदान १६/१३, १७।
१२. वही, १९६/२८, ३१५/३०।
१३. महावस्तु, भाग–२/३११/१०।
१४. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, पृष्ठ ४१९।
१५. जातक, भाग–५, ४०८/३८।
१६. दिव्यावदान ५/३१, ६/३१।

आवरणों[१] को धारण किया जाता था।[२] स्त्रियां कानों में कुण्डल भी धारण करती थीं।[३] मणियों पर मानव पशु और पक्षियों की चित्रकारी बनी रहती थी।[४] मोतियों, मणियों के कुण्डल बनाये जाते थे।[५] बौद्ध साहित्य में मुकुट का भी वर्णन मिलता है। ये मुकुट बहुमूल्य रत्नों से बने रहते थे।[६] ये कुण्डल आभायुक्त होते थे। अङ्गद[७] एवं बलय[८] (हाथ में पहने जाने वाले) आभूषण थे। कमर का आभूषण मेखला[९] भी प्रचलित था। इसके अतिरिक्त शङ्खमेखला, शङ्ख गोचका[१०] आदि मुख्य आभूषण प्रचलित थे।

इस प्रकार बौद्ध साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज के लोग नाना प्रकार के वस्त्रों एवं आभूषणों से अपने को अलङ्कृत करते थे।

शिक्षा

किसी समाज का सांस्कृतिक स्तर उसकी शिक्षा पर निर्भर करता है। प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था में शिक्षा को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया था। जिसके फलस्वरूप भारतीय मनीषियों ने ज्ञान के क्षेत्र में क्रान्ति की। इसी क्रान्ति के परिणामस्वरूप भगवान् बुद्ध और उनकी विचारधारा जन जन तक पहुँचने में सफल रही; क्योंकि बौद्ध भिक्षुसङ्घ की आधारशिला शिक्षा पर ही आधृत थी। बौद्ध काल में बौद्धविहार ही शिक्षा के केन्द्र थे। इन बौद्ध बिहारों में आध्यात्मिक चिन्तन होते थे और यहाँ के आचार्य अपने शिष्यों को मुख्य रूप से आध्यात्मिक शिक्षा देते थे। बौद्ध साहित्य में सारिपुत्र, महामौद्गल्यायन, महाकाश्यप, अनुरुद्ध, महाकात्यायन, कुमारकाश्यप, चुल्लपन्थक, आनन्द, महाप्रजापति गौतमी, धम्मदिन्ना, खेमा आदि भिक्षुणियों का उल्लेख प्राप्त होता है।[११] जो बिहार में रहने वाले भिक्षुओं को और देशाटन के समय विभिन्न लोगों को उपदेश देते थे। समाज के लोग उनकी शिक्षाओं से विशेष लाभान्वित होते थे। शिक्षा का महत्त्व उस समय सर्वोपरि था। शिक्षा की सार्थकता धार्मिक प्रवृत्तियों के उत्थान, चारित्रिक एवं व्यक्तित्व के उत्थान, सामाजिक उत्तरदायित्वों के निष्पादन एवं सांस्कृति जीवन के उत्थान में निहित थी।

बौद्ध आगमों में शिक्षा का उच्चतम एवं महत्त्वपूर्ण स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। तत्कालीन समाज में शिक्षार्थी गुरुकुलों[१२] में जाकर व्यावसायिक[१३] एवं आध्यात्मिक शिक्षा ग्रहण करता था। गुरुकुल को 'आचार्यकुल'[१४] भी कहा जाता था। शिक्षार्थियों को माणवक[१५] की भी संज्ञा दी जाती थी। ये विद्यार्थी ब्रह्मचर्य[१६] का पालन करते थे। इनका जीवन बहुत

१. जातक, भाग–५, ४०८/३८।
२. महावस्तु, भाग–१/२५९/१७।
३. जातक, भाग–६, ५४२/१८१–८३। *४. वही, ५४३/५४।*
५. वही, ५४५/३१६, १७, महावस्तु, भाग–२/३५२/१०।
६. जातक, भाग–६, ५४६/५१५।
७. दिव्यावदान ५/३१।
८. वही, ३/२७६/८।
९. बुद्धचरित ८/६२।
१०. महावस्तु भाग–२–४७३/१२, १५।
११. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग–१, पृष्ठ २१–२७।
१२. महावस्तु, भाग–२/२०३/८।
१३. जातक, भाग–४, ४३८/१९७, जातक, भाग–४ ४४३/२२१।
१४. वही, ४२५/१३६।
१५. करुणावदान ३१/८, शार्दूलकर्णावदान, पृष्ठ ३१९–४२२।
१६. शार्दूलकर्णावदान, पृष्ठ ३१९।

ही नियमित हुआ करता था। उपाध्याय की अनुमति के विना विद्यार्थी कोई भी कार्य नहीं करता था।[१] जो शिष्य गुरु के प्रति प्रेम या गौरव नहीं रखता था और ध्यान आदि पर बल नहीं देता था, वह गुरुकुल से हटा दिया जाता था।[२] और क्षमा माँगने पर ही उसे पुनः रखा जाता था। शिष्य गुरु की पूजा और वन्दना करते थे।[३] शिष्य गुरुकुल की सफाई और गुरु की सेवा करते एवं गुरु की हर सुख–सुविधा का ध्यान रखते थे।[४] जो विद्यार्थी व्यावसायिक शिक्षा, जैसे–गणना आदि प्राप्त करते थे, उन्हें अन्तेवासी[५] कहा जाता था।

गुरु[६] को आचार्य[७], उपाध्याय[८], अध्यापक[९] कहा जाता था। आचार्य शिष्यों पर अनुग्रह रखता था, उपदेश देता था एवं शिष्यों की सब सुविधाओं का ध्यान रखता था।[१०] एक बार एक आचार्य ने वाराणसी के ५०० विद्यार्थियों को शिल्प सिखाते हुए एक दिन सोचा– "मुझे यहाँ रहने में असुविधा होती है, विद्यार्थियों का अध्ययन भी समाप्त नहीं होता, हिमालय प्रदेश के जङ्गल में रहकर पढ़ाऊँगा।"[११] इससे स्पष्ट होता है कि गुरु शिष्यों के अध्ययन का विशेष ध्यान रखते थे। भिक्षुणियाँ भी शिक्षा देने का कार्य करती थीं। वे उपाध्यायिका कहीं जाती थी।[१२] आचार्यों के अध्यापन से अवकाश ग्रहण करने की कोई आयु निश्चित नहीं थी। वे जीवनपर्यन्त शिक्षा देने का कार्य करते थे।

गुरु–शिष्य का सम्बन्ध पिता–पुत्र जैसा था। गुरु पितृबुद्धि रखकर शिष्य पर अपनी अनुकम्पा रखता था और शिष्य पुत्रबुद्धि से गुरु की सेवा में रत रहता था। भगवान् बुद्ध ने विनयपिटक में कहा है– "आचार्य को शिष्य में पुत्रबुद्धि रखनी चाहिये, और शिष्य को आचार्य में पितृबुद्धि।"[१३] आचार्य सदैव शिष्यों के बीच ही रहा करता था जिससे गुरु और शिष्य के सम्बन्ध मर्यादित एवं अच्छे होते थे।[१४] शिष्य गुरु की अनुमति के विना कोई कार्य नहीं करता था।[१५] आचार्य भी शिष्य के साथ अच्छा व्यवहार रखता था।[१६] शिष्य यदि योग्य एवं कुशल होता था तो आचार्य उसे आचार्यत्व भी प्रदान करता था और अपने शिष्यों को सौंप देता था।[१७] यदि आचार्य रोगी हो जाय और शीघ्र अच्छा न हो तो शिष्य जीवनपर्यन्त उसकी सेवा करता था।[१८]

---

१. *विनयपिटक, महावग्ग, पृष्ठ १०२–१०३।*
२. *वही, पृष्ठ १०४–१०५।*
३. *अवदानशतक, भाग–२/८, ९/९, १२।*
४. *विनयपिटक, महावग्ग, पृष्ठ १०१।*
५. *मज्झिमनिकाय, पृष्ठ ४५४।*
६. *विनयपिटक, महावग्ग, पृष्ठ ११०; महावस्तु २/२२५/२।*
७. *वही, पृष्ठ ११०, अवदानशतक, भाग–२–१६२/४।*
८. *वही, पृष्ठ १०३. दिव्यावदान, पृष्ठ १२/२९।*
९. *शार्दूलकर्णावदान, पृष्ठ ३१९।*
१०. *विनयपिटक, महावग्ग, पृष्ठ १०३–११०।*
११. *जातक, भाग–४, ४३८, पृष्ठ १९७।*
१२. *अवदानशतक, भाग–२/५१/५।*
१३. *विनयपिटक, महावग्ग, पृष्ठ १०९।*
१४. *अवदानशतक, भाग–१/१०८/५, जातक, भाग–४, ४३८/१९७।*
१५. *विनयपिटक, महावग्ग, पृष्ठ १०९।*
१६. *विनयपिटक, महावग्ग, पृष्ठ ११०।*
१७. *जातक, भाग–५, ५२२२/२१०।*
१८. *विशुद्धिमार्ग, पृष्ठ ८९।*

शिक्षाकेन्द्र– तत्कालीन समाज में तक्षशिला नगर शिक्षा का केन्द्र था। वहाँ ही विद्यार्थी जाकर विद्याध्ययन का कार्य करते थे।[१] विद्यार्थी गुरुकुलों में जाकर शिक्षा ग्रहण करते थे।[२] इसके अलावा बौद्धविहारों, मठों में भी शिक्षा दी जाती थी। नालन्दा, काशी और वैशाली में मुख्य रूप से शिक्षा प्रदान की जाती थी।[३] साथ ही साथ गुरु–शिष्यों के अध्ययन की सुविधा के अनुसार हिमालय प्रदेशों में जङ्गलों में भी शिक्षा प्रदान करते थे।[४]

पारिवारिक जीवन

समाज के उत्थान में परिवार का योगदान महत्त्वपूर्ण होता है। प्राचीन भारत में परिवार के महत्त्व को भलीभाँति समझा गया था। बालक जब ब्रह्मचर्यआश्रम पार करता था तो वह गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करके पुरुषार्थों की सिद्धि का प्रयास करता था। गृहस्थ आश्रम का आश्रय परिवार ही था। परिवार में रहकर ही मनुष्य पुरुषार्थ के अर्थ, धर्म, काम इन तीनों उद्देश्यों की पूर्ति करता था। अर्थ के लिये वह विभिन्न आर्थिक स्रोतों को अङ्गीकार करता था। ये व्यवसाय परिवार चलाने के मुख्य आधार बनते थे। अर्थ द्वारा वह धार्मिक कार्यों का सम्पादन करता था और कामपूर्ति के लिये व्यवस्थित एवं पवित्र सम्बन्धों को स्थापित करता था। जो पुत्रोत्पत्ति से लेकर उसके व्यक्तित्व के सम्पूर्ण विकास तक के सभी कार्यों को सम्पन्न करता था। इस पारिवारिक जीवन के उत्थान से मनुष्य की सभ्यता एवं संस्कृति के विकास का आभास मिलता है।

बौद्ध साहित्य से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में परिवार के सदस्यों का मुख्य उद्देश्य माता पिता की सेवा करना[५], अपने व्यवसायों[६] का समुचित ढंग से सम्पादित करना, धार्मिक कृत्य[७] करना एवं पुत्रों को योग्य बनाना ही था।[८] इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये लोग अपने अपने ढंग से लगे रहते थे। परिवार में योग्य पुत्रों को महत्त्व दिया जाता था। कुलपुत्र के सम्बन्ध में भगवान् गौतम उज्जय ब्राह्मण से ऐहलौकिक सुख की प्राप्ति के लिये कहते हैं कि कुलपुत्र कृषि, वाणिज्य, गोपालन, धनुर्विद्या, राजकीय चाकरी अथवा कोई शिल्प करने वाला हो, उसमें वह दक्ष हो, आलस्यरहित हो। उसकी मीमांसा करने में, उसका उपाय करने में संलग्न होता है, उसका संविधान करने में समर्थ होता है तो उसका उससे उत्थान होता है।[९] पारिवारिक जीवन की दृष्टि से कुलपुत्र की योग्यता विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण थी। कुलपुत्र में समजीविता होना चाहिये। वह अपनी सम्पत्ति के आय–व्यय की जानकारी के अनुसार समजीवन व्यतीत करे, वह न बहुत उच्च स्तर और न बहुत निम्न स्तर ही स्वीकार करे। जिस प्रकार कोई तुलाधार तुला को हाथ में पकड़ते ही यह जान जाता है कि इतनी कमी है इतनी अधिकता है। इसके विपरीत यदि जीवनस्तर अधिक उच्च रखता है तो समाज के लोग उसके विषय में यह कहते हैं कि कुलपुत्र गूलर खाने

---

१. जातक, भाग–५ ५२२/२०९; जातक भाग–४ ४४३/२२१।
२. जातक, भाग–४, ४२५/१३३; महावस्तु भाग–२ २०३/८।
३. जातक, भाग–४, ४३८/१९७; महावस्तु भाग–२, १८७/१; दिव्यावदान ९६/१५।
४. जातक, भाग–४ ५३८/१९७।
५. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग–२, पृष्ठ ५; जातक, भाग–४, ४३२/१७०।
६. वही, भाग–२, पृष्ठ ७०।
७. संयुत्तनिकाय, भाग–२, पृष्ठ ७९९।
८. मिलिन्दप्रश्न, पृष्ठ २९४।
९. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग–३, पृष्ठ ३५४।

के समान ऐश्वर्यभोग करता है और खाने से अधिक बिखेरता है एवं जीवनस्तर बहुत निम्न रखता है तो समाज में उसे 'अनाथ–मरण मरनेवाला' कहा जाता था।[1] कुलपुत्र यदि पारिवारिक जीवन सम्यक् रूप से चलाता था तो वह प्रशंसा का पात्र था। तत्कालीन समाज में कुलपुत्र को अधिक श्रेय दिया जाता था। उसे वेश्यागामी होना, सुरापायी होना, जुआरी होना, कुसङ्गति में रहना वर्जित था।[2] कुलपुत्र ईर्ष्या, द्वेष आदि से रहित होकर त्याग, दानशीलता आदि भावनाओं से युक्त होकर गृहवास करता था।[3]

परिवार का उत्थान कुलपुत्रों पर ही निर्भर था। एक कुलपुत्र पारिवारिक व्यवस्था सुदृढ़ बनाने के लिये सभी सम्भव प्रयास करता था। कठिन से कठिन कार्य करने के अथवा सङ्घर्ष आदि के अवसर पर अपने माता पिता को पहले आश्वासन देकर और उनसे आशीर्वचन लेकर जाते थे।[4] कुलपुत्र भोग्य पदार्थों को उत्साह, प्रयत्न, बाहुबल, परिश्रम एवं धर्मानुसार अर्जित करता था और इसका उपयोग करने में आह्लादित होता था।[5] परिवार ऋणी न हो–इसका विशेष ध्यान दिया जाता था।[6]

परिवार में माता पिता का स्थान सर्वोपरि था। बौद्ध साहित्य में इसका उल्लेख विशेष रूप से प्राप्त होता है। जिस घर में माता पिता की पूजा होती थी, वह घर ब्रह्ममय, पूर्वाचारमय, देवमय, आतिथ्यमय होता था। भगवान् बुद्ध भिक्षुओं से कहते हैं–

"भिक्षुओ! ब्रह्मा, कहते हैं माता पिता को। भिक्षुओ! पूर्वाचार्य कहते हैं माता पिता को। भिक्षुओ! देवता कहते हैं माता पिता को। भिक्षुओ! अतिथि कहते हैं माता पिता को।यह किसलिये? भिक्षुओ! माता पिता अपनी सन्तान के जनक होते हैं, पोषण करने वाले हैं तथा लोक दिखाने वाले (मार्गदर्शक) होते हैं।"[7]

माता के सम्बन्ध में, तत्कालीन समाज में यह धारणा थी कि माता अपने घर की मित्र है।[8] परिवार में माता पिता, भाई बहन, पुत्र पुत्री, मौसी आदि गिने जाते थे। परिवार में भाई भाई में अगाध प्रेम होता था। भोजदेवजातक में भाई की अनुपस्थिति में माता, स्त्री और बच्चों के विलाप को सुनकर बाहर से आया हुआ भाई उसके खो जाने की बात से चिन्तित हो गया।[9] परिवार में भाई परस्पर मिलकर कार्यों को सम्पादित करते थे। वे परस्पर बन्धुत्व के साथ माता पिता की सेवा करते थे। पारिवारिक जीवन कलह से युक्त नहीं था। परिवार का स्वामी, 'कुटुम्बी' ही परिवार के सञ्चालन का उत्तरदायी था।[10]

सामाजिक आचार

तत्कालीन समाज में शकुन पर, जिसे लोकाचार भी कह सकते हैं, अधिक ध्यान दिया जाता था। मङ्गलजातक में एक ब्राह्मण ने चूहों का काटा कपड़ों का जोड़ा, कच्चे श्मशान में फेंकने का प्रयास इसलिये कराया कि जिस घर में यह कपड़ा रहेगा वह घर

१. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग–३, पृष्ठ ३५५।
२. वही, पृष्ठ ३५५।
३. वही, पृष्ठ ३५६।
४. जातक, भाग–५, ५३७/२६४।
५. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग–२, पृष्ठ ७०।
६. वही, पृष्ठ ७१।
७. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग–२, पृष्ठ ७२।
८. संयुत्तनिकाय, भाग–१, पृष्ठ ३७।
९. जातक, भाग–६, ५४३/२२१–२२५।
१०. जातक, भाग–१, १९/२६७।

महाविनाश को प्राप्त होगा; क्योंकि यह अमाङ्गलिक है।[1] महामङ्गलजातक में यह प्रसङ्ग आया है कि ''मङ्गल रूप को देखना मङ्गल है''। कोई आदमी प्रातःकाल ही उठकर सर्वश्रेष्ठ बैल को देखता है, गर्भिणी स्त्री को देखता है, रोहित मछली देखता है, पूर्ण घट देखता है, गौ का अभी बना घी (नवनीत) देखता है, नये कपड़े देखता है, अथवा दूध देखता है तो इससे बढ़कर कोई मङ्गल नहीं है।[2] उस समय दृष्ट माङ्गलिक, श्रुत माङ्गलिक और स्पृष्ट माङ्गलिक–ये तीन माङ्गलिक लोकाचार लोगों में प्रचलित थे।[3] समाज में शकुन और अपशकुन पर विशेष ध्यान दिया जाता था। परिवार में इसका विशेष महत्त्व था। बौद्ध साहित्य में इसका विरोध भी मिलता है।[4]

उत्सव

उत्सवों में सुरा–उत्सव का वर्णन मिलता है।[5] इस उत्सव को सुरानक्षत्र भी कहते हैं। इस उत्सव में सुरा पीते थे। कृषि आदि की जुताई, बीज आदि बोने के प्रारम्भिक समय में भी उत्सव मनाया जाता है। इसमें परिवारजन कृषि कार्य की पूर्णता के लिये विभिन्न प्रकार के देवपूजा–सङ्कल्प (मनौती) मनाते थे। बीज बोने का दिन 'मङ्गल दिन' कहा जाता था। इस दिन भी प्रमोद मनाया जाता था।[6] लोग कार्तिकोत्सव भी मनाते थे। इस उत्सव में नगर को पूर्णतः सजाया जाता था और राजा नगर की प्रदक्षिणा करता था।[7]

---

१. जातक, भाग–१, ८७/५२७।
२. जातक भाग–४, ४५३/२७५।
३. वही, ४५३/२७६।
४. वही, ४५३/२७८–८०।
५. जातक, भाग–१, ८१/५१२,
६. जातक, भाग–६, ४६७/३६७।
७. जातक, भाग–५, ५२७/२९५।

सप्तम अध्याय

बौद्ध साहित्य में समाज की राजनीतिक स्थिति

प्राचीन भारत में राजनीतिक स्थिति

बौद्ध साहित्य में 'राजा' की अवधारणा

राजा का गुण

शिक्षा

उत्तराधिकार एवं राज्याभिषेक

चक्रवर्ती राजा

अमात्य

दण्डव्यवस्था

न्यायाधीश

भगवान् बुद्ध का दृष्टिकोण

पदाधिकारी एवं सेवकगण

राजकोष

सैन्य–व्यवस्था

सप्तम अध्याय

बौद्ध साहित्य में समाज की राजनीतिक स्थिति

प्राचीन भारत में राजनीतिक स्थिति

राजनीति 'समाज' नामक संस्था की रीढ़ है। समाज के निर्माण के साथ ही राज्य का भी कोई न कोई स्वरूप निर्मित हो जाता है। आदियुगीन भारतीय समाज में राजनीतिक सङ्गठन का जो स्वरूप निर्मित हुआ था उसी का विकास भारतीय इतिहास में मध्यकाल तक होता गया। बौद्ध साहित्य में राज्य या राष्ट्र, राजा या शासक एवं शासन–व्यवस्था का जो चित्र दिखलायी पड़ता है वह भारतीय समाज के आद्य इतिहास में प्राप्त राज्यसम्बन्धी अवधारणा के ही अनुरूप है। अतः उस अवधारणा पर ही पहले विचार कर लेना समीचीन होगा।

राजनीतिक सङ्गठन– प्राचीनतम भारतीय समाज के राजनीतिक सङ्गठन का निरूपण (झाँकी) हमें वैदिक साहित्य एवं सैन्धव सभ्यता के अवशेषों में प्राप्त होती है। वेदों में राजा और राज्य की अवधारणा तत्कालीन समाज के स्वरूप के अनुरूप ही दिखलायी पड़ती है। तत्कालीन समाज दो रूपों में विकसित हुआ था। उसका एक भाग बड़े नगरों में रह गया जो व्यापार द्वारा जीवननिर्वाह करता था और दूसरा भाग ग्रामों में रहता था और कृषिजीवी था जिसे 'सिन्धु घाटी सभ्यता' कहा जाता था। वह उन व्यापारियों के सामाजिक सङ्गठन की देन है जो बड़े नगरों में रहते थे तथा जिन्हें वेदों में 'पणि' कहा गया है। ये पणि ही परवर्ती समाज में 'वणिक्' कहलाये जिनका कार्य वाणिज्य करना था। उत्तर वैदिक काल में जब समाज में वर्णविभाजन हुआ तो इन पणियों को ही 'वैश्य' कहा जाने लगा; क्योंकि ये विश (पृथक्पृथक्) व्यापार (पण्य) करते थे। पणि अथवा बणिक् वर्ग के ये लोग अपने नगरों की व्यवस्था स्वयं करते थे और उनके निर्माण की योजना भी सङ्गठित रूप से बनाते थे। इन नगरों की शासन–व्यवस्था के सम्बन्ध में ह्वीलर स्टूअर्ड, पीगाट आदि ने यह मत व्यक्त किया है कि रोपड़ (हरियाणा) से लेकर सुत कगेन डोर तक के एक हजार मील लम्बे क्षेत्र में जो मिश्र और मेसोपोटामिया से कई गुना बड़ा क्षेत्र है, एक ही संस्कृति का होना यह सिद्ध करता है कि यह पूरा क्षेत्र एक ही राज्य था जिसकी दो राजधानियां थी– हड़प्पा और मोहनजोदड़ो। जो एक दूसरे से तीन सौ पचास मील की दूरी पर थी किन्तु नदी मार्ग से जुड़ी हुई थी।[1]

इन विद्वानों का यह अनुमान उनकी कल्पनामात्र है। वस्तुतः सैन्धव सभ्यता वैदिक सभ्यता का ही अङ्ग थी। वैदिक काल में व्यापारी वर्ग के लोग, जिन्हें 'पणि' कहा जाता था, बड़े नगर बसा कर रहते और उन नगरों का शासन स्वयं करते थे। ग्रामीण

---

१. सर मार्टीमोर ह्वीलर, इण्डस सिविलीजेशन, पृष्ठ ३।

क्षेत्रों में भी केन्द्रीय राज्य नहीं था। उस काल के प्रत्येक कुल या गोत्र के लोग किसी भू-भाग पर अधिकार करके और ग्रामों में रहकर अधिकतर सामूहिक जीवन व्यतीत करते थे। समाज की इस प्रारम्भिक अवस्था में अधिक श्रमविभाजन नहीं हुआ था। ब्राह्मण पौरोहित्य और कर्मकाण्ड का कार्य करता था और राजन्य अपने समाज के लोगों की रक्षा एवं शत्रुओं से युद्ध का कार्य करता था। राजन्य वर्ग में ही जो व्यक्ति अधिक वीर और योग्य होता था उसे 'राजा' बना लिया जाता था। युद्ध के अवसर पर ब्राह्मण और राजन्य सभी वर्गों के लोग मिलकर शत्रु से युद्ध करते थे। इस तरह युद्धों में ब्राह्मणों और पुरोहितों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती थी। इस तरह यदि पुरु, यदु, तुरवसु, द्रुह्यु, सिन्जय, सोमक आदि राजन्यवर्गीय गोत्र थे तो वशिष्ठ, भारद्वाज, काण्व, भार्गव आदि ब्राह्मणवर्गीय गोत्र थे। इन सभी गोत्रों के छोटे छोटे राज्य हुआ करते थे। इन राज्यों के लोग प्रायः बड़े नगरों पर आक्रमण कर उनका धन छींन लेते थे। उनसे अपनी रक्षा के लिये पणियों ने विशाल दुर्ग (परकोटे) वाले नगर बसाये थे। धीरे-धीरे इन नगरों पर भी ग्रामीण क्षेत्रों के राजाओं का अधिकार हो गया।

सरस्वती नदी के तट पर स्थित काली वंगा के उत्खनन में प्रत्येक घर में यज्ञ-कुण्ड प्राप्त हुए हैं जिससे सिद्ध होता है कि परवर्ती काल में इन नगरों पर वैदिक धर्म मानने वालों का अधिकार हो गया था। नगरों पर ग्रामीण क्षेत्र के राजाओं का अधिकार हो जाने पर स्वभावतः बड़े-बड़े राज्य विकसित हुए। ये राजा भी आपस में युद्ध करते थे। दासराज युद्ध में सुदास नामक त्रित्सुगोत्रीय राजा पर दस राजाओं ने आक्रमण किया था जिसमें सुदास की विजय हुई। इसी तरह हड़प्पा में वर्च वंश के पणी राजा वर्शिख का राज्य था जिस पर अभ्यवर्ती के पुत्र सिन्जय ने आक्रमण कर उसे पराजित किया। इन राजाओं ने ही क्रमशः गंगा घाटी और मध्यप्रदेश तथा मालवा तक अपने राज्य-क्षेत्र का विस्तार किया। इक्ष्वाकुवंश वालों ने कोशल, विदेह और वैशाली में अपने राज्य स्थापित किये और पुर्वों तथा सिन्जयों के वंशजों ने कुरुपञ्चाल में अहिच्छत्र, हस्तिनापुर, काम्पिल्य, प्रतिष्ठान और कौशाम्बी में अपने राज्य स्थापित किये। इन्हीं में जो वीर और महत्वाकांक्षी होते थे वे अश्वमेघ यज्ञ करके दिग्विजय करते और चक्रवर्ती राजा कहलाते थे।

राजा के कार्य— वैदिक सैन्धव सभ्यता में राज और राजा के विकास की जो रूपरेखा यहाँ बतायी गयी है वह वैदिक वाङ्मय के साक्ष्य पर आधृत है। उस काल में राजा मुख्यतः विश् या प्रजा की रक्षा का कार्य करता था। और ग्रामों से उसे जो कर प्राप्त होता था उसका अधिकांश भाग वह प्रजा के हित के लिये अथवा दान में व्यय कर देता था। इन राजाओं का शासन धर्म पर आधृत था। ब्राह्मण ग्रन्थों में राजधर्म का वर्णन करते हुये बताया गया है कि यदि प्रजा में किसी प्रकार की बुराई का उदय होता था तो उसके लिये राजा को ही उत्तरदायी माना जाता था। चोरी, दुराचार, अन्याय आदि घटनाओं के लिये राजा को ही दोषी माना जाता था। राजा का छोटा या बड़ा राज्य ही उसका राष्ट्र था। जब राजा का राज्याभिषेक होता था तो वह प्रजाजनों के समक्ष यह प्रतिज्ञा करता था— "यदि मैं प्रजा से द्रोह करूँ तो अपने जीवन, अपने पुण्य-फल एवं अपनी सन्तान सबसे वञ्चित हो जाऊँ।"[1] इसी तरह ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि राज्याभिषेक के समय राजा राष्ट्र रक्षा का भार स्वीकार करते हुए प्रतिज्ञा करता था कि— "हे प्रजा! यदि मैं

१. शतपथ ब्राह्मण ५/४/४/७।

तुमसे विद्रोह करूँ तो अपने जन्म-क्षण से लेकर मृत्यु के क्षण के बीच मैंने जितने शुभ कर्म किये हैं उनसे प्राप्य स्वर्ग-भोग से अपने जीवन से और अपनी सन्तति से वञ्चित हो जाऊँ।"[1] राजा को यह गुरुतर भार प्रजा के समक्ष पुरोहित उसके सिर पर राजमुकुट रखते हुए सौंपता था। वह अभिषेक के मन्त्र में इस प्रकार कहता था- "हे राजन्! तुम्हें राजा बनाया गया है, तुम राष्ट्र के स्वामी हुए, तुम्हारा राज्य अटल, अविचल और स्थिर हो, प्रजा (विश) तुम्हें प्यार करे और तुम्हारा राज्य नष्ट न हो।"[2] इसी यजुर्वेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि "हे राजन्! तुम्हें यह राष्ट्र दिया जाता है; तुम इसके सञ्चालक, नियोजक और इस उत्तरदायित्व के दृढ़ वाहक हो, यह राज्य तुम्हें कृषि की वृद्धि, कल्याण, समृद्धि और पोषण के लिये दिया जा रहा है।"[3]

राजा का आदर्श- इस प्रकार वैदिक युग में राजा का कार्य धर्म की रक्षा और प्रजा का पालन करना था। वह सेना नहीं रखता था युद्ध के समय पर उसकी प्रजा ही उसके साथ युद्ध करने जाती थी। राजा और प्रजा में विशेष अन्तर नहीं था। इससे स्पष्ट है कि यह राजतन्त्र के उदय की प्रारम्भिक अवस्था थी। इसके पूर्व विभिन्न गोत्रों या कबीलों की सामूहिक शासनव्यवस्था प्रचलित थी। जिसमें कोई राजा नहीं था। इस अराजक राज्य-व्यवस्था से ही राजतन्त्र और गणतन्त्र दोनों का उदय हुआ था। राजतन्त्र में भी राजा नाममात्र का राजा था। वस्तुतः शासन प्रजा के प्रतिनिधियों के द्वारा ही होता था जिनकी सभा या समिति होती थी जो राजा को अनुशासित रखती थी। धर्मसूत्रों में राजा के कर्त्तव्यों की विस्तृत व्याख्या की गयी है। गौतम धर्मसूत्र में राजधर्म का निरूपण करते हुए कहा गया है-"ब्राह्मण को छोड़कर राजा सबका अधिपति है, राजा को साधुकारी और साधुवादी होना चाहिये। उसे तीनों वेदों और न्यायशास्त्र का ज्ञाता होना चाहिये। उसे शुचि, जितेन्द्रिय, गुणी सभासदों से युक्त और उपायसम्पन्न होना चाहिये तथा प्रजा के हित में लगा रहना चाहिये। राजधर्म का यह निरूपण तत्कालीन राजा के आदर्श को प्रस्तुत करता है। वैदिक युग में राजा ब्राह्मणों को अत्यधिक दान देता था और ब्राह्मण उसकी रक्षा एवं विजय के लिये देवताओं से प्रार्थना करता है। ऋग्वेद में मससरि और आयवस (१/१२२), स्वनय (१/१२६), त्रसदस्यु, विदध और ध्वन्य (५/३४), उजन्य (५/४१), पुल्कुत्स (७/१९), सोमक (४/१५), त्रिन्दर (८/७), वल (८/२४) आदि राजाओं के दान का विस्तृत वर्णन किया गया है। इस तरह वैदिकयुगीन राजा प्रजा का शासक, रक्षक और पोषक एवं ब्राह्मणों को अपरिमित दान देने वाला होता था। इसीलिये प्रजा उसे अत्यन्त श्रद्धा और प्रेम से देखती और उसके साथ शत्रुओं से युद्ध करने जाती थी।

वैदिक युग के बाद महाभारत काल में राजा इस आदर्श से स्खलित होने लगे। इसी का यह परिणाम था कि महाभारत जैसा भयंकर युद्ध हुआ। राज्य, राजा के आदर्शों के ह्रास का स्वरूप हमें बुद्धकालीन इतिहास में दिखायी पड़ जाता है इसी कारण गौतम बुद्ध को राजा का आदर्श नये रूप में स्थापित करना पड़ा है।

बौद्ध साहित्य में राजा की अवधारणा

राजा के सम्बन्ध में दीघनिकाय में यह कहा गया है कि, "धम्मेन परे रञ्जेती ति खो, वासेट्ठ, राजा, राजा ति।"[4] राजा का प्रजारञ्जन करने वाला होता था। यह जनता के

१. *ऐतरेय ब्राह्मण ८/३/१५।*
२. *ऋग्वेद, १०/१७३/१।*
३. *यजुर्वेद, ९/२२।*
४. *दीघनिकाय, ४.३.२२ पृष्ठ ७३।*

हित में कार्य करता था। राजा के सम्बन्ध में राजोवाद जातक में यह कहा गया है कि "यदि राजा धर्म करता है तो शेष प्रजा पहले ही धर्म करती है। राजा के धार्मिक होने पर सारा राष्ट्र सुख प्राप्त करता है।"[१] उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजा समाज का एक विशिष्ट व्यक्ति है जिसको प्रजा का रञ्जन करना, इनका हित करना एवं धर्म से शासन सञ्चालित करना आवश्यक है।[२] क्योंकि संयुत्तनिकाय में यह कहा गया है कि "ध्वजा को देखकर रथ का आना ज्ञात होता है, धूम्र को देखकर कहीं अग्नि का होना जाना जाता है। राजा किसी राष्ट्र का चिह्न होता है।"[३] राजा से ही राष्ट्र की पहचान होती है। राष्ट्र सुखी एवं समृद्धि तभी हो सकता है जब राजपद का सौन्दर्य और बल राजवृन्द राजधर्म पालन पर ही अवलम्बित हो।[४] राजा के सम्बन्ध में सुत्तनिपात में यह कहा गया है कि "वासेट्ठ! मनुष्यों में जो कोई ग्राम या राष्ट्र का उपभोग करता है उसे राजा जानो, न कि ब्राह्मण।"[५] इससे स्पष्ट होता है कि ग्राम का सञ्चालन करने वाला राजा हो सकता है अर्थात् छोटे–छोटे भू–खण्डों के स्वामी को भी 'राजा' कहा जाता था। राजा का अर्थ सम्भवतः प्रिय से ही था; क्योंकि वह एक विशिष्ट व्यक्ति ही होता था जो सम्यक् आचरण द्वारा लोकरञ्जन करता था।[६] उसे 'देवपुत्र'[७], 'मनुजाधिपति'[८] भी कहा गया है।

राजा का गुण

बौद्ध साहित्य के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि राजा के लिये विवेकी होना आवश्यक था। विवेकहीन राजा विज्ञ पुरुषों द्वारा अप्रशंसित होता है। जनता के लिये कष्टदायक होता है एवं वृद्ध जनों द्वारा अनपेक्षित होता है।[९] राजा कामी नहीं हो, अपितु वह शुद्धकर्मा जितेन्द्रिय हो।[१०] राजा सत्यवादी और धर्म पर चलने वाला होता था।[११] राजा में बुद्धिबल[१२], उत्साह[१३] एवं बलपराक्रम[१४] होना अतिआवश्यक था। राजा के शिल्पी होने का प्रमाण भी घटजातक में मिलता है।[१५] राजा विज्ञान, कला आदि विषयों का भी ज्ञाता होता था।[१६] राजा के अन्दर उदारता एवं सद्व्यवहार की भावना भी रहती थी।[१७] कुरु धर्म का

---

१. राजोवाद जातक, ३३४

सब्बं रट्ठं सुखं सेति राजा चे होति धम्मिको।

२. दिव्यावदान, ३२९/१२–१३

भाषणेन च पर्षदं रञ्जयति धर्मेण शीलव्रतसमाचारेण सम्यक् तस्य राजा इति संज्ञाभूत्।

३. संयुत्तनिकाय, भाग–१, पृष्ठ ४७।

४. सौन्दरनन्द, ११/४५।

५. सुत्तनिपात, पृष्ठ १३५/२६।

६. दिव्यावदान, पृष्ठ ३२९/१२।

७. ललितविस्तर २०४/७, ३।

८. अवदानशतक, भाग–१, २९४/२–३।

९. जातक, भाग–५, पृष्ठ ३९ (सोमनस्सजातक ५०५); जातक, भाग–३, पृष्ठ ३१७ (मणिकुण्डलजातक ३५१)।

१०. बुद्धचरित २/१, २/२।

११. जातक, भाग–३, पृष्ठ २३६ (सुजच्च जातक)।

१२. महावस्तु, भाग–२, ७६/१४।

१३. वही, ७५/४; जातक, भाग–१, पृष्ठ ४०१ (पञ्चावुध जातक ५५)।

१४. महावस्तु, भाग–३, ७४/१०; जातक, भाग–१, पृष्ठ ४०२ (पञ्चावुध जातक ५५)।

१५. घटजातक, ३५५ जातक, भाग–३, पृष्ठ ३३०।

१६. जातक, भाग–२ तिलमुट्ठ जातक २५२।

१७. महासुदस्सन जातक, ९५।

पालन करने का भी उदाहरण मिलता है। इन्द्रप्रस्थ के राजा कुरु धर्म का पालन करते थे जिसके अनुसार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और मद्यपान के त्याग का व्रत लेना पड़ता था।[1] कुम्भजातक में भी राजा के मद्य पान के दुगुर्णों का वर्णन किया गया है।[2] इससे स्पष्ट होता है कि राजा को मद्य पीना वर्जित था।

शिक्षा

राजा बनने से पूर्व राजकुमारों की शिक्षा–दीक्षा का विशेष महत्त्व था। उस समय राजा अपने पुत्रों को प्रसिद्ध आचार्यों के रहते हुए भी शिल्प सीखने के लिये दूर देशों में भेजते थे, ताकि उनका मानमर्दन हो जाय, सर्दी–गर्मी में सहने का सामर्थ हो जाय तथा वे लोकव्यवहार के ज्ञाता हो जायँ। तिलमुट्ठिजातक में ''राजा ने अपने सोलह वर्ष के पुत्र को बुलाकर उसे एक तल्ले का जूता, पत्तों का छाता और एक हजार कार्षापण देकर यह कहकर तक्षशिला भेजा– ''तात! तक्षशिला जाकर विद्या सीखो।'' उसने 'अच्छा' कह, माता–पिता को प्रणाम कर विदा ली।''[3] इसे ज्ञात होता है कि अध्ययनकाल में इनका पूरा जीवन सात्विक, ब्रह्मचर्य एवं अन्य छात्रों के समान ही व्यतीत होता था। ये अस्त्र शस्त्र चलाने की शिक्षा गुरुकुल में ही लेते थे। पञ्चायुद्ध कुमार ने १६ वर्ष की अवस्था में तक्षशिला नगर में शिक्षा ग्रहण की।[4] सीलवकुमार भी १६ वर्ष की आयु में ही सब शिल्पों में पारङ्गत हो गया।[5] इससे यह भी ज्ञात होता है कि राजकुमार १६ साल की अवस्था तक ही शिक्षा प्राप्त कर लेते थे। तक्षशिला इन राजकुमारों की शिक्षा के लिये उपयुक्त स्थान था। जहाँ शिल्प, इष्वस्त्र, हस्तिविद्या, धनुर्विद्या आदि प्रमुख विद्याएँ सिखायी जाती थीं। महावस्तु में राजकुमारों की शिक्षा–दीक्षा के सम्बन्ध में नाना प्रकार की विद्याओं का उल्लेख प्राप्त होता है।[6] इन विद्याओं के अध्ययन का उद्देश्य राजकुमारों को योग्य बनाना था जिससे वे शासन का कार्य सुचारू रूप से चला सकें।

उत्तराधिकार एवं राज्याभिषेक

राज्याभिषेक राजा का एक संस्कार होता था। जब राजा वृद्ध हो जाता था तो उसका ज्येष्ठ पुत्र ही सिंहासन का अधिकारी होता था। मखादेव जातक में मखादेव नामक धार्मिक राजा ने अपने ज्येष्ठ पुत्र को बुलाकर कहा– ''तात! मेरे सिर में सफेद बाल उग आया है, मैं बूढ़ा हो गया हूँ, तूँ इस राज्य को सम्भाल।''[7] इससे स्पष्ट होता है कि ज्येष्ठ पुत्र ही गद्दी का अधिकारी होता था। कभी–कभी कई पुत्रों के होने पर, राजा के सामने समस्या उत्पन्न हो जाती थी। देवधम्म जातक में राजा अपनी रानी को पूर्वप्रदत्त वर के अनुसार सबसे छोटे पुत्र सूर्यकुमार को गद्दी देने के लिये तैयार हुये और उन्होंने अपने दो पुत्रों महिंसासकुमार और चन्द्रकुमार को उनकी सुरक्षा के लिये वन में भेज दिया।[8] जयद्दिस

---

१. जातक, भाग–३, पृष्ठ ९० (कुरुधम्मजातक २७६)।
२. जातक, भाग–५, पृष्ठ ९८–१०९ (कुम्भजातक ५१२)।
३. जातक, भाग–३, पृष्ठ ७ (तिलमुट्ठिजातक ३५२)।
४. जातक, भाग–१, पृष्ठ ४००। (पञ्चावुधजातक ५५)।
५. जातक, भाग–१, पृष्ठ ३८७ (महासीलवजातक ५१); जातक, भाग–५, पृष्ठ २४२ सङ्खपालजातक ५२४)।
६. महावस्तु, भाग–२, ४२३/१४–१९।
७. जातक, भाग–१, पृष्ठ २२६ (मखादेवजातक ९); जातक, भाग–४, पृष्ठ ३९६ (कामजातक ४६०); महावस्तु, भाग–३, १५२/१०।
८. जातक, भाग–I, पृष्ठ २१२ (देवधम्मजातक ६); जातक, भाग–४, पृष्ठ ३२५ (दशरथजातक ४६१)।

जातक में राजा ने अपने पुत्र अलीनशत्रु को बुलाकर कहा—"आज ही राज्याभिषिक्त हो, सभी नगरों में धर्माचरण कर, राष्ट्र में अधम्मचारी प्रसिद्ध न हो।"[१] इस तरह राजा अपने पुत्र को अनुशासित करता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि राज्याभिषेक के समय राजा राजकुमार को शिक्षाएँ देकर अनुशासित करता था। राज्याभिषेक राजा के मर जाने पर अमात्यों एवं पुरोहितों के द्वारा किया जाता था।[२] यह राज्याभिषेक बड़ी तैयारी के साथ होता था। वस्तुतः उत्तराधिकार के सम्बन्ध में राजा का विशेषाधिकार महत्त्वपूर्ण था। राज्याभिषेक देवाधिष्ठान में राजकुमार को पवित्र जल से स्नान कराकर कराया जाता था।[३]

राज्याभिषेक राजा के जीवन की महत्त्वपूर्ण घटना होती थी। भगवान् बुद्ध राज्याभिषिक्त क्षत्रिय राजा के सम्बन्ध में भिक्षुओं से कहते हैं कि "राज्याभिषिक्त क्षत्रिय जन्मग्रहण के स्थान को, राज्याभिषेक किये गये स्थान को एवं विजय किये गये स्थान को कभी नहीं भूलता।"[४] इस उद्धरण से स्पष्ट होता है कि राज्याभिषेक क्षत्रिय राजा का होता था। भगवान् बुद्ध एवं अम्बट्ठ माणवक की वार्ता से स्पष्ट हो जाता है कि अभिषेक क्षत्रिय कुमार का होता था एवं उसके लिये रक्तशुद्धता को भी महत्त्व दिया जाता था।[५] भगवान् बुद्ध भिक्षुओं से कहते हैं कि "भिक्षुओ! मुकुटधारी क्षत्रिय राजा का ज्येष्ठ पुत्र पाँच बातों से युक्त होने पर राज्य की कामना करता है।" भिक्षुओ! मुकुटधारी क्षत्रिय राजा का ज्येष्ठ पुत्र माता तथा पिता दोनों की ओर से सुजात होता है, सात पीढ़ी तक शुद्ध वंश वाला, जातिवाद की दृष्टि से निर्दोष, सुन्दर होता है। दर्शनीय होता है, प्रिय लगने वाला होता है, श्रेष्ठ वर्ण से युक्त, माता–पिता का प्रिय होता है, उन्हें अच्छा लगने वाला, निगम तथा जनपद के लोगों का प्रिय होता है, उन्हें अच्छा लगने वाला, जो मुकुटधारी क्षत्रिय राजाओं के शिल्प होते हैं जैसे—हस्तिशिल्प, अश्वशिल्प, रथशिल्प, धनुःशिल्प तथा खड्गशिल्प उनके विषय में सम्पूर्ण रूप से शिक्षित होता है।"[६] उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि राज्याभिषेक के लिये राजकुमार की विशिष्टता परम आवश्यक है। उसे सेना का प्रिय, मेधावी एवं सम्यक् विचार से युक्त[७] होने पर ही राज्य की कामना करनी चाहिये अर्थात् तभी वह राज्य का अधिकारी होगा।

बौद्ध साहित्य के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में भी राजा का कर्त्तव्य जनता की सेवा में ही निहित था। राजा का धार्मिक होना एवं धर्म के माध्यम से प्रजा की रक्षा करना मुख्य कर्त्तव्य बन गया था। भगवान् बुद्ध भिक्षुओं को उपदेश देते हुये कहते हैं कि "राजा धर्म के लिये धर्म का सत्कार करते हुए धर्म के प्रति गौरव प्रदर्शित करे, जनता की धार्मिक सुरक्षा की व्यवस्था करे और धर्मध्वज, धर्म के धर्माधिपति, क्षत्रियों की, अनुयुक्त क्षत्रियों की, सेना की, ब्राह्मण, गृहपतियों, की निगम जनपद के लोगों की, सवर्ण ब्राह्मणों की तथा पशु–पक्षियों की सुरक्षा की व्यवस्था करे।"[८] इससे स्पष्ट होता

---

१. *जातक, भाग–५, पृष्ठ ११४ (जयद्दिस्सजातक ५१३)।*
२. *जातक, भाग–४, पृष्ठ ३९६ (कामजातक ४६७)।*
३. *दिव्यावदान १३१/१; महावस्तु, भाग–३ १०३/१६।*
४. *अङ्गुत्तरनिकाय, भाग–१, पृष्ठ १०९।*
५. *दीघनिकाय १/१ (अम्बट्ठसुत्त)।*
६. *अङ्गुत्तरनिकाय, भाग–२, पृष्ठ ३५९–६०।*
७. *वही, पृष्ठ ३६१।*
८. *अङ्गुत्तरनिकाय, भाग–१, पृष्ठ ११२।*

है कि राजा प्रजा का रक्षक था और उसके रक्षा करने का आधार धर्म था; क्योंकि धर्म को ही राजा बताया गया है।[1]

टेसकुण जातक में राजधर्म का विवेचन करते हुये बताया गया है कि राजा असत्य, क्रोध एवं ढीठपन का त्याग करे। जिस कर्म को करने से उसे अनुताप हुआ हो उस कर्म को राग अथवा द्वेष के वशीभूत हो फिर न करे। राजा प्रमादी न हो, वह ईर्ष्यावान् और दुष्टहृदय न हो, वह दूषित कर्म का परित्याग करे, दरिद्रता के नाशक शुभ कर्मों को करे, कर्त्तव्यों को करने में प्रयत्नशील हो।[2] राजा को चाहिये कि अप्राप्त की प्राप्ति और प्राप्त के अनुरक्षण में रत रहे। अमात्यों की नियुक्ति परीक्षा द्वारा करे, अमात्य धीर हो, अर्थ का जानकार हो, जुआरी न हो, शराबी न हो तथा जो नष्ट करने वाले न हो। 'दण्डनीय को दण्ड दें, आदरणीय का आदर करें। स्वयं जनपदवासियों का अर्थ के विषय में मार्गदर्शन करे। शीघ्रता से कोई काम न करे और न दूसरे से करावे। राजा स्वयं को सब का स्वामी समझ लोगों का अनर्थ न करे। राजा निरंकुश होकर कोई कार्य न करे। जिससे कि स्त्रियों तथा पुरुषों को दु:ख का अनुभव हो। राजा पुण्यकर्म करे, सुरा का त्याग करे, सदाचारी बने।[3] राजा, माता-पिता, पुत्र-पुत्री, मित्रों, अमात्यों, बहनों, सेनाओं, गामों, निगमों, राष्ट्रों, जनपदों, श्रमणों, ब्राह्मणों एवं पशु-पक्षियों के प्रति धर्म का आचरण करे। यदि राजा धर्माचरण करता है तो उसके लिये वह सुखदायक होता है। राजा धर्म में प्रमाद न करे। राजा का यही कर्त्तव्य है, यही अनुशासन है। राजा, प्रज्ञावानों की सङ्गति करे; क्योंकि पाँच बलों—कायबल, भोग्यबल, अमात्यबल, अभिजातकुल में जन्म बल, एवं प्रज्ञाबल में प्रज्ञाबल श्रेष्ठ है। वह सम्पूर्ण बलों का ज्ञाता बने।[4]

उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजा जनता का सेवक था। लोगों का आदर करना, दण्डनीय को दण्ड देना उसका कर्त्तव्य था। राजा के लिये निरंकुश होना वर्जित था। साथ ही साथ राजधर्म का पालन करना उसका मुख्य कर्त्तव्य था।

दान देना भी राजा का कर्त्तव्य था।[5] एवं दु:खशील तथा अकुशल कर्म करने वालों को प्राणदण्ड देना भी उसका कर्त्तव्य था।[6] अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और मद्यपान का त्याग करना कुरुधर्म कहलाता था। जिसका पालन करना राजा का कर्त्तव्य था।[7] राजा अपनी बुराइयों को दूर करने के लिये आलोचकों को ढूँढ़ा करते थे तथा अपनी कमियों का निराकरण करते थे।[8] यदि राजा अधार्मिक हो जाता है तो सारी प्रजा दु:ख प्राप्त होती है; क्योंकि गौओं के नदी में तैरने के समय यदि वृषभ टेढ़ा जाता है तो सभी गौँ भी टेढ़ी जाती हैं। इस प्रकार मनुष्य में जो श्रेष्ठ माना जाता है यदि वह अधर्म करता है तो शेष प्रजा पहले ही अधर्म न प्रारम्भ कर देती है।[9]

---

१. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग-१, पृष्ठ ११२।
२. जातक, भाग-५, पृष्ठ १९९ (टेसकुण जातक ५२१) वेस्सन्तर प्रश्न उत्तर।
३. जातक, भाग-५, पृष्ठ २०१-२०२ (टेसकुण जातक ५२१) कुण्डलिनी प्रश्न उत्तर।
४. जातक भाग-५, पृष्ठ २०४-२०५ (टेसकुणजातक ५२१) जम्बुक प्रश्न उत्तर।
५. जातक, भाग-१, पृष्ठ ३-७ (महासीलवजातक ५१); जातक, भाग-३, ९३ (कुरुधम्मजातक २७६)।
६. जातक, भाग-१, पृष्ठ ३८४-३८५। (दुम्मेधजातक)
७. जातक, भाग-३, पृष्ठ ९० (कुरुधम्मजातक २७६)।
८. जातक, भाग-२ (राजोवादजातक १५१)।
९. जातक, भाग-३, पृष्ठ २७७ (जम्बुकजातक ३३४)।

इससे स्पष्ट होता है कि राजा अधार्मिक होने पर राष्ट्र का कल्याणकर्ता नहीं होता। क्षत्रिय राजा विना विचारे काम नहीं करता। विचारपूर्वक कार्य करने वाले राजा की कीर्ति बढ़ती है।[१] राजा अपने चौथेपन (वृद्धावस्था) में अपने पुत्रों को राज्य देकर गृहस्थ आश्रम का परित्याग करके संन्यास ग्रहण करते थे।[२]

मिलिन्दप्रश्न में राजा के कर्त्तव्यों को स्पष्ट करते हुए मिलिन्द कहता है कि ''राजा उसी को कहते हैं जो राजपाट चलाता है, और सर्वत्र अपना राज्य बनाये रखता है। सभी लोगों को अपने वश में ले आता है। वह अत्यन्त बल सम्पन्न हो, ताकि अपने निर्मल श्वेत छत्र को ऊँचा उठाये रहे। भेंट करने के लिये आये हुए लोगों से वन्दनीय होता है। न्याय के विरुद्ध आचरण करने वाले को फटकारता है। आर्थिक दण्ड देता है अथवा अनेक प्रकार का अन्य दण्ड देता है एवं पूर्वकाल में धार्मिक राजाओं के बताये गये न्याय और नियमों को चरितार्थ करता है धर्मपूर्वक शासन करके लोगों का अत्यधिक प्रिय बन जाता है। तथा धर्मबल से अपने वंश को चिरकाल के लिये गद्दी पर बनाये रखता है।''[३] इस उद्धरण से तत्कालीन समाज के राजा के कर्त्तव्यों का ज्ञान होता है। राजा का कर्त्तव्य जनता का हित करने, राज्य को अक्षुण्ण बनाये रखने, अत्याचारियों को दण्ड देने, पूर्वजों द्वारा बताये गये नियमों पर चलने, धर्मपूर्वक शासन करने में निहित है।

चक्रवर्ती राजा

बौद्ध साहित्य के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि छोटे छोटे राज्यों को एकता के सूत्र में बाँधने का प्रयास विभिन्न राजवंशों द्वारा होने लगा था। इस प्रकार के प्रयास को आज के शब्दों में साम्राज्यवाद कहा जायगा, जिसे उस समय चक्रवर्ती प्रणाली भी कहते थे, जिसमें साम्राज्यचक्र अवाधित रूप से चल सकता था। इस विचार का मूलाधार भी वही सीमाजन्य है। पहले तो इसकी व्याख्या आ–समुद्र कहकर की जाती थी किन्तु अब इसकी नयी व्याख्या में यह कहा जाने लगा कि जो राज्य कन्याकुमारी से काश्मीर तक हो वह चक्रवर्ती राज्य है।[४] क्योंकि अर्थशास्त्र में यह मिलता है कि ''सारी भूमि या भारतदेश है। उसमें हिमालय से समुद्रतट सीधे ऊत्तर दक्षिण १००० योजन में चक्रवर्ती क्षेत्र है अर्थात् इतनी पृथ्वी पर राज्य करने वाला राजा चक्रवर्ती होता है।[५] भगवान बुद्ध के समय से या उससे कुछ पूर्व यह विचार उत्पन्न हुआ था। बुद्ध ने अपने धार्मिक साम्राज्य का नामकरण 'धर्मचक्र' किया था, वह राजनीतिक परिभाषा के अनुसार किया था।[६]

चक्रवर्ती राजा के गुण, कर्त्तव्य एवं अधिकार सामान्य राजाओं से भिन्न होते थे। इनकी कुछ विशेष महत्त्वाकांक्षाएँ होती थी जिसके अन्तर्गत राज्य की परिधि का विस्तार करके पूरे राज्य को राजनीतिक एवं धार्मिक एकता के सूत्र में बांधने का विचार निहित होता था। इनके लिये सात रत्नों और चार ऋद्धियों से युक्त होना आवश्यक था, क्योंकि इससे ही इनको सुख और सौमनस्य प्राप्त होता है। भगवान् बुद्ध अपने शिष्यों को चक्रवर्ती

---

१. जातक, भाग–३, पृष्ठ ३१७ (मणिकुण्डलजातक ३५१)।

२. जातक, भाग–१, पृष्ठ २२७ (मखादेवजातक ९)।
वही. पृष्ठ ३३१ (सुख बिहारी जातक १०)।

३. मिलिन्द प्रश्न ४/५/४९, पृष्ठ २७५–७६।

४. हिन्दू राजतंत्र, काशीप्रसाद जायसवाल, पृष्ठ ३९२।

५. कौटिल्य अर्थशास्त्र, नवां अधिकरण प्रकरण १३५–३६, अध्याय–१, पृष्ठ २७५।

६. काशीप्रसाद जायसवाल, हिन्दू राजतंत्र, पृष्ठ २९३।

राजा के सम्बन्ध में बतलाते हुए कहते हैं कि चक्रवर्ती राजा चक्ररत्न लेकर अपनी चतुरङ्गिणी सेना के साथ पूर्व दिशा की ओर चलता है, दक्षिण दिशा में चलता है, पश्चिम दिशा की ओर चलता है और उत्तर दिशा की ओर चलता है तथा उन दिशाओं के राजाओं को अधीन करके उनका अनुशासन करते हुए कहता है— "प्राण नहीं मारना चाहिये, चोरी नहीं करनी चाहिये, व्यभिचार नहीं करना चाहिये, झूठ नहीं बोलना चाहिये, शराब नहीं पीना चाहिये जैसे (जैसे आज तक राज को) भोगे वैसे ही भोगो।" इस प्रकार पूरी पृथ्वी को जीतकर चक्रवर्ती राजा वापस आता है और चक्रवर्ती राजा को इस प्रकार चक्ररत्न प्रकट होता है।[1] चक्रवर्ती राजा का सर्वप्रतिष्ठित ऋद्धिमान्, आकाशगामी, उपोसथ नागराज नामक सर्वश्वेत हस्तिरत्न, काकशीर्ष, मुञ्जकेश ऋद्धिमान्, आकाशगामी अश्वराज बलाहक नामक अश्वरत्न होता है। मणिरत्न, स्त्रीरत्न जो कि अभिरूपा दर्शनीय, प्रासादिका परमवर्ण पुष्पकलता से युक्त, नातिदीर्घा, नातिह्रस्वा, नातिस्थूला, न बहुत काली न बहुत सफेद, मनुष्य वर्ण को पार कर तथा दिव्यवर्ण से कुछ घटकर होती है। यह चक्रवर्ती राजा की पूर्वोत्थायिनी पश्चान्निपातिनी, प्रियचारिणी, प्रियवादिनी होती है।[2]

गृहपतिरत्न, जो कि चक्रवर्ती राजा को समयानुसार धन देता रहता है, तथा परिणायक रत्न भी चक्रवर्ती राजा के पास होना चाहिये; क्योंकि अप्राप्य को प्राप्त कराने में, दूर हटाने की चीज दूर कराने में तथा उचित अनुशासन कराने में सहायता करता है।[3]

उपर्युक्त सात रत्नों से स्पष्ट होता है कि चक्रवर्ती राजा के लिये कौन कौन सी चीजें मुख्य रूप से आवश्यक है। उसका तत्कालीन समाज में उपयोग क्या था, यह स्पष्ट हो जाता है। चक्रवर्ती राजा के सात रत्नों के सम्बन्ध में जो उल्लेख प्राप्त होता है उसमें यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उसका शासन न्यायपूर्ण एवं धार्मिक होना चाहिये।[4]

चक्रवर्ती राजा की चार ऋद्धियों से युक्त होने का तात्पर्य यह है कि वह अभिरूप, दर्शनीय, प्रासादिक युक्त, अन्य मनुष्यों से अतिदीर्घायु, द्वितीय ऋद्धि से युक्त, निरोग, निरातङ्क, तृतीय ऋद्धि से युक्त एवं ब्राह्मण गृहपतियों को प्रिय होता है तथा ब्राह्मण गृहपति राजा के पास आकर बोलते हैं—"देव! धीरे-धीरे जाइये जिसमें कि हम देर तक आपको देख सकें", इस चतुर्थ ऋद्धि से युक्त होता है।[5] इन ऋद्धियों से युक्त राजा सुख और सौमनस्य का अनुभव करता है।

चक्रवर्ती राजा लोक के हित के लिये, सुख के लिये होता है। वह जनों का अर्थसाधक तथा देवताओं एवं मनुष्यों के सुख के लिये अपना जीवन अर्पित करता है। उसकी मृत्यु लोगों के अनुताप का कारण होती है। उसके स्तूप पूज्य होते हैं।[6] इससे स्पष्ट होता है कि चक्रवर्ती राजा का कर्त्तव्य बहुजनहिताय एवं बहुजनसुखाय होता है। इनके मरने के बाद इनकी स्मृतिसंरक्षण के लिये इनकी अस्थियों पर स्तूपनिर्माण भी होता था तथा ये जनों द्वारा पूज्य होते थे। इनका समाज में विशेष महत्त्व था।

---

१. मज्झिमनिकाय, पृष्ठ ५३८; मिलिन्दप्रश्न, पृष्ठ १३७; दीघनिकाय ३, पृष्ठ ४८।

२. वही, पृष्ठ ५३९; संयुक्तनिकाय, भाग-२, पृष्ठ ६६५।

३. मज्झिमनिकाय, पृष्ठ ५३८।

४. मैत्रेयावदान, अशोककर्णावदान, पृष्ठ ८७; मान्धातावदान, पृष्ठ १३२; मिलिन्दप्रश्न १४८, पृष्ठ ४०२; दीघनिकाय पाथिकवग्गो ३, चक्रवत्तिसुत्त, पृष्ठ ४६।

५. मज्झिमनिकाय, ५३९।

६. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग-१, पृष्ठ ७८-७९; दीघनिकाय ३, पृष्ठ ५८।

चक्रवर्ती राजा को उसका प्रधानमन्त्री सदैव उचित परामर्श दिया करता है तथा उसे यह समझाता रहता है कि "यह आपके लिये हित का है, यह अहित का है, यह भलाई करनेवाला, तथा यह बुराई करनेवाला। फिर अहित को छोड़, हित को स्वीकार कर, बुराई करने वालों को छोड़ दें और भलाई करने वालों को स्वीकार करें।"[१] इससे मन्त्री का भी कर्त्तव्य स्पष्ट हो जाता है कि वह चक्रवर्ती राजा को उचित पथ पर अनुगमन करने के लिये प्रेरित करे तथा कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का ज्ञान करावे जिससे कि चक्रवर्ती राजा अपने लक्ष्य से विचलित न हो सके। चक्रवर्ती राजा का भण्डारी प्रतिदिन प्रातः सायं राजा को उसके यश की स्मृति दिलाता रहे– "देव! आपके पास इतने हाथी, इतने घोड़े, इतने रथ, इतने पैदल सिपाही, इतनी सेना और इतनी सम्पत्ति है। आप इसे याद रखें।"[२] इससे यह विदित होता है कि भोजन बनाने वाला भी उसके यश का स्मरण दिलाकर सुकृत की ओर अग्रसर कराने का कार्य करता था।

अमात्य

प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था में अमात्य का स्थान अग्रगण्य था। अमात्य के सम्बन्ध में जब हम प्राचीन साहित्य का अवलोकन करते हैं तो उस समय भी तत्कालीन समाज के शासन चलाने में अमात्य की भूमिका महत्त्वपूर्ण थी। राजा और मन्त्री के सम्बन्ध में यह उल्लेख प्राप्त होता है कि यदि राज्य की तुलना शरीर से की जाय तो राजा सिर होगा और मन्त्री नेत्र[३]। अमात्य[४], मन्त्री[५], सचिव[६], राजामात्य[७], महामात्र[८], राजमात्र[९], महामात्य[१०], महामन्त्री[११], देवमन्त्री[१२] का उल्लेख बौद्ध साहित्य में प्राप्त होता है। इन नामों का स्पष्ट अन्तर नहीं प्राप्त होता। जैसे कुरुजातक में साथ ही साथ पुरोहित, अमात्य, महामात्य का प्रयोग हुआ है। क्रम में पुरोहित फिर अमात्य एवं बाद में महामात्य का प्रयोग है। राज्य की स्थिति पर विचार करने की बात जब आती है तो राजा अमात्यों को बुलाकर मन्त्रणा करता है।[१३] यहाँ पर महामात्य की स्थिति का स्पष्ट भाव नहीं हो पाता। अमात्यों के गुणों को स्पष्ट करते हुए यह बताया गया है कि "अमात्य धीर हो, अर्थ का जानकार हो, जुआरी न हो, ठग न हो, जो शराबी न हो तथा जो नष्ट करने वाला न हो, जो धन की रक्षा उसी प्रकार करे और सम्हाले जैसे सूत रथ के घोड़ों को सम्हालता है।[१४] इससे स्पष्ट होता है कि अमात्य

---

१. *मिलिन्दप्रश्न, पृष्ठ ४६।*
२. *वही।*
३. *शुक्रनीति १/६१–६२।*
४. *दिव्यावदान ४६५/११, १७७/१५; महावस्तु, भाग–२, २६/३; सद्धर्म० १८०/१५; दीघनिकाय, पृष्ठ ५१–५, ५३, १८३, २३५; संयुत्तनिकाय, भाग–१, पृष्ठ ७१; दीघनिकाय, पृष्ठ १९; महावस्तु, भाग–३, २९७/१७; ३/४८/१८; अवदान १/२२०/१, १/२२१/६।*
५. *महावस्तु, भाग–३, ४६२/२१; जातक, भाग–५, ५२१।*
६. *बुद्धचरित, ८/८३।*
७. *महावस्तु, भाग–३, ४६२/२१।*
८. *वही, १३१/१९, ३/२९९/७, ३/४६०/९।*
९. *सद्धर्मपुण्डरीक ७६/१, ८०/२१।*
१०. *दीघनिकाय, पृष्ठ ६७, ११७; संयुत्तनिकाय, भाग–२, पृष्ठ ७९०।*
११. *दीघनिकाय, पृष्ठ २३५।*
१२. *मिलिन्दप्रश्न २/१/१३, पृष्ठ ३६।*
१३. *जातक, भाग–३, पृष्ठ ९०–९१; जातक २७६।*
१४. *जातक, भाग–५, पृष्ठ २०१; तेसकुण जातक ५२१; महावस्तु भाग–१, २७९/५६।*

धीर, गुणी एवं अर्थशास्त्र का ज्ञाता तथा सच्चरित्र एवं राष्ट्रभक्त होता था। उसकी नियुक्ति उसके गुणों के परीक्षण के बाद ही की जाती थी। इसी जातक में बलों को स्पष्ट करते हुए कायबल, भोग्य सामग्री का बल, अमात्यबल अभिजात कुल में जन्मबल एवं प्रज्ञाबल को बताया गया। अमात्य बल एक महत्त्वपूर्ण बल है।[१] यदि अमात्य दोषों से युक्त होता है तो शासन दोषयुक्त एवं धर्महीन हो जाता है जैसा कि हंस एवं राजा के उत्तर प्रत्युत्तर से स्पष्ट हो जाता है—

"क्या तेरे अमात्यों में कोई दोष नहीं है?"....

"मेरे अमात्यों में कोई दोष नहीं है।"[२]...

अमात्य का स्थान महत्त्वपूर्ण होता था। वह राजपरिवार से सम्बन्ध रखता था। उनका राजकार्य में सहराहनीय योगदान हुआ करता था। घटजातक में अमात्य राजा के उपकार की बात करता है। फिर भी फूट डालने वालों की बात मानकर राजा ने अमात्य को कारागार में डलवा दिया। परन्तु उसके गुणों का स्मरण कर उसने फिर छुड़वाया।[३] इससे स्पष्ट होता है कि अमात्य गुणवान् हुआ करते थे और हर परिस्थिति में राजा के हित की बात सोचा करते थे। दशरथजातक में यह मिलता है कि "महाराजा दशरथ पुत्रशोक के कारण नवें वर्ष मर गये, उसका शरीरकृत्य हो जाने पर देवी ने अपने पुत्र भरत को कहा कि हल धारण करो। लेकिन अमात्यों ने बाधा डाली। वे बोले—"हल के स्वामी जङ्गल में रहते हैं।"[४]

उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि अमात्यों की सहमति के बिना राजसिंहासन पर राजकुमार आरूढ़ नहीं हो सकता था। राजा के न रहने पर अथवा उसके प्रवज्या लेने पर शासन का भार अमात्यों पर होता था।[५] उस समय न्याय करने का कार्य अमात्य ही करते थे।[६]

अमात्यों की संख्या निश्चित नहीं मिलती। इनका प्रयोग विशेषतः बहुवचन में मिलता है। जैसे तेसकुण जातक में राजा अपने अमात्यों को बुलाता है।[७] इसी प्रकार दीघनिकाय में "पञ्चशिख! भगवान् को मेरी ओर से अभिवादन करो— भन्ते! देवेन्द्र शक्र अपने अमात्यों को (मन्त्री) तथा परिजनों के साथ भगवान् के चरणों में सिर से वन्दना करता है।[८] इससे अमात्यों की परिषद् का भी आभास मिलता है।[९] अमात्यपरिषदों में राजा इनके साथ बैठ कर मन्त्रणा करता था।[१०] ब्राह्मणों, कुलपुरोहितों, मन्त्रियों से एक साथ मिलकर मन्त्रणा करता था।[११]

---

१. जातक, भाग–५, पृष्ठ २०४; तेसकुणजातक, पृष्ठ ५२१।

२. वही, पृष्ठ १५, हंसजातक ५०२।

३. जातक, भाग–३, पृष्ठ ३३०, घटजातक ३३५।

४. जातक, भाग–४, पृष्ठ ३२६; दशरथजातक ४६१।

५. जातक, भाग–३, पृष्ठ ३३१; घटजातक ३५५।

६. जातक, भाग–४, पृष्ठ ३३०; दशरथजातक ४६१।

७. जातक, भाग–५, पृष्ठ २०२; तेसकुणजातक ५५१।

८. दीघनिकाय, पृष्ठ १८३।

९. वही, पृष्ठ ५१।

१०. महावस्तु, भाग –३/१०/११–१५।

११. जातकमाला, ११५; यज्ञजातक १०।

दण्ड–व्यवस्था

प्राचीन काल में शासन व्यवस्था के अन्तर्गत न्यायविभाग शासनविभाग से पृथक् रहता था। साधारणतः उसका रूप स्वतन्त्र रहता था। इसका कारण यह था कि धर्मशास्त्र के ज्ञाता ही न्यायाधीश बनाये जाते थे और धर्मशास्त्री लोग ब्राह्मण ही होते थे। बहुत प्राचीनकाल (ई०पू० १००० से ई०पू० ५००) में हिन्दू ब्राह्मणों में भी ब्राह्मणों ने ग्रन्थों का पाठ (स्वाध्याय) करने वाला अपना नम्र स्वरूप छोड़कर राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश किया था।[१] वस्तुतः ये दण्ड–व्यवस्था के माध्यम से लोककल्याण एवं लोकरक्षा की योजनाओं को क्रियान्वित करना चाहते थे ताकि समाज के सम्पूर्ण वर्ग अपने अपने कर्मों के पालन में एकनिष्ठ रहें। साथ ही इसका दायित्व राजा पर भी निर्भर था।

बौद्ध साहित्य के अनुसार तत्कालीन समय में प्रचलित दण्ड का स्वरूप जनहित के लिए ही था। उस समय चोरी अथवा अन्य अपराध करने वाले व्यक्ति को किस प्रकार के दण्ड दिए जाते थे इसका उल्लेख अङ्गुत्तरनिकाय में निम्नलिखित उद्धरण से द्रष्टव्य है– ''चाबुक से भी पीटते थे, बेंत से भी पीटते थे, मुद्गर से भी पीटते थे, हाथ भी छेद देते थे, पाँव भी छेद..... हैं, कान भी छेद..... हैं, नाक भी छेद..... हैं, खोपड़ी निकाल कर उसमें गर्म लोहा भी डाल देते हैं, बालों सहित सिर की चमड़ी उखाड़ कर खोपड़ी से कङ्करों को भी रगड़ते हैं, सँड़सी से मुँह खोलकर उसमें दीपक भी जला देते हैं––उबलता तेल भी डाल देते हैं तथा तलवार से सिर भी काट डालते हैं''।[२] इस प्रकार अपराधी व्यक्ति को विविध दण्डों से दण्डित करते थे। यह कठोर शरीरिक दण्ड समाज की अपराधी मनोवृत्ति के व्यक्तियों के मन में भय उत्पन्न कर देता था और वे अपराध करने से डरते थे। जिससे समाज के लोग निर्भय होकर अपने कार्यों को करते थे। ग्रामघात (गाँवों की लूट) आदि अकृत्य कार्य करने वाले दस्युओं को बन्धन, हानि, निन्दा, वध दण्डों से दण्डित किया जाता था।[३] उपर्युक्त उद्धरण से यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में प्रचलित दण्ड, बन्धन हानि, निन्दा, वध ही थे जो कि साम, दाम, दण्ड, भेद की नीति से प्रभावित थे। साथ ही शारीरिक दण्ड को विशेष महत्त्व दिया गया है जिसमें विलङ्गथालिक, शङ्खमुण्डिका, राहुमुख, ज्योतिर्मालिक, हस्तप्रज्योतिका, ऐरकवर्तिक, चीरकवासिका, ऐणयक, वडिशमांसिका, कार्षापणक, खारापतक्षिका, परिघपरिवर्तिका एवं पलालपीठिका दण्ड मुख्य थे। प्राणदण्ड भी दिया जाता था।[४]

न्यायाधीश

न्यायाधीश के सम्बन्ध में 'किञ्छन्द जातक' में यह उद्धरण प्राप्त होता है कि एक तपस्वी प्रेत से प्रश्न करता है कि ''तुम पूर्व जन्म में अपने आप को कष्ट देने वाला कौन सा कर्म किया है जिसके करने से तूँ अपनी पीठ का मांस खाता है?'' इस पर प्रेत उत्तर में कहता है– ''मैंने तुम्हारे द्वारा न्यायाधीश के पद पर नियुक्त होने पर रिश्वत ले झूठा निर्णय दिया। उस दिन किये गये पाप कर्म का फल भोग रहा हूँ।''[५] इसे यह विदित होता है कि न्यायाधीश राजा के अतिरिक्त दण्ड देने अथवा न्याय करने का कार्य राजा के द्वारा

---

१. काशीप्रसाद जायसवाल, हिन्दू राजतन्त्र, अनुवादक–रामचन्द्र वर्मा, पृष्ठ ३००।

२. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग–१, पृष्ठ ५०।

३. दीघनिकाय, कूटदन्तसुत्त, पृष्ठ ५०।

४. मज्झिमनिकाय, पृष्ठ५५, ५६, ६०।

५. जातक, भाग–५, पृष्ठ ६९; किञ्छन्द जातक, पृष्ठ ५११।

नियुक्त व्यक्ति एवं अमात्य[1], पुरोहित भी करते थे, जो ईमानदार सत्यवादी एवं धर्माचरण करने वाले होते थे। वे अपने कर्मों से च्युत न हों, इसके लिये गाथाओं के माध्यम से उन्हें यह कहकर भयभीत किया जाता था कि वे आगामी जन्म में अपार दुःखों एवं कष्टों को भोगेंगे।

भगवान् बुद्ध का दृष्टिकोण

समाज में अपराध के, जिसके उन्मूलन के लिये दण्ड दिया जाता है, उत्पन्न होने का मूल कारण धनसञ्चय है। धनसञ्चय के कारण समाज में निर्धनता का प्रसार हुआ और इससे एक मनुष्य ने दूसरे मनुष्य की वस्तु का अपहरण प्रारम्भ किया जिसके फलस्वरूप चोरी बढ़ी, अस्त्र–शस्त्र का प्रसार हुआ एवं खून–खराबी भी बढ़ी। और इन अपराधों से बचाव के लिये लोग झूठ बोलने लगे। यही नहीं, वे चुगली तक करना सीख गये। साथ ही इसके परिणामस्वरूप मनुष्य अपने गुणों से च्युत हुआ तथा सामाजिक प्रेम, प्रतिष्ठा न मिलने के कारण दूसरों की स्त्रियों के साथ व्यभिचार भी करने लगा। और इन कुकर्मों के परिणामस्वरूप अपराध में वृद्धि हुई। लोगों में एक दूसरे के प्रति श्रद्धा एवं प्रेम का लोप होता गया।[2] इसलिये भगवान् बुद्ध का मत है कि अकृत्य कर्मों को दण्ड से पूर्णरूपेण समाप्त नहीं किया जा सकता। इसके लिये लोगों की मूल आवश्यकताओं को पूर्ण किया जाना चाहिये। दीघनिकाय में यह कहा गया है– "ऐसे दस्युकील का इस उपाय से भलीभाँति उन्मूलन हो सकता है कि राजन्! जो कोई आपके जनपद में कृषि, गोपालन करने का उत्साह रखते हैं उनको आप बीज और भोजन प्रदान करें। जो वाणिज्य करने का उत्साह रखते हैं उन्हें आप पूँजी दें। जो राजपुरुषायी (राज्य की नौकरी) करने का उत्साह रखते हैं उन्हें आप भत्ता, वेतन दें। इस प्रकार से लोग अपने काम में लगें, जिससे जनपद (देश) पीड़ारहित, कण्टकरहित, क्षेमयुक्त होगा। मनुष्य भी गोद में पुत्रों को नचाते–से खुले घर में विहार करेंगे।"[3] इस प्रकार भगवान् बुद्ध का दृष्टिकोण धनसञ्चय के विरुद्ध है। वे कठोर दण्ड के पक्षपाती नहीं थे। उन्होंने समाज की व्यवस्था को सुन्दर बनाने के लिये मनुष्य की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति पर अधिक बल दिया। उनकी यह धारणा थी कि दण्ड से सामाजिक व्यवस्था सुदृढ़ नहीं बनायी जा सकती, अपितु निर्बल ही होगी, कारण कि मनुष्य उस अपराध के दण्ड से बचने के लिये विविध प्रकार के नये अपराध करेगा और समाज पतनोन्मुख होगा। इसके साथ ही दण्ड–व्यवस्था निरर्थक सिद्ध होगी। दण्ड–व्यवस्था का उद्देश्य अर्थ, धर्म और काम में लोगों की प्रवृत्ति जागृत करना है।[4] परन्तु वास्तव में दण्ड द्वारा लोगों को उनके कर्त्तव्यों के प्रति उन्मुख किया जा सकता, अपितु उससे वे और अधिक विरत होंगे।

यदि मानव समाज को उसके कर्त्तव्यों के प्रति जागरूप करना है तो दण्ड और शस्त्र छोड़कर[5] प्रेम, दया, अहिंसा एवं मूल अभावों की पूर्ति से ही लोगों को उनके कर्त्तव्यों के प्रति सचेष्ट किया जा सकता है। भगवान् बुद्ध का यह मत कौटिल्य के मत से अधिक व्यावहारिक है।

---

१. जातक, भाग–४, पृष्ठ ३३०; दशरथ जातक ४६१।
२. दीघनिकाय ३/३, पृष्ठ २३५–२३७।
३. दीघनिकाय १/५, पृष्ठ ५०–५१।
४. कौटिल्य अर्थशास्त्र, प्रकरण–१, अध्याय–३।
५. दीघनिकाय ३/७, पृष्ठ २६२।

पदाधिकारी एवं सेवकगण

शासन–व्यवस्था को दृढ़ रूप से चलाने के लिये शासन के कार्यों का विभाजन करके विभिन्न पदाधिकारी एवं सेवकगणों की नियुक्ति की जाती थी। बौद्ध साहित्य में विभिन्न पदाधिकारियों का उल्लेख प्राप्त होता है परन्तु उनके कार्यों, कार्यकाल, सेवा विधान, वेतन आदि का सम्यक् विवेचन नहीं किया गया है। फिर भी पदाधिकारियों का कुछ उल्लेख बौद्ध साहित्य में मिलता है, जो निम्नलिखित हैं–

उपराजा[१]– यह पद राजा के बाद का होता था। इस पर राजा के पुत्रों या राजकुमार की ही नियुक्ति होती थी। दो पुत्र होने पर बड़े पुत्र को ही इस पद पर आसीन किया जाता था। इसे 'उपराज' भी कहा जाता था। सम्भवतः 'भोग्य कुमार'[२] एवं 'राजपुत्र'[३] इसी का पर्याय था; यद्यपि इसका कोई विशेष उल्लेख नहीं प्राप्त होता।

पुरोहित[४]– यह महत्त्वपूर्ण पद था। पुरोहित राजा को धार्मिक कार्यों को करने के लिये प्रेरित करता था। यह धार्मिक कार्यों के सम्पादन का अधिकारी था। यह पद वंशानुगत होता था जैसा कि सय्ह जातक से परिलक्षित होता है।[५] साथ ही यह पद पण्डितों को मिलता था। अग्रपुरोहित[६] अथवा पुरोहितप्रमुख[७] का भी कार्य सम्भवतः पुरोहितों में श्रेष्ठ होता था। उसे पुरोहितप्रमुख अथवा अग्रपुरोहित कहा जाता था।

अमात्य[८]– यह मन्त्रणा देने का कार्य करता था। प्रशासन के सञ्चालन में इसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती थी। अमात्यों में जो मुख्य होता था उसे 'अग्रामात्य' कहते थे।[९] इसके अतिरिक्त 'महामात्य'[१०], 'राजामात्य'[११], 'राजमहामात्य'[१२], 'महामन्त्री'[१३], या 'राजामात्य'[१४] का भी उल्लेख प्राप्त होता है जिनके कार्यों का स्पष्ट अन्तर नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त कुमारामात्य जो राजकुमारों की देखभाल करने वाला अधिकारी, गणक महामात्य[१५] जो गणना अधीक्षक होता था, राशिवर्धक अमात्य[१६] जो बही को लेखा–जोखा

१. *जातक, भाग–६, पृष्ठ ३४; महाजनक जातक ५३९; जातक, भाग–३, पृष्ठ २५४; कङ्काल जातक ३२६; जातक, भाग–३, पृष्ठ ४३; तिरीटवच्छ जातक २५६; दीघनिकाय २/३, पृष्ठ ११८; पादटिप्पणी अट्ठकथा जातक, भाग–४, पृष्ठ ३२१, युंजय जातक ४६०।*
२. *दीघनिकाय ३/७, पृष्ठ २६७।*
३. *जातक, भाग–३, पृष्ठ १८१; महाअस्सारोहजातक ३०२; सद्धर्मपुण्डरीक १८०/१५।*
४. *जातक, भाग–३, पृष्ठ १९८; जातक भाग–३, पृष्ठ २५४; कङ्काल जातक ३२६; जातक, भाग–५, पृष्ठ ६६; हत्थिपाल जातक ५०२।*
५. *जातक, भाग–३, पृष्ठ २००–२०१; सय्हजातक ३१०।*
६. *करुणावदान ३३/२६।*
७. *महावस्तु, भाग–३, ४५२/७।*
८. *दीघनिकाय, पृष्ठ १९, ५१, ५२, १८३, २६७; जातक, भाग–३, पृष्ठ २३४; सुच्चज जातक ३२०; महावस्तु भाग २/१८०/४, भाग–३ ४४२/१; दिव्यावदान २३५/१८।*
९. *दिव्यावदान २३५/५।*
१०. *जातक, भाग–३, पृष्ठ ८५; कच्छपजातक २७३; जातक भाग–४, पृष्ठ ३३४; संवर जातक ४६२; दीघनिकाय, पृष्ठ २/३/११७।*
११. *दिव्यावदान ३४७/२३।*
१२. *सद्धर्मपुण्डरीक १८०/१५।*
१३. *दीघनिकाय, पृष्ठ २५।*
१४. *सद्धर्मपुण्डरीक ८०/१२५।*
१५. *महावस्तु, भाग–३/१०२/५, ३/४४२/६।*
१६. *दिव्यावदान १८१/३, १९।*

रखने वाला मंत्री (खजांची), विनिश्चयमहामात्य[1] जो न्याय का मन्त्री होता था, व्यवहारअमात्य[2] भी न्यायपति होता था। अश्वमहामात्य[3], हस्तिमहामात्य[4] जो हस्तिसेना अधीक्षक एवं अश्वसेना अधीक्षक होता था, का भी उल्लेख मिलता है।

छत्ता— यह व्यक्तिगत सचिव होता था।[5]

मतिसचिव— यह परामर्श देने वाला मन्त्री होता था।[6]

देव–मन्त्री— इसका प्रयोग मिलिन्द प्रश्न में मिलिन्द देवमन्त्री के माध्यम से ही नागसेन से वार्ता करने की तैयारी करता है। देवमन्त्री का कार्य अनुमात्य के ही सदृश हैं।[7]

गणाध्यक्ष[8]— गण (राज्य) के अध्यक्ष को गणाध्यक्ष कहते थे।

कोषाध्यक्ष[9]— राजकोष के अध्यक्ष को कोषाध्यक्ष कहते थे।

सेनाध्यक्ष[10]— यह सेना के एक अङ्ग का अधिकारी होता था।

सेनापति[11]— यह पूरी सेना का प्रधान होता था।

उद्यानपाल[12]— यह उद्यानों की देखभाल करने वाला अधिकारी होता था।

रथपाल[13]— रथसेना के अधिकारी को रथपाल कहते थे।

अश्वपाल[14]— अश्वसेना के अधिकारी को अश्वपाल कहते थे।

हस्तिपाल[15]— हस्तिसैन्यदल के अधिकारी को हस्तिपाल कहते थे।

राष्ट्रिक[16]— यह प्रान्तीय स्तर का अधिकारी होता था जिसे प्रदेशाधिकारी भी कहा जाता था।

गणक[17]— गणना का कार्य करने वाला अधिकारी गणक कहा जाता था।

कोष्ठागारिक[18]— यह सम्पत्ति–कोष का अधिकारी होता था।

लेखावचिक[19]— यह लेखा–जोखा का निरीक्षण करनेवाला अधिकारी होता था।

---

१. जातक, भाग–६, पृष्ठ ४३; महाजनक जातक ५३९।
२. दीघनिकाय २/३, पृष्ठ ११८, पादटिप्पणी अट्ठकथा।
३. संयुक्तनिकाय ११/१/८; बुद्धचर्या, पृष्ठ ६६।
४. महावस्तु भाग–२, ४५५/१।
५. दीघनिकाय १/४, पृष्ठ ४४।
६. बुद्धचरित ८/८२।
७. मिलिन्दप्रश्न १/१/१५, पृष्ठ २७–२९।
८. दिव्यावदान ३५१/२४।
९. दीघनिकाय ३/७, पृष्ठ २६२।
१०. दिव्यावदान ३५९/२४।
११. दीघनिकाय २/३, पृष्ठ ११८; पादटिप्पणी अट्ठकथा, जातक भाग–६, पृष्ठ ४३; महाजनकजातक ५३९; जातक भाग–४, पृष्ठ ३५०; भद्दसाल जातक ४६५; महावस्तु २/३००/११।
१२. महावस्तु, भाग–२/११२/१८; दीघनिकाय २/१, पृष्ठ १०६।
१३. महावस्तु, भाग–२/४५७/४।
१४. जातक, भाग–५, पृष्ठ ७१।
१५. जातक, भाग–५, पृष्ठ ७१–७२।
१६. बुद्धचर्या, पधानीय सुत्त, पृष्ठ ३८३; अङ्गुत्तरनिकाय–६, निपात–६, पृष्ठ १८।
१७. दीघनिकाय १/२, पृष्ठ १९; ३/७ पृष्ठ २६७; महावस्तु भाग–३, ४२/९।
१८. दीघनिकाय १/५, पृष्ठ ५१–५२; अवदानशतक भाग–१, ७५/६।
१९. अवदानशतक भाग–२, १०४/१०८।

अट्टकुलिक[1]— यह न्याय करनेवाला एक अधिकारी होता था।

व्यावहारिक[2]— यह भी एक प्रकार का न्यायमन्त्री था। विनिश्चय महामात्य के बाद इसका स्थान आता था। इसे व्यवहार–अमात्य कहा जाता था।

सूत्रधार[3]— यह भी न्याय का कार्य देखता था, परन्तु व्यावहारिक से यह उच्चपदाधिकारी होता था।

अनीकस्थ[4]— यह सेना का अधिकारी था। इसे 'सेनानायक' भी कहा जाता था।

द्वारपाल[5]— द्वाररक्षक को ही द्वारपाल कहा जाता था। इसके लिये 'दौवारिक'[6] शब्द भी प्रयुक्त होता था।

अङ्गरक्षक[7]— यह शरीररक्षक अधिकारी था। यह राजा के साथ निरन्तर रहता था।

दूत[8]— ये संदेशवाहक पदाधिकारी होते थे। इनका भी राज्य प्रशासन में महत्त्वपूर्ण स्थान था।

दावपालक[9]— इसे 'वनपाल' भी कहा जाता था। यह वन का स्वतन्त्र पदाधिकारी था।

बन्धनागारिक[10]— यह कारागार का प्रमुख अधिकारी होता था। इसका पद वर्तमान में जेल अधीक्षक के सदृश था। जेल को बन्धनागार[11] कहते थे।

उग्र[12]— यह एक महत्त्वपूर्ण अधिकारी होता था। सम्भवतः ऊँचे–ऊँचे अमात्यों को ही 'उग्र' कहा जाता था।

अग्रकुलिक[13]— नगर का यह एक अवैतनिक अधिकारी होता था। उसके नीचे के स्तर पर कुलिक होता था।

ग्रामिक[14]— ग्राम के शासन का प्रमुख ग्रामिक नाम से पुकारा जाता था एवं यह पद 'ग्रामणी' नाम से भी जाना जाता था।

नवकर्मिक[15]— यह भवननिर्माणकार्य की देख–रेख करनेवाला पदाधिकारी होता था। इसे आधुनिक अभियन्ता कहा जा सकता है।

---

१. दीघनिकाय, भाग–२/३, पृष्ठ ११८ पाद–टिप्पणी अट्ठकथा।
२. वही, बुद्धचर्या ४८५।
३. वही।
४. वही, पृष्ठ २६७, ३/७।
५. दीघनिकाय ३/७, पृष्ठ २६७, २६२, ३/३, पृष्ठ २३५; जातक भाग–३, पृष्ठ १८०; महाअस्सारोहजातक ३०२; महावस्तु भाग–२, ४९३/३४।
६. महावस्तु भाग–२ ४९२/१९।
७. दीघनिकाय ३/७, पृष्ठ २६२।
८. महावस्तु, भाग–१, ३०९/१५०, २/१९९/२; दीघनिकाय १/२, पृष्ठ २६, १/१, पृष्ठ ४; अवदानशतक भाग–१, ५८/६–७; विनयपिटक ७/२/१०, पृष्ठ ४९१।
९. मज्झिमनिकाय ३/३/८, पृष्ठ ५३०; विनयपिटक ६/३/१, पृष्ठ ४६१।
१०. मज्झिमनिकाय २/१/१, पृष्ठ २०९।
११. वही, १/४/९, पृष्ठ १६५।
१२. बुद्धचर्या, पृष्ठ २०३; दीघनिकाय १/३, पृष्ठ ४१।
१३. मज्झिमनिकाय २/४/२, पृष्ठ ३३३।
१४. संयुत्तनिकाय ४०/४, पृष्ठ ५८०–९९; जातक भाग–३, पृष्ठ ३६; महावस्तु, भाग–२, २०/१६–१७।
१५. विनयपिटक ६/३/२, पृष्ठ ४६२।

नगररूपकारिका[1]— नगर की रक्षा करने वाली स्त्री–पदाधिकारियों को नगररूपकारिका कहते थे।

नैगम[2]— यह निगमों का एक अवैतनिक राजकीय पद था, सम्भवतः श्रेष्ठी से ऊपर था।

नगरश्रेष्ठी[3]— यह नगर का सबसे बड़ा व्यापारी होता था, जो उस समय का एक राजकीय अवैतनिक पद था। राज्यप्रशासन में इसका महत्त्वपूर्ण योगदान था।

पत्तनक[4]— यह नगराधिकारी होता था, जो सम्भवतः वर्तमान नगरप्रमुख (मेयर) के सदृश था।

ग्राम–ग्रामणिक[5]— यह गाँव का पदाधिकारी था जो ग्राम–प्रशासन देखता था।

कार्मिक[6]— यह वाद–निर्णय करनेवाला अधिकारी होता था।

ग्रामभोजक[7]— यह गाँव का प्राधिकारी था जो गाँव में मद्यादि अपराधों को रोकता था।

हस्तिवैद्य[8]— यह पशुचिकित्साधिकारी था, जो केवल हाथियों की चिकित्सा करता था।

मूल्यनिर्धारक[9]— यह वस्तुओं का मूल्य निर्धारित करता था इसका विशेष कार्य हस्थिरत्न, अश्वरत्न आदि का मूल्य निर्धारित करना था।

अकासी[10]— कर वसूल करने वाले कर्मचारी को अकासी कहा जाता था।

चरपुरुष[11]— यह गुप्तचर का कार्य करते थे। इनका महत्त्व शासन–व्यवस्था में अधिक था।

राजकोष— राष्ट्र की उन्नति और सुरक्षा के निमित्त सप्ताङ्गों का वर्णन प्राचीन साहित्य में प्राप्त होता है। उनमें कोष का स्थान मुख्य है। राज–कोष के सञ्चय के साधनों में राष्ट्र, दुर्ग, खान, सेतु, वन, व्रज और वणिक्पथ प्रमुख है।[12] राजकोष के ऊपर ही राज्य की उन्नति आश्रित होती है इसलिये राजकोष के आय स्रोतों में अर्थदण्ड, कर, कृषिकर, बलिकर, धार्मिक कर, वाणिज्यकर भी सम्मिलित किया गया है। बौद्ध साहित्य में कोषवृद्धि सुन्दर राज्य का महान् लक्षण माना गया है।[13] चक्रवर्ती राजा के पास कोष की पूर्णता आवश्यक थी जिसका वर्णन हमें दीघनिकाय में राजा का ऐश्वर्य और धर्मप्रचार के वर्णन

१. दीघनिकाय १/३, पृष्ठ ४१।
२. विनयपिटक ६/३/१, पृष्ठ ४६०।
३. वही।
४. बुद्धचर्या, पधानीय सुत्त, पृष्ठ ३८३।
५. वही, अङ्गुत्तरनिकाय, भाग–६, निपात, पृष्ठ १८।
६. विनयपिटक १/१/८, पृष्ठ ३४५, १/५/६, पृष्ठ ३५९–६०।
७. जातक भाग–४, पृष्ठ ३१६; पानीय जातक ४५९।
८. वही, पृष्ठ २०; कपिजातक ४०४।
९. जातक भाग–४, पृष्ठ ३२८; सुप्पारक जातक ४६३।
१०. जातक, भाग–६, पृष्ठ २४७ भूरिदत्तजातक ५४३
'अकासिय राजूहि चानुसिट्ठा,
तदस्य आदाय धनं हरन्ति।
११. जातक भाग–१, पृष्ठ ३८८; महासीलवजातक ५१।
१२. कौटिल्य अर्थशास्त्र, दूसरा अधिकरण, प्रकरण–२२, अध्याय–६, पृष्ठ ११९–२०।
१३. महावस्तु भाग–२, २२६/१८।

में प्राप्त होता है।[1] परिपूर्ण कोष–कोष्ठागार वाला, बलवती, चतुरङ्गिणी सेना से युक्त, दान देने वाला तथा जिसके पास बहुश्रुत, पण्डित (विद्वान्) आते हैं। इनमें से परिपूर्ण कोष्ठागार का विशेष महत्त्व है।[2] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कोष की पूर्णता राज्य–प्रशासन को सुचारू रूप से चलाने के लिये आवश्यक थी।

करव्यवस्था– करव्यवस्था राजकोष की पूर्णता का मुख्य स्रोत था।[3] राज्य की आय के स्रोत में शुल्क, बलि (कर) या दण्ड से प्राप्त धन मुख्य रूप से आता था।[4] जनता के उत्पीड़ित होने पर अथवा सङ्कटग्रस्त होने पर बलि (कर) वर्जित था; क्योंकि दीघनिकाय में महाविजित ने यज्ञ की कामना रखते हुए पुरोहित को बुलाकर यज्ञ करने की बात कही, तब पुरोहित ने कहा– "आप सङ्कटक उत्पीड़ा सहित देश से बलि (कर) लेते हैं इससे आप अकृत्यकारी हैं।[5] साथ ही भूमि–कर लेना भी अनुचित था।[6]

दीघनिकाय में महाविजित के यज्ञ करने के बाद 'नैगम जनपद अनुयुक्तक, क्षत्रिय, अमात्य पार्षद, महासाल (धनी) ब्राह्मण, नैचयिक गृहपति (धनी वैश्य) बहुत सा धन धान्य ले राजा महाविजित से बोले– "देव! यह बहुत सा धन–धान्य देव के लिये लाये हैं, इसे स्वीकार करें।" "नहीं, भो! मेरे पास धर्म से उपार्जित बहुत धन–धान्य है, यह तुम्हारे पास ही रहे, तुम चाहो तो यहाँ से और भी ले जाओ।" राजा के निषेध करने पर एकान्त में उन्होंने सलाह की कि 'यह हमारे लिये उचित नहीं है कि यह धन धान्य अपने घरों को वापस ले जाँय क्यों न हम भी इनके अनुगामी बने।'"[7] इससे स्पष्ट होता है कि राजा का राजकोष धार्मिक ढंग से संगृहीत होता था तथा समाज का धनी वर्ग स्वेच्छया उन्मुक्तहस्त होकर अपना धन राजकोष में देता था। अर्थात् स्वेच्छा से कर देना–जनता का कर्त्तव्य था।

राजा के प्रमादी हो जाने पर राजपुरुषों की प्रवृत्ति घृणित हो जाती थी और वे मनमाने ढंग से कर की वसूली करते थे। इस प्रकार के आतङ्क से गरीब जनता भयातुर हो छिपने का प्रयास करती थी। दिन में राजपुरुष लूटते एवं रात में चोर। ऐसी स्थिति में जनता द्वारा राजा के नष्ट हो जाने की कामना भी की जाती थी। जिसकी विस्तृत विवेचना गण्डतिन्दुजातक में मिल जाती है। जिसके अन्त में यह भी बताया गया है कि राजा ने राज्य की स्थिति का अध्ययन करके अपना प्रमाद छोड़ दिया और धर्मानुशासन करने लगा।[8] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि राजपुरुषों द्वारा अनुचित कर लेना भी पाप माना जाता था।[9] शुल्क ग्रहण करने वाले अधिकारी को शौल्कक कहा जाता था।[10] महासमुद्रावतरण करने वाले व्यापारियों से तटपण्य शुल्क लिया जाता था।[11]

१. दीघनिकाय २/४, पृष्ठ १५६–५७; दिव्यावदान ३७७/८–१४।
२. वही, १/५, पृष्ठ ५१।
३. बुद्धचरित २०/२१।
४. दीघनिकाय २/३, पृष्ठ ११८ पादटिप्पणी, अट्ठकथा।
५. दीघनिकाय १/५, पृष्ठ ५०।
६. बुद्धचरित २/४४।
७. दीघनिकाय १/५, पृष्ठ ५३।
८. जातक, भाग–५, पृष्ठ १८५–९४; गण्डतिन्दुजातक ५२०।
९. सौन्दरनन्द २/२७।
१०. ज्योतिषकावदान, पृष्ठ १७०।
११. कोटिककर्णावदान, पृष्ठ २।

सैन्य व्यवस्था

सुदृढ़ प्रशासन के लिये सुदृढ़ सैन्यव्यवस्था का होना आवश्यक है। बौद्ध साहित्य के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन शासनव्यवस्था में सैन्य शक्ति का महत्त्व कम नहीं था। सेना के लिये 'बल' शब्द प्रयुक्त होता था।[१] चक्रवर्ती राजा विजय करने के लिये चक्ररत्न लेकर अपनी चतुरङ्गिणी सेना के साथ चारों दिशाओं में विजय करने हेतु जाता था।[२] अङ्गुत्तरनिकाय में पैदल सैनिकों के सम्बन्ध में पाँच प्रकार की वीरता का उल्लेख मिलता है। एक योद्धा ढाल–तलवार ले, तरकस बाँध घोर संग्राम में उत्साह से भाग लेता है, परिश्रम करता है और परिश्रम करते हुए ही वह वहीं अर्थात् युद्ध स्थल पर ही वीरगति को प्राप्त होता है; दूसरा सगे–सम्बन्धियों के पास ले जाते ही मर जाता है; तीसरा परिचर्या किये जाते समय अपने व्रण के कारण ही मर जाता है; चौथा परिचर्या का लाभ लेकर कष्ट से मुक्त हो जाता है और पाँचवा संग्राम जीत कर संग्राम में विजय प्राप्त कर संग्रामभूमि के शिखर स्थान पर रहता है।[३] योद्धा न धूल से और न पताकाओं से घबराता है, न ध्वनि सुनकर घबराता है, न प्रहार होने पर घबराता है। वह संग्राम में उत्तरसंग्राम–विजयी हो, उसी संग्रामभूमि के शिखर स्थान पर रहता है। इससे स्पष्ट होता है कि पैदल सैनिकों में वीरता का गुण अधिक होना चाहिये।

सैन्य वर्गीकरण— सेनाओं का वर्गीकरण इस प्रकार किया गया था[४]—

(१) हस्त्यारोही
(२) अश्वारोही
(३) रथिक (रथ पर बैठकर युद्ध करने वाले)
(४) चेलक (ध्वजा लेकर चलने वाले)
(५) चलक (सेना–व्यूहकारक)
(६) साहसी महायोद्धा (पिण्डदायक)
(७) उग्रराजपुत्र (उछलकर शत्रु का हथियार छिन लाने वाले=पक्खन्दो)
(८) महानाग (हाथियों से जूझ सकने वाले)
(९) शूर (अतिसाहसी योद्धा)
(१०) चर्मयोद्धा (खड्ग योद्धा)
(११) दासपुत्र (युद्ध का सामान ढोने वाले)

उपर्युक्त वर्णन अङ्गुत्तरनिकाय में आया है।[५] सेना के मुख्य चार भागों अश्व, हस्ति, रथ और पदाति का वर्णन प्राप्त होता है।[६] उससे यदि इसको मिलाया जाय तो कोई अन्तर नहीं मिलता। पदाति में धर्नुधारी, चेलक, चलक, पिण्डदायक, पक्खन्दि, शूर, चर्मयोद्धा तथा दासपुत्र को रखा जा सकता है।

उस समय राजा अपने अमात्यों एवं सेनापति की संयुक्त बैठक में युद्ध का निर्णय लेता था। यदि सहमति नहीं हुई तो युद्ध नहीं करने का निर्णय लिया जाता था।[७] सेना में

---

१. जातक, भाग–१, पृष्ठ ३१२; कुलावकजातक ३१।
२. दीघनिकाय २/४, पृष्ठ १५३।
३. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग–२, पृष्ठ ३१४।
४. वही, पृष्ठ ३१४।
५. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग–३, पृष्ठ २१८–१९।
६. महावस्तु, भाग–१/१४८/१०–११, दिव्यावदान ५४/३१।
७. जातक, भाग–६, पृष्ठ २५७; महानारदकस्सपजातक ५४४।

हाथी और घोड़े का विशेष महत्त्व था और सेना को सन्तुष्ट रखना युद्ध करने के लिये आवश्यक समझा जाता था। महानारदकस्सपजातक में अङ्ग राजा के युद्ध करने की इच्छा पर उसका सेनापति अलात कहता है— "सारी सेना सन्तुष्ट है, हाथी घोड़े से युक्त है, हम उसे सन्नद्ध करे। हे देव! अपने अनन्त बल पौरुष को युद्ध की तरफ ले चले जो आपके वश नहीं है उन्हें वश में लायेंगे। मेरा मत है कि जो प्रदेश अभी तक जीते नहीं गये हैं, हम उन्हें जीतेगें।"[1]

सैन्य सञ्चालन— चतुरङ्गिणी[2] सेना के अन्तर्गत हस्तिवाहिनी, रथवाहिनी, अश्ववाहिनी एवं पदाति सैन्य दल आते थे। जैसा कि विधुरजातक में मिलता है कि "हाथियों की सेना, रथों की सेना, घोड़े और ध्वजाएँ— इस प्रकार मणि में बनी हुई चतुरङ्गिणी सेना को देखें। हाथीसवार, सेनानी, रथसवार, पैदल तथा पंक्तिबद्ध सेना—ये सब मणि में देखें।"[3]

महाउम्मग्ग जातक में पाञ्चाल नरेश की सेना का वर्णन इस प्रकार है कि—"हे महोषध! यह पञ्चालीय सेना असीम है। पीठ पर भार ढोने वाले, पैदल चलने वाले सभी योद्धा हैं। वे चुपके से दूसरों का सिर काट लेने वाले हैं (दस प्रकार के) झण्डों से युक्त है और भेरी–शंख आदि की आवाज सुन जागृत हो जाते हैं। युद्ध–विद्या तथा अलङ्कारों से प्रकाशित हैं, ध्वजाएँ हैं, घोड़े हाथी हैं, शिल्पियों से युक्त हैं तथा शूरवीरों से प्रतिष्ठित हैं। कहते हैं कि इस सेना में दस प्रज्ञावान् पण्डित है जो एकान्त में मन्त्रणा करते हैं और राजा की माता ग्यारहवीं हैं जो पाञ्चाली सेना का अनुशासन करती है। यहाँ १०० अनुयुक्त, यशस्वी क्षत्रिय हैं, जिनके राष्ट्र छिन लिये गये हैं, जो व्यथित हैं और जो पाञ्चाली के वशीभूत हैं।[4]

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि सेना का सञ्चालन एवं अनुशासन स्त्रियां भी करती थीं एवं उसमें शिल्पियों को विशेष महत्त्व दिया जाता था। ध्वजाएँ उनका प्रतीक होती थीं, युद्ध विद्या की जानकारी सैनिकों के लिये आवश्यक थी तथा सेना के साथ–साथ प्रज्ञावान् पण्डितों का मन्त्रणा करने के लिये होना भी आवश्यक था।

सैनिकों को पुरस्कार— तत्कालीन राजव्यवस्था में जब राजा युद्धों में विजयी होता था तो प्रसन्न होकर सैनिकों को गाँव, नगर या कुछ क्षेत्र, सूत्रहार, आभूषण, अर्थहार, हिरण्य, सुवर्ण, मणि, मुक्ता, वैदूर्य, हाथी, घोड़ा, दास, दासी, यान एवं पालकियां देता था।[5] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उस समय सेना (बल) के कार्यरत व्यक्तियों को निश्चित वेतन के साथ साथ उनकी वीरता के आधार पर उन्हें विविध प्रकार के धन–धान्य से भी अतिरिक्त रूप में पुरस्कृत किया जाता था।

नगर–रक्षा— नगर की सुरक्षा के लिये नगर की सीमा पर चारों ओर ऊँचे–ऊँचे स्तम्भ होते थे, चारों ओर गहरी एवं चौड़ी खाईयां बनायी जाती थीं, ऊँचा–चौड़ा उपपथ

---

१. जातक, भाग–६, पृष्ठ २५९।

२. जातक भाग–६, पृष्ठ ५०४; महाउम्मग्गजातक ५४६।

३. वही, पृष्ठ ३१४;

"हत्थी अस्सा रथा पत्ती, सेना पदिस्सते महा!
चतुरङ्गिनी मिसरूपा किन्नु मञ्जति पण्डित।।
— विधुरजातक २४५।

४. वही, पृष्ठ ४४३; महाउम्मग्गजातक ५४६।

५. सद्धर्मपुण्डरीक, पृष्ठ २९२।

होता था। नगर में बहुत से आयुध अस्त्र–शस्त्र एकत्र रहते थे एवं सेना भी रहती थी। पण्डित, मेधावी द्वारपाल होते थे जो केवल सुरक्षा को ध्यान में रखकर पूर्ण परिचितों को ही प्रविष्ट होने देते थे। नगर के चारो तरफ ऊँची, चौड़ी तथा सभी छिद्रों को बन्द कर देने वाले चूने से बनी चहारदिवारी (प्राकार) होती थी।[१] इस प्रकार नगर की सुरक्षा के लिये सुदृढ़ व्यवस्था की जाती थी।

सैन्य-प्रशिक्षण— सेना को सुदृढ़ और प्रशिक्षित बनाने के लिये उसका विधिवत् प्रशिक्षण होता था एवं उसके प्रशिक्षण का समय समय पर प्रदर्शन भी होता था। इस प्रशिक्षण के प्रदर्शन को 'बलाग्र' कहते थे।[२] सेना–व्यूह अथवा अनीक (हाथी, घोड़ा आदि की सेनाओं की क्रम से स्थापना) को सामान्य लोग भी देखते थे।[३] साथ ही साथ बलाग्र एवं रक्षाक्षेत्र (उद्योधिका) को भी देखते थे।[४] सामान्य जन को इसमें किसी भी तरह की बाधा नहीं थी। जैसा कि विनयपिटक में कहा गया है—

"जो कोई भिक्षु वैसे किसी काम के विना सेना–प्रदर्शन को देखने जाय तो 'पाचित्तिय' है।"[५] अस्त्रों में ढाल, तलवार, तीर, कमान, धनुष[६] का प्रयोग विशेष रूप से होता था। उस समय इन हथियारों का महत्त्व अधिक था। शक्रजातक में देवों और देवताओं के सङ्घर्ष में कवच, क्षत्र, शस्त्र, तेज तीरों, प्रज्वलित तलवारों, भयङ्कर गदाओं का विशेष रूप से वर्णन प्राप्त होता है।[७] निदानकथा में मार बुद्ध पर आयुधों की वर्षा (प्रहरणवृद्धि) करता है जिसमें एक ओर धार वाले, दोनों धार वाले, तलवार, भाले, तीर आदि अस्त्र–शस्त्रों का प्रयोग करता है एवं अन्त में चक्रायुध (चक्कायुध) का भी प्रयोग करता है।[८] तलवार सुरक्षा हेतु म्यान में रखी जाती थी।[९] इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि एकधार एवं द्विधार असि[१०], धनुष्, तीर, शक्ति[११], माला, चक्रायुध, मतज[१२] (विष से बुझा तीर), व्रजतोमर[१३], क्षुर[१४], मूसल[१५], परशु[१६], गदा[१७], बरछी[१८] का मुख्य रूप से प्रयोग होता था।

---

१. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग–२, पृष्ठ २१८–१९।

२. विनयपिटक ५/४८–५९, पृष्ठ २७।

३. विनयपिटक, ५/४८–५९, पृष्ठ २७।

४. वही।

५. वही।

६. वही, ७/२/३, पृष्ठ ४८५।

७. जातकमाला, शक्रजातक, पृष्ठ १२५–१२९।

८. निदानकथा, पृष्ठ १८३–१८५।

९. मिलिन्दपञ्ह, पृष्ठ १०६।

१०. जातक भाग–१, पृष्ठ ३७७ वेदब्भ जातक।

११. वही, पृष्ठ ४६८; सच्चकिर जातक ७३; जातक भाग–१, पृष्ठ ३६८।

१२. मज्झिमनिकाय १/४/१०, पृष्ठ १६७, जातक, भाग–१, पृष्ठ ४०१, पञ्चावुधजातक ५५।

१३. ललितविस्तर, २६९/१४।

१४. विनयपिटक ७/२/१, पृष्ठ ४८३।

१५. ललितविस्तर, ३८२/५, जातक भाग–१, पृष्ठ ३६९ रोहिणीजातक।

१६. ललितविस्तर ४३१/१३।

१७. जातक भाग–१, पृष्ठ ४६८ सच्चकिरजातक ७३।

१८. बुद्धचरित १३/३५; जातक, भाग–१, पृष्ठ ४०१, पञ्चावुधजातक ५५।

इतिहाससम्मत वर्णन

इस अध्याय में अब तक राजनीति से सम्बद्ध जिन विषयों का वर्णन किया गया है उनसे स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध साहित्य में वर्णित ये सभी बातें इतिहाससम्मत हैं। अन्य ऐतिहासिक स्रोतों से भी यह प्रमाणित है कि बुद्धकाल से लेकर गुप्तकाल तक भारत में राजनीति का स्वरूप उत्तरोत्तर गणतन्त्रात्मक व्यवस्था से सुदृढ़ राजतन्त्रात्मक व्यवस्था की ओर अग्रसर होता गया। मौर्य-काल में बड़े साम्राज्य स्थापित करने की प्रवृत्ति तथा यूनानी शासकों द्वारा विश्व-विजय करने की लालसा के फलस्वरूप यूनान से लेकर भारत तक सैन्य शक्ति का निरन्तर उत्कर्ष होता रहा। सैन्य शक्ति के साथ साथ राजव्यवस्था एवं प्रशासन को सुदृढ़ एवं प्रोन्नत करने के लिये निरन्तर नये प्रयास होते रहे। आलोच्य काल की राजनीतिक गतिविधियों का चरमोत्कर्ष हमें गुप्त-काल में दिखायी पड़ता है जिसका उल्लेख बौद्ध साहित्य में अधिक नहीं हुआ।

अष्टम अध्याय

बौद्ध साहित्य में समाज की धार्मिक स्थिति

- सामान्य धर्म
- साम्प्रदायिक धर्म
- ब्राह्मण धर्म
- बौद्ध धर्म
  - चार आर्यसत्य
  - अष्टाङ्गिक मार्ग
  - शील, समाधि एवं प्रज्ञा का महत्त्व
  - प्रतीत्यसमुत्पाद
  - निर्वाण
- लोकधर्म

अष्टम अध्याय

बौद्ध साहित्य में समाज की धार्मिक स्थिति

'धर्म' का अर्थ— बौद्ध साहित्य में समाज की धार्मिक स्थिति का अध्ययन करने से पूर्व धर्म का स्वरूप समझ लेना आवश्यक है। भारत में 'धर्म' शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ में किया जाता रहा है। यह शब्द केवल 'मजहब' या अंग्रेजी के 'रिलीजन' शब्द का समानार्थक नहीं है। मजहब या रिलीजन साम्प्रदायिक विश्वासों और नियमों तथा उसके सङ्गठनात्मक स्वरूप का ही अर्थ व्यक्त करते हैं, जबकि 'धर्म' शब्द नैतिकता, कर्त्तव्य, आध्यात्मिक चेतना और साम्प्रदायिक सङ्गठन— सबका समाविष्ट अर्थ व्यक्त करता है। इस तरह भारत में धर्म का वैयक्तिक और सामूहिक, नैतिक और साम्प्रदायिक, सामाजिक और राजनीतिक—सभी क्षेत्रों पर व्यापक अधिकार है। यहाँ जीवन का कोई भी क्षेत्र धर्म की परिधि के बाहर नहीं माना गया है। इस प्रकार भारतीय दृष्टि से धर्म के तीन स्वरूप दिखायी पड़ते हैं—

(१) *सामान्य मानव धर्म*, जिसकी अभिव्यक्ति सदाचार और नैतिकता के रूप में होती है।

(२) *साम्प्रदायिक धर्म*, जिसका सञ्चालन किसी विशेष धर्मप्रवर्त्तक अथवा धर्मग्रन्थ द्वारा निर्दिष्ट नियमों के आधार पर होता है।

(३) *लोकधर्म* या *व्यावहारिक धर्म*, जिसके अन्तर्गत सामाजिक जीवन तथा घरेलू व्रत, उत्सव और लोकविश्वासों पर आधृत रीति-रिवाज एवं पूजा-पाठ तथा अन्धविश्वास आदि सभी कुछ आ जाते हैं।

धर्म के ये सभी रूप मनुष्य की श्रद्धा एवं बुद्धि द्वारा प्रदत्त उपहार (देन) है। श्रद्धा और विश्वास के विना धर्म का अस्तित्व नहीं रह सकता। भारतीय मान्यता के अनुसार मानव जीवन के चार पुरुषार्थों में मोक्ष के बाद सर्वाधिक महत्त्व धर्म का ही है। इसीलिये वैदिक काल से लेकर आज तक भारत में धर्म को ही जीवन के केन्द्र में प्रतिष्ठित किया जाता रहा है। यहाँ जब धर्म का ह्रास होता है तो कोई न कोई महान् पुरुष अथवा धर्म-प्रवर्त्तक उत्पन्न होकर अपने युगानुरूप उपदेशों द्वारा समाज को नये सिरे से धर्म-मार्ग पर ले जाने का प्रयास करता रहा है। राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, शङ्कराचार्य, नानक, कबीर आदि इसी प्रकार के महान् धार्मिक नेता थे, जिन्होंने अपने युग के समाज को नवीन धार्मिक चेतना से अनुप्राणित किया।

इस अध्याय में धर्म के इन्हीं तीन रूपों के आधार पर बौद्ध साहित्य में वर्णित समाज की धार्मिक स्थिति का अध्ययन किया जायगा।

(१) सामान्य धर्म

बौद्ध साहित्य में वर्णित समाज में सामान्य धर्म का स्वरूप— सामान्य धर्म किसी एक देश या एक काल की वस्तु नहीं। वह तो सार्वकालिक और सार्वदेशिक मानव धर्म है।

इसी को भारत में आर्य धर्म या सनातन धर्म कहा गया है। संसार के सभी मनुष्यों में नैतिकता और आचार के जो नियम सदैव से मान्य रहे हैं उन्हीं को भारत में वास्तविक धर्म कहा जाता रहा है। उन नियमों का विवरण स्मृतियों में इस प्रकार किया गया है—

घृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं, शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।[1]

(१) घृति (धैर्य), (२) क्षमा, (३) दम (संयम), (४) अस्तेय (चोरी न करना), (५) शुचिता (पवित्रता), (६) इन्द्रियनिग्रह, (७) धी (प्रज्ञा), (८) विद्या (ज्ञान), (९) सत्य एवं (१०) अक्रोध (क्रोध न करना)। धर्म के दस लक्षणों में अहिंसा, करुणा, प्रेम, अपरिग्रह, अनिन्दा, अद्वेष, विनम्रता आदि गुणों को जोड़कर इनकी सङ्ख्या और भी बढ़ाई जा सकती है। इन सबका सम्मिलित नाम 'शील' या 'सदाचार' है। शील के ये नियम ही मनुष्य को पशुभाव से ऊपर उठाकर वास्तविक मनुष्य बनाते हैं।

बौद्ध साहित्य का अनुशीलन करने पर हमें ज्ञात होता है कि उस काल में समाज का पर्याप्त नैतिक अधःपतन हो चुका था। वैदिक काल में समाज अत्यन्त सङ्गठित था जिसमें एक वर्ग केवल इसीलिये पृथक् बना दिया गया था कि वह समाज को नैतिकता और सदाचार के नियमों पर दृढ़तापूर्वक अग्रसर करता रहे। यह वर्ग था ब्राह्मण। इस धार्मिक चेतना के कारण ही उसे अग्रजन्मा और श्रेष्ठ माना गया था; किन्तु यही वर्ग कालान्तर में सामान्य धर्म का त्याग कर उत्तरोत्तर अभिमानी, स्वार्थी, लोभी, इन्द्रियपरायण और हिंस्र बन गया। ब्राह्मण समाज के अतिचार और निरंकुशता के कारण उत्तर वैदिक कालीन समाज में ब्राह्मणोत्तर वर्गों, विशेषतः क्षत्रियों में, विद्रोह की भावना उत्पन्न हुई; जिसके परिणामस्वरूप याज्ञिक कर्मकाण्डों के विरोध में उपनिषदों के ज्ञानकाण्ड का प्रारम्भ हुआ। इस आध्यात्मिक आन्दोलन का नेतृत्व विदेह (जनक) ने किया। विद्रोह की यह परम्परा उत्तरोत्तर अधिक व्यापक होती गयी, जिसकी चरम परिणति जैन और बौद्ध धर्म की अतिशय नैतिकता पूर्ण सिद्धान्तों के रूप में दिखायी पड़ती है। बौद्ध साहित्य में नैतिकता अर्थात् सामान्य मानव धर्म पर सबसे अधिक बल दिया गया है और तत्कालीन समाज के अनैतिकतापूर्ण वातावरण का दृढ़तापूर्वक खण्डन किया गया है।

बौद्ध साहित्य में सामान्य धर्म को आर्यधर्म, योग्य धर्म कहा गया है।[2] इसके अन्तर्गत प्राण–हिंसा, चोरी,कामभोग सम्बन्धी मिथ्याचार, झूठ बोलना, चुगलखोरी, कठोर भाषण, व्यर्थ बोलना, लोभ, द्वेष, मिथ्यादृष्टि आदि से विरत रहना होता है।[3] जिस व्यक्ति के अन्तर्गत उपर्युक्त बातें होती है, वह नरकगामी होता है।[4] तृष्णा से विरत रहने पर ज्यादा बल दिया गया है। जैसा कि संयुक्तनिकाय में मिलता है —

अहो! चिरकाल के बाद देखता हूँ,
ब्राह्मण को, जिसने निर्वाण पा लिया है;
जिसने बिना रुके और बिना प्रयास किये,
संसार की तृष्णा को पार कर लिया है।।[5]

उपर्युक्त उद्धरण में भगवान् बुद्ध एवं देवता के संवाद से स्पष्ट होता है कि तृष्णा

---

१. मनुस्मृति ६/९२।
२. अङ्गुत्तरनिकाय, चतुर्थ भाग, पृष्ठ ३०५–३०८।
३. अङ्गुत्तरनिकाय, भाग–४, पृष्ठ ३०५।
४. वही, पृष्ठ ३१३।
५. संयुत्तनिकाय, भाग–१, पृष्ठ–१।

हितकर नहीं है। तृष्णा का त्याग मानव को ऊँचा उठाता है। तृष्णा एक बन्धन है, उससे मुक्त होने ही श्रेयस्कर है।[1] महद्धनसुत्त में भी तृष्णा के त्याग की बात कही गयी है।[2] तृष्णा छह प्रकार की होती है– रूपतृष्णा, शब्दतृष्णा, गन्धतृष्णा, रसतृष्णा, स्पर्शतृष्णा और धर्मतृष्णा।[3] तृष्णा, अरति और एवं रति मार की तीन पुत्रियां हैं।[4] इससे स्पष्ट होता है कि मनुष्य के लिये मार (काम) जितना कष्टप्रद है उससे कम तृष्णा नहीं।[5] तृष्णा दुःख का मूल है।[6]

हिंसा समाज के लिये घातक है चाहे वह पशुहिंसा हो अथवा मानवहिंसा। बौद्ध साहित्य में समाज में व्याप्त हिंसा को रोकने पर विशेष बल दिया गया है। साथ ही साथ सभी जीवों के प्रति प्रेमभाव रखने की बात कही गयी है। भगवान् बुद्ध यक्ष से कहते हैं कि "वही श्रेष्ठ है जो स्मृतिमान् है, वह वैर से सर्वथा छूट नहीं जाता। जिसका मन दिन–रात अहिंसा में लगा रहता है। सभी जीवों के प्रति जो सदा मैत्री भावना करता रहता है। उसका किसी के साथ बैर नहीं रह जाता।"[7]

अहिंसा का आयुध के रूप में प्रयोग किया गया है। यह स्पष्ट करता है कि मानव के उस समय हिंसा को ही हथियार के रूप में वरण किया गया था। बौद्ध साहित्य में उसे अहितकर कहते हुए अहिंसा को श्रेष्ठ आयुध बताया गया है। श्रद्धा, प्रज्ञा, ह्री, स्मृति, शील, ध्यान, वीर्य, अहिंसा, विवेक को अधिक महत्त्व दिया गया है। धर्मयान के साथ इनका सुन्दर रूपक प्रस्तुत किया गया है, जो निम्नलिखित है–

"जिसकी धुरी में श्रद्धा, प्रज्ञा और धर्म सदा जुते रहते हैं,
ह्री ईषा, मन लगाम, और स्मृति सावधान सारथी हैं ॥ १ ॥
शील के साजवाला रथ, ध्यान अक्ष, वीर्य चक्र,
उपेक्षा समाधि धुरी, अनित्य बुद्धि ढक्कन ॥ २ ॥
अव्यापार, अहिंसा, और विवेक जिसके आयुध हैं,
तितिक्षा सन्नद्ध वर्म (कवच) है, जो रक्षा के निमित्त लगा है॥ ३ ॥
इस ब्रह्मयान को अपनाकर,
धीर पुरुष इस संसार से निकल जाते हैं,
यह उनकी परम विजय है" ॥ ४ ॥[8]

इससे यह विदित होता है कि सामन्य जीवन में श्रद्धा, शील, प्रज्ञा, अहिंसा, विवेक आदि का विशेष महत्त्व था। मैथुन, चोरी एवं प्राणिहत्या को महत्त्व नहीं दिया गया।[9]

दान, सत्य और संयम की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए भगवान् बुद्ध कहते हैं कि– "हे ग्रामणी! जो बड़े धनी और सम्पत्तिशाली कुल है यह उनके दान, सत्य और संयम का ही फल है।"[10] संयमी व्यक्ति रूप के प्रति आकृष्ट नहीं होता। अप्रिय रूप को

---

१. संयुत्तनिकाय, भाग–१, पृष्ठ ९, द्वितीय भाग, पृष्ठ ४६८, ५०८, ५६१, ६४७।
२. वही, पृष्ठ १७।
३. वही, पृष्ठ १९४।
४. वही, पृष्ठ १०५–१०६।
५. मज्झिमनिकाय, पृष्ठ १५६।
६. संयुत्तनिकाय, भाग–२, पृष्ठ ५८७।
७. संयुत्तनिकाय, भाग–१, पृष्ठ १६६।
८. संयुत्तनिकाय, भाग–२, पृष्ठ ६२१; जातक भाग–६, महानारदकाश्यप जातक, पृष्ठ २९१–९२।
९. विनयपिटक, अनुवादक–राहुल सांकृत्यायन, पृष्ठ ४३।
१०. संयुत्तनिकाय, भाग–२, पृष्ठ ५८६।

देखकर खिन्न नहीं होता। आत्मचिन्तन करते हुए अप्रमत्त चित्त से साधना करता है। वह चेतोविमुक्ति और प्रज्ञाविमुक्ति को यथार्थतः जानता है।[१] इन्द्रियों में संयत, भोजन में मात्रा का जानने वाला और जागरणशील व्यक्ति अधिक आनन्द प्राप्त करता है।[२] चित्त का जो संयम करते हैं वे मार के बन्धनों से मुक्त होते हैं।[३]

सज्जन व्यक्तियों के सम्मान के सन्दर्भ में कहा गया है कि–''जो निवृत्त हुए हैं और सर्वथा निर्भय हुए हैं ऐसे पुरुषों की पूजा करने वाले के पुण्य की मात्रा को आँकना किसी के लिये भी सम्भव नहीं है।''[४] इससे स्पष्ट है कि सज्जन व्यक्ति सर्वत्र पूजित होता है; क्योंकि वह श्रद्धा और शील से युक्त होता है।[५] जो अभिवादनशील है, जो सदा वृद्धों की सेवा करते हैं उनकी चार बातें– आयु, वर्ण, सुख और बल बढ़ते हैं।[६] जो व्यक्ति सज्जन व्यक्तियों को देखकर नमस्कार करते हैं और उनके अनुगामी हो जाते हैं वे इस संसार में प्रशंसा के पात्र होते हैं और मरने के बाद स्वर्ग प्राप्त करते हैं। जो लोग विद्वान् हैं और विभिन्न विषयों पर चिन्तन कर चुके हैं उनकी सेवा करनी चाहिये।[७] इस स्थिति में समाज उस समय के महर्षियों के सन्निकट आ सकता था।

सत्पुरुषों की सङ्गति सभी दुःखों से छुटकारा दिला देती है। भगवान् बुद्ध ने शिव देवपुत्र को यह बताया कि–

''सत्पुरुषों के ही साथ रहे, सत्पुरुषों के ही साथ मिले जुले।
सन्तों के ऊँचे धर्म को जान सभी दुःखों से छूट जाता है।''[८]

इस प्रकार सन्तों की सङ्गति को ही श्रेष्ठ बताया गया है।

बौद्ध साहित्य में सद्भावनाओं का अत्यधिक प्रचार किया गया है। सभी सांसारिक भोग–विलासों से दूर रहने के लिये सामान्य रूप से कहा गया है। गौतम बुद्ध ने यह बताया कि ''इस संसार में बैर से बैर कभी शान्त नहीं होता, अबैर से ही बैर शान्त होता है। यही सनातन धर्म है।''[९] यह बात वैदिक साहित्य में भी कही गयी है–''अक्रोध से क्रोध को जीतो, बुराई को भलाई से जीतो, दान से कृपणता को जीतो, सत्य से झूठ को जीतो।[१०] कठोर न बोलो, बदले में भी कठोर न बोलो, क्रोध–वचन दुःखदायी है तुम्हें प्रतिदण्ड मिलेगा।''[११] प्राणियों की हिंसा करने से कोई आर्य नहीं होता। आर्य तो प्राणिमात्र की अहिंसा से ही कहा जाता है।[१२] इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध साहित्य में सद्भावना

१. संयुत्तनिकाय, भाग–२, पृष्ठ ५२१।
२. संयुत्तनिकाय, भाग–२, पृष्ठ ५२३, ५२०।
३. धम्मपद, नवसंहिता, विनोबा भावे, पृष्ठ ६१।
४. वही, पृष्ठ २१।
५. वही, पृष्ठ २१।
६. धम्मपद, पृष्ठ २७।
'अभिवादनसीलस्स निच्चं वुद्धापचायिनो।
चत्तारो धम्मा वड्ढन्ति आयु वण्णो सुखं बलं।
७. जातक, भाग–३, धजविहेठजातक ३९१।
८. संयुत्तनिकाय, पृष्ठ ५१।
९. विनोबाभावे, धम्मपद नवसंहिता, पृष्ठ २।
'नहि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनं।
अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो।।''
१०. वही, पृष्ठ ७। *११. वही, पृष्ठ ९।*
१२. विनोबा भावे, धम्मपद नवसंहिता, पृष्ठ ९।

को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। ककचूपमसुत्त में भगवान् फग्गुण से कहते हैं कि ''हे फग्गुण! तुझे इस प्रकार सीखना चाहिये– 'मेरे चित्त में विकार नहीं आने पायगा, दुर्वचन मैं मुँह से नहीं निकालूँगा, द्वेषरहित होकर मैत्री भाव से हित और अनुकम्पक हो विहरूँगा।''[१] वास्तव में तत्कालीन समग्र भारत इस प्रकार की सद्भाव–सरिता में अवगाहन कर रहा था। प्रायः इन्हीं शब्दों में इन विचारों को महाभारत में भी देखा जा सकता है।

व्यक्तित्व के विकास के लिये ज्ञान और आचार दोनों को महत्त्वपूर्ण माना गया है। ज्ञान के द्वारा मानव यशस्वी होता है और सदाचार से शान्ति पाता है। जैसा कि सेतुकेतुजातक में कहा गया है कि–''वेद निष्फल नहीं होते, संयमसहित आचरण भी सत्य है। वेद पढ़ने से कीर्ति की प्राप्ति होती है। संयत आदमी आचरण से शक्ति पद को प्राप्त होता है।''[२] मनुष्य यदि आलसी और अनुद्यमी है तो उसका सौ साल के जीवन से अपेक्षाकृत दृढ़ उद्यमशील होकर एक दिन जीना भी श्रेष्ठ है।''[३] ''उद्योगी गृहस्थ ही श्रेष्ठ है, गृहस्थ कामभोगी आलसी पुरुष अच्छा नहीं होता।''[४] इस प्रकार उद्योगी धर्म से धन खोजने वाला, अभिमान न करने वाला, स्थिर प्रेम वाला, अकेला भोजन न करने वाला, प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सज्जन पुरुषों की हंसी न उड़ाने वाला एवं जैसा कहता है वैसा करने वाला अर्थात् कथनी और करनी में अन्तर न करने वाला व्यक्ति ही दुनिया के अलभ्य वस्तु को भी प्राप्त कर सकता है।[५]

दान का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए भगवान् बुद्ध के सम्मुख साधुसुत्त में विभिन्न देवताओं ने विभिन्न उदानों में कहा कि 'दानकर्म बहुत उत्तम है, उसमें श्रद्धा से दिया गया दान श्रेष्ठ है।''[६] मनुष्य को कृपण (कंजूस) नहीं बनना चाहिये। ''पाप के निवारण के लिये पुण कर्म में दान करें; क्योंकि परलोक में स्वकृत कर्म ही आधार होता है।[७] दान के सम्बन्ध में भगवान् बुद्ध कहते हैं कि अन्न देने वाला बल देता है। वस्तु देनेवाला वर्ण देता है, वाहन देने वाला सुख देता है, प्रदीप देने वाला आँख देता है और अमृत देनेवाला तो वह होता है जो एक बार भी धर्म का उपदेश दे दे।[८]

बौद्ध साहित्य में भी विभिन्न धर्मों के आदर की बात कही गयी है। विग्रह में पड़कर जो दूसरे के धर्म को स्थान नहीं देता वह मूर्ख, पशु, प्रज्ञाहीन बनाया जाता है। भगवान् बुद्ध का कहना है कि ''मैं यह नहीं कहता कि यही सत्य है, जिस बात को लेकर एक दूसरे को मूर्ख बताते हैं वह अपनी अपनी दृष्टि को सत्य सिद्ध करते हैं और एक दूसरे को मूर्ख बताते हैं''।[९] भगवान् बुद्ध साम्प्रदायिकता को रोकने के लिये कहते हैं कि ''सत्य एक ही है दूसरा नहीं, जिसके विषय में मनुष्य से विवाद करे। वे नाना सत्यों की प्रशंसा करते हैं। और अपनी दृष्टि के दृढ़ग्राही की अपेक्षा दूसरे को मूर्ख बताते हैं। दूसरे धर्म को

१. *मज्झिमनिकाय, ककचूपम सुत्त, पृष्ठ ८०।*
२. *जातक, भाग–३, पृष्ठ ३९६–९७।*
३. *विनोबा भावे, धम्मपद नवसंहिता, पृष्ठ ११।*
४. *जातक, भाग–३, रथलड्ड जातक, पृष्ठ २७१।*
५. *जातक, भाग–३, सक्कार जातक, पृष्ठ २५५ 'यथावादी तथाकारी'।*
६. *संयुत्तनिकाय, भाग–१, पृष्ठ २२; सुत्तनिपात, पृष्ठ ९९।*
७. *वही, पृष्ठ २०।*
८. *वही, पृष्ठ २१।*
९. *सुत्तनिपात, पृष्ठ १९१, दीघनिकाय, पृष्ठ ८३।*

मूर्ख और अशुद्ध बताने वाला वह स्वयं कलह का आह्वान करता है।"[1] "जो किसी वाद में आसक्त है वह शुद्धि प्राप्त नहीं होता; क्योंकि वह किसी दृष्टि को मानता है। मनुष्य जिसमें आसक्त है उसी को शुभ बताता है और जिसे शुभ बताता है उसे सत्य मानता है। मुनि इस संसार में ग्रन्थियाँ त्यागकर वादों में पक्षपाती नहीं होता।[2]

भगवान् बुद्ध अग्निक भारद्वाज को कुछ सामान्य धर्मों का उपदेश करते हुए कहते हैं—"जो मनुष्य क्रोधी एवं वैरी है, पापी या ईर्ष्यालु है, मिथ्या मतधारी एवं मायावी है, हिंसा करने वाला है, अत्याचारी है, दूसरों की सम्पत्ति चुराने वाला, ऋण लेकर न देने वाला, पराये धन की इच्छा से मिथ्या साक्षी देने वाला, बलपूर्वक या प्रेमभाव से बन्धुओं या मित्रों की दाराओं के साथ रमण करने वाला, समर्थ होने पर भी वृद्ध माता पिता की सेवा न करने वाला, माता पिता या भाई–बहन को सताने वाला, अर्थकारी बात पूछने पर अनर्थकारी बात बताने वाला, पाप कर्म करते हुए भी यह इच्छा करने वाला कि दूसरे हमें न जाने, दूसरे के घर जाकर स्वादिष्ठ भोजन करके उसके अपने यहाँ आने पर उसका स्वागत न करने वाला है, आये हुए अतिथियों को भोजन न कराने वाला या अपनी बड़ाई करने वाला है, तथा सज्जन व्यक्तियों की निन्दा करने वाला एवं ज्ञानी न होने पर भी स्वयं को ज्ञानी कहने वाला है—ऐसे व्यक्ति को 'वृषल' मानो।"[3] इसे स्पष्ट होता है कि मनुष्य किस तरह से ऊँचा उठ सकता है और आदर्शों को स्थापित कर सकता है। बौद्ध साहित्य में सामान्य धर्म पर विशेष चर्चा की गयी है। भगवान् बुद्ध का यह मत है कि ज्ञान या शीलव्रत के विषय में किसी प्रकार का मत कल्पित नहीं करना चाहिये और न अपने को दूसरों के समान, न उनसे नीच या श्रेष्ठ समझना चाहिये।[4]

यह जीवन लघु है। मनुष्य जिसे अपनाता है उसे अन्तिम समय में त्याग देता है। जो देखे और सुने जाते हैं उन्हीं की चर्चा होती है। मृत मनुष्य का नाममात्र अवशिष्ट रह जाता है। इसलिये शोक, विलाप और कंजूसी, परिग्रह छोड़, कामनारहित होकर जल में कमलनाल की तरह इस संसार में विचरण करे।[5]

बौद्ध साहित्य में सामान्य जन को सुखमय जीवन व्यतीत करने के लिये जीवहिंसा, बन्धन, चोरी, असत्य, धोखाबाजी, ठगी, निरर्थक अध्ययन, परस्त्रीगमन, कठोर, वचन, चुगुलखोरी, द्रोह, निर्दयता, अतिमान, आदानशील, क्रोध, मद, ढिठाई, विरोध, माया, ईर्ष्या, आत्मप्रशंसा, मानातिमान, दुष्टों की सङ्गति, 'ऋण न अदा करने वाला', 'कपटी', ढोंगी आदि संज्ञाओं से वंचित रहने का उपदेश दिया गया है।[6] मित्रता के सम्बन्ध में यह बताया गया है कि निर्लज्ज व्यवहार करने वाला, आन्तरिक घृणा भाव रखने वाला। सार्थक बात भी न करने वाला जो अपने को मित्र बताता है उसके विषय में यह समझना चाहिये कि—"ये मेरा मित्र नहीं है, जो ऊपर से मित्रता दिखाने की चष्टा करता है किन्तु विरोध की सदा शङ्का करता है और छिद्रान्वेषी है वह मित्र नहीं। मित्र तो वह है जो माता की गोद में सोये पुत्र की तरह विश्वास और प्रेम करने वाला हो और जिससे कोई भेद न करा सके।

---

१. *सुत्तनिपात, पृष्ठ १९३।*
२. *सुत्तनिपात, पृष्ठ १९७।*
३. *सुत्तनिपात, वसलसुत्त, पृष्ठ २५–२७।*
४. *सुत्तनिपात, परमट्ठसुत्त, पृष्ठ १७५।*
५. *सुत्तनिपात, जरासुत्त, पृष्ठ १७७।*
६. *सुत्तनिपात, आमगन्धसुत्त, पृष्ठ ४८–४९।*

वह मनुष्योचित कार्य का करने वाला सपरिणाम इच्छा करके पराक्रम से बृद्धि करता है। जो कि प्रसन्नता, प्रशंसा और सुख देने वाला है।''[1] इस प्रकार अच्छे मित्र के सम्बन्ध में उपर्युक्त बातें बतायी गयी हैं।

सामान्य धर्म समाज के प्रत्येक व्यक्ति को शील सम्पन्न बनाता है और विशेष रूप से सामाजिक नियन्त्रण का कार्य करता है। जैसे—माता पिता की सेवा करना, पुत्र एवं स्त्री का पालन पोषण करना, बहुश्रुत होना, शिल्प सीखना, शिष्ट होना, सुशिक्षित होना, सुभाषण करना, दान देना, धर्माचरण करना, बन्धु—बान्धव का आदर सत्कार करना, निर्दोष कार्य करना, नम्र होना, सन्तुष्ट रहना, कृतज्ञ रहना, क्षमासम्पन्न होना, आज्ञाकारी होना।[2] ये कार्य समाज में सदा सर्वत्र सर्वथा उचित हैं और अपने देश की संस्कृति में इनको महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इन्हीं कार्यों पर गौतम बुद्ध अथवा उनके शिष्यों द्वारा समाज में सुव्यवस्था लाने के लिये विशेष बल दिया गया था।

बौद्ध साहित्य में वर्णित मानव—आचार उसके पूर्व के धर्म ग्रन्थों में भी प्राप्त होते हैं और उसके बाद के धर्मग्रन्थों तथा आज के जीवन की पद्धति में भी किसी न किसी रूप में जैसे—सत्य, अहिंसा, सत्याग्रह, सेवा आदि प्राप्त होते हैं। इससे लगता है कि यह सामान्य धर्म संस्कृति का ही दूसरा रूप है जो कि सृष्टि के आदि काल से लेकर आज तक मानव की जीवनपद्धति का सम्बल बना हुआ है। और इन्हीं सामान्य आचारों से ही किसी देश या समाज की संस्कृति का आकलन किया जा सकता है। यह सामान्य धर्म मानव समाज का मेरुदण्ड है। इसलिये भगवान् बुद्ध जो कि एक क्रान्तिकारी विचारक, नेतृत्वकर्त्ता एवं समाजसुधारक थे, उन्होंने विशेष रूप से समाज में व्याप्त बुराइयों को दूर करने के लिये सामान्य धर्म पर बल दिया। और कहा— ''जो विद्या और आचरण से युक्त हैं, वही मनुष्य श्रेष्ठ है।''[3] ''मनुष्य को आत्मद्वीप (आत्मशरण अथवा स्वावलम्बी) होना चाहिये।''[4] इस प्रकार बौद्ध साहित्य में सामान्य धर्म का विशद विवेचन किया गया है।

साम्प्रदायिक धर्म

साम्प्रदायिक धर्म का तात्पर्य धर्म के उस विशिष्ट रूप से है, जिसे अंग्रेजी में रिलीजन एवं उर्दू में मजहब कहा जाता है। भारत में उसे प्रारम्भ से ही सम्प्रदाय की संज्ञा दी गयी है। भारतीय संस्कृति में मान्य सामान्य धर्म को ही धर्म और विशिष्ट धर्म को सम्प्रदाय—धर्म कहा जाता है। सामान्य धर्म सभी सम्प्रदायों एवं देशों के लोगों के लिये मान्य होता है, किन्तु विशिष्ट धर्म या सम्प्रदाय किसी एक आराध्य देवता और सम्प्रदाय के प्रवर्तक में विश्वास करता है और उस सम्प्रदाय में मान्य पूजा—पद्धति और आचारसम्बन्धी नियमों के आधार पर उसका सङ्गठन होता है। इस तरह वैदिक अथवा ब्राह्मण धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म, शैव, वैष्णव, शाक्त आदि सभी विशिष्ट धर्म या सम्प्रदाय हैं।

वैदिक युग में भी इन्द्र, वरुण, अग्नि, रुद्र, मित्र आदि के उपासकों के पृथक् पृथक् सम्प्रदाय थे। परवर्तीकाल में सम्प्रदाय के प्रवर्त्तकों ने विभिन्न सङ्घों का सङ्गठन किया। इस तरह बौद्ध और जैन सङ्घ निर्मित हुए जिनमें अपने अपने विशिष्ट आचार और

१. *सुत्तनिपात, हिरिसुत्त, पृष्ठ ५१।*
२. *वही, महामङ्गलसुत्त, पृष्ठ ५२, ५३।*
३. *दीघनिकाय, अम्बट्ठसुत्त, पृष्ठ ३९–४०।*
४. *दीघनिकाय, चक्कवत्ति सीहनादसुत्त, पृष्ठ २३३।*

जीवनविधि सम्बन्धी नियम निर्धारित किये गये। जो नास्तिक सम्प्रदाय थे उनमें परोक्ष शक्ति या ईश्वर अथवा अन्य किसी देवता को नहीं माना गया, किन्तु उन सम्प्रदायों के प्रवर्तकों को ही बाद में भगवान् का अवतार मान लिया गया। इस प्रकार गौतम बुद्ध और महावीर, बौद्धों और जैनों द्वारा भगवान् ही माने जाते हैं। शैव सम्प्रदाय में शिव को ही भगवान् माना जाता है। भागवत धर्म में विष्णु और उनके अवतारों को ईश्वर माना गया और वैष्णवों के विभिन्न सम्प्रदायों में राम और कृष्ण को भगवान् मान कर पृथक् पृथक् सम्प्रदाय सङ्गठित किये गये। इसी तरह निर्गुण मतवादियों ने निराकार ब्रह्म को आराध्य माना, किन्तु उपासनापद्धति की भिन्नता के कारण उनके स्वतन्त्र सम्प्रदाय और पन्थ बन गये; जैसे—सिक्ख सम्प्रदाय, नानकपन्थ, दादूपन्थ, कबीरपन्थ, नाथ सम्प्रदाय आदि। बौद्ध काल के पूर्व तथा बौद्ध साहित्य के काल में भी इसी प्रकार के विशिष्ट धर्म एवं सम्प्रदाय प्रचलित थे।

वैदिक काल में तो यज्ञों में विभिन्न देवताओं की तुष्टि के लिये यज्ञ किये जाते थे, किन्तु उत्तर वैदिक काल में वेदों के ज्ञान काण्ड को आधार बनाकर उपनिषदों में ब्रह्मवाद की स्थापना की गयी। इस तरह यज्ञवादियों अथवा कर्मकाण्डियों तथा ब्रह्मवादियों अथवा ज्ञानकाण्डियों के विभिन्न क्षेत्र बन गये। यज्ञ आदि के लिये पौरोहित्य का समस्त कार्य ब्राह्मण ही करते थे, इसलिये उनके कर्मकाण्ड को ब्राह्मण धर्म कहा जाने गला। उपनिषत्काल के बाद ज्ञानकाण्डियों का विकास नास्तिक सम्प्रदायों के रूप में हुआ जो यज्ञ आदि के कर्मकाण्डों के विरोधी थे। वे वेदप्रामाण्य नहीं स्वीकार करते थे। इनको श्रमण और उनके धर्म को श्रमणधर्म कहा जाने लगा।

ब्राह्मण धर्म

ब्राह्मण धर्म के उद्भव और विकास के सम्बन्ध में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता परन्तु आरण्यक, उपनिषद, धर्मसूत्र, गौतम धर्मसूत्र, बौधायन धर्मसूत्र एवं वाशिष्ठ धर्मसूत्र आदि विशिष्ट धर्मग्रन्थों में इसका पूर्ण विवरण उपलब्ध होता है। यह धर्म बाद में चलकर ब्राह्मणों के अधीन हो गया। बौद्ध साहित्य एवं जैन साहित्य में इसका उल्लेख आंशिक रूप से प्राप्त होता है। बौद्धधर्म एवं जैनधर्म ने इसके विरोध में अपने मतों को प्रतिपादित किया है। जहाँ कहीं बौद्ध साहित्य में जातिव्यवस्था, यज्ञ, देवोपासना आदि का खण्डन किया गया है, वहीं ब्राह्मण धर्म के विषय में पता चलता है।

बौद्ध साहित्य के अनुसार वैदिक धर्म अथवा विशिष्ट ब्राह्मण धर्म यज्ञप्रधान था और इसका सम्पादन इस युग के ब्राह्मण करते थे। कापर्धिक माणवक ने भगवान् से पूछा— ''भो गौतम! जो यह ब्राह्मणों का पुराना मन्त्रपद (वेद) इस परम्परा से, पिटक–सम्प्रदाय से है, उसमें ब्राह्मण पूर्ण रूप से निष्ठा रखते हैं— 'यही सत्य है और सब झूठ।' इस विषय में आप गौतम क्या कहते हैं?'' ''क्या भारद्वाज! ब्राह्मणों में एक भी ब्राह्मण है, जो कहे कि मैं इसे जानता हूँ, इसे देखता हूँ, यही सत्य है और सब मिथ्या है?[१] इस उद्धरण में यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि वेद उस काल का मुख्य ग्रन्थ था[२], परन्तु तत्कालीन ब्राह्मणवर्ग उसे सही रूप में न समझकर अन्धविश्वासों को उत्पन्न कर रहा था।

बौधायन धर्मसूत्र में ब्राह्मण धर्म के तीन स्वरूपों का उल्लेख मिलता है— श्रोत,

---

१. मज्झिमनिकाय, चंकि सुत्त, पृष्ठ ३९९।

२. वही, ब्रह्मायु सुत्त, पृष्ठ ३७७।

स्मार्त एवं शिष्टाचार।[1] इनमें से श्रौत वैदिक साहित्य मे यज्ञादि का विवेचन करता है। स्मार्त स्मृतियों में प्रतिपादित वर्णाश्रम का निरूपण करता है और शिष्टाचार सामान्य धर्म है, जो किसी सुसंस्कृत समाज में सम्मानित व्यक्तियों के पारस्परिक व्यवहार में परिलक्षित होता है। श्रौत यज्ञ में सोमयज्ञ एवं हविर्यज्ञ आता है। इन यज्ञों का अत्यधिक महत्त्व था, अतः इनके सम्पादन के लिये विविध प्रकार के नियम बने हुए थे। ये लोग अनेक प्रकार के यज्ञ करते थे, जैसे अश्वमेध यज्ञ, पुरुषमध यज्ञ, सम्मापास यज्ञ, वाजपेय यज्ञ[2] आदि। यज्ञों में यूप का गड़वाना, अग्नि का लाना महाफलदायक माना जाता था।[3] यज्ञ का अत्यधिक महत्त्व था। यज्ञ करने वाले अलभ्य वस्तु को भी प्राप्त करते थे। प्रसेनजीत[4], कूटदन्त, महाविजित के महायज्ञों का वर्णन मिलता है।[5] जिसमें भेड़, बकरी, बछड़े, बैल, सूअर, घोड़े, हाथी आदि पशुओं की बलि दी जाती थी। लोहकुम्भिजातक में ब्राह्मणों ने सर्वचतुष्क यज्ञ करने के लिये चार हाथी, चार घोड़े, चार बैल, चार आदमी, चार तीतर जीवों को लेकर यज्ञकुण्ड तैयार किये।[6] इससे स्पष्ट होता है कि यज्ञों में पशुओं का वध विशेष रूप से प्रारम्भ हो गया था। यज्ञ कराने के बाद ब्राह्मणों को गौ, शय्या, वस्त्र, समलङ्कृत स्त्रियाँ, उत्तम घोड़े, जूते हुए सुसज्जित बेल–बूटेदार रथ, धन–धान्य भरे हुए भवन दक्षिणा के रूप में दिये जाते थे।

बौद्ध साहित्य में असित[7], अष्टक[8], वामक[9], यमदग्नि, विश्वामित्र, भृगु, वशिष्ठ[10], वामदेव, अंगीरा, भारद्वाज, कश्यप आदि प्राचीन ऋषियों के नाम मिलते हैं।[11] जो त्रैविद्य ब्राह्मणों के पूर्वज मन्त्रों के कर्त्ता मन्त्रों के प्रवक्ता ऋषि थे जिनके गीत, प्रोक्त, समीहित पुराने मन्त्र पद का येत्रैविद्य ब्राह्मण अनुभाषण एवं अनुगान करते थे। इससे स्पष्ट होता है कि ब्राह्मण वर्ण का एक समुदाय श्रद्धापूर्वक वैदिक धार्मिक परम्परा का अनुगमन कर रहा था।

प्रमुख देव– ब्राह्मण धर्मानुयायी देवपूजक थे। इन्द्र, सोम, वरुण, भारद्वाज, प्रजापति, चन्दन, काम, श्रेष्ठ, घन्डु, निर्घन्डु, उशान, ब्रह्म आदि इनके उपास्य थे।[12] दीघनिकाय में विभिन्न देवताओं का वर्णन प्राप्त होता है। जिसमें विशेष रूप से इन्द्र, वरुण, शक्र, वासव, वसु, सहधम्म, हरि, पारग, महापारग, सक्क, करम्भ, अरुण, मिस्सक, याम, परिनिम्मित, सुब्रह्मा, परमत्थ, सनत्कुमार, वशवर्ती, हारित आदि विभिन्न देवताओं का उल्लेख है। इनका निवासस्थान भी बतलाया गया है।[13] इन देवताओं में ब्रह्मा का स्थान

१. *बौधायन धर्मसूत्र १/१–४।*
२. *संयुत्तनिकाय, भाग–१, पृष्ठ ७३; सुत्तनिपात, पृष्ठ ६०–६१।*
३. *अङ्गुत्तरनिकाय भाग–३, पृ॰ १६८–६९।*
४. *संयुत्तनिकाय, भाग–१, पृष्ठ ७२।*
५. *दीघनिकाय, पृष्ठ ५१।*
६. *जातक, भाग–३, लोहकुम्भिजातक, पृष्ठ २१३–१४।*
७. *सुत्तनिपात, पृष्ठ १४९।*
८. *मज्झिमनिकाय, पृष्ठ ३९८।*
९. *मज्झिमनिकाय, पृष्ठ ३९८।*
१०. *दीघनिकाय, पृष्ठ ४१, ८७।*
११. *दीघनिकाय, पृष्ठ ८७।*
१२. *दीघनिकाय, पृष्ठ २८०, ८६।*
१३. *दीघनिकाय, पृष्ठ १७८–१८०।*

विशेष महत्त्वपूर्ण है। इन्द्र उस समय के अत्यधिक लोकप्रिय देव हैं। इन्द्र को शक्र, मघवा नाम से भी जाना जाता है। इन्द्र सहस्र नेत्र वाले देवता हैं।[1] ये कष्टों को निवारण करने वाले तथा पापियों को दण्ड देने वाले हैं।[2] बौद्ध साहित्य में इन्द्र का विशेष विवरण प्राप्त होता है इनके अलावा सूर्य, चन्द्रमा, श्री आदि की भी पूजा का भी उल्लेख मिलता है।[3] ये देवता कल्याण के देवता हैं।

बौद्ध साहित्य के अध्ययन से यह भी पता चलता है कि ब्राह्मण धर्म में स्नान का विशेष महत्त्व था। स्नान से पाप की मुक्ति होती थी। जैसा कि 'थेरीगाथा' में आया है–

''ब्राह्मण तू किससे भयभीत होकर इस कड़ी सर्दी में गहरी नदी में उतरता है और कांपते हुए शरीर से निरन्तर पीड़ा सहता है?''

''पूर्णिके! तू जानती हुई भी मुझसे कारण पूछती है। क्या तू नहीं जानती कि मैं पाप–कर्मों के फल का अवरोध करने के लिये यह पुण्य कर्म करता हूँ? जो भी अशुभ कर्म युवा या वृद्ध मनुष्य करता है, स्नानशुद्धि से वह उन सबसे मुक्त हो जाता है।[4]

इससे स्पष्ट होता है कि ब्राह्मण धर्म में शुचिता का विशेष महत्त्व था। ब्राह्मण सम्प्रदाय के लोग ब्रह्मा को प्रतिदिन आहुति दिया करते थे। संयुत्तनिकाय में मिलता है–

''ब्राह्मणी! यहाँ से ब्रह्मलोक दूर है, जिसके लिये प्रतिदिन आहुति दे रही हो,

हे ब्राह्मणी! ब्रह्मा का तो यह भोजन भी नहीं है, ब्रह्ममार्ग को विना जाने क्यों भटक रही है?''[5]

इस उद्धरण से यह ज्ञात होता है कि बौद्ध काल में ब्राह्मण धर्म में ब्रह्मा की श्रेष्ठता अधिक मानी गयी थी। उनको आहुति दी जाती थी जिससे वे प्रसन्न हों। इस प्रकार ब्राह्मण धर्म में पूजा–पाठ, कठिन तपस्या एवं यज्ञ का विशेष महत्त्व था। वे शुद्धि का अत्यधिक ध्यान रखते थे।[6] ब्राह्मण सम्प्रदाय में वैदिक कर्मकाण्डों का विशेष महत्त्व था क्योंकि भूरिदत्तजातक में यह कहा गया है कि–''यह वेदत्रय मृगमरीचिका के समान है। सत्यासत्य का विवेक न करने से मूर्ख इन्हें सत्य मान लेते हैं।''[7]

ब्राह्मण धर्म में वेद को अपौरुषेय एवं आप्त प्रमाण माना जाता था एवं यज्ञ स्वर्गप्राप्ति का साधन था। उन यज्ञों तथा वेदों के ज्ञान से युक्त ब्राह्मण ही श्रेष्ठ होता था।[8] वर्ण के सम्बन्ध में इनकी अवधारणा यही थी कि ब्रह्मा ने ब्राह्मणों को अध्ययन के लिये, क्षत्रियों को राज्य जीतने के लिये, वैश्यों को कृषि करने के लिये तथा शूद्रों को इन तीन वर्णों की सेवा करने के लिये बनाया है।[9] भूरिदत्त जातक में प्राप्त प्रसङ्गों से ब्राह्मण धर्म की मान्यताओं एवं क्रियाकलापों पर विशेष प्रकाश पड़ता है।

तापस सम्प्रदाय– प्राचीन काल में व्यक्ति के पूरे जीवन को चार आश्रमों में

---

१. सुत्तनिपात, पृष्ठ ६९; जातक भाग–६, भूरिदत्त जातक, पृष्ठ २०७।

२. दधिवाहनजातक १८६, स्वरिपुत्त जातक ३८६, जातक ४०९।

३. मज्झिमनिकाय, पृष्ठ ५०१, ५०२, २५१, ५००, २०१, ४९९; संयुत्तनिकाय, उपचालासुत्त, पृष्ठ १११।

४. थेरीगाथा, वारहवाँ वर्ग ६५, पृष्ठ ८७।

५. संयुत्तनिकाय, ब्रह्मदेवसुत्त, पृष्ठ ११७।

६. वही, सुन्दरिकसुत्त, पृष्ठ १३५।

७. वही, भाग–६, पृष्ठ २४४ (भूरिदत्त जातक)।

८. वही, पृष्ठ २३७।

९. वही, भाग–६, भूरिदत्त जातक, पृष्ठ २३७

विभक्त कर दिया गया था। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास। संन्यास आश्रम आध्यात्मिक चिन्तन की एक विशिष्ट अवस्था थी और इसी आध्यात्मिक चिन्तन के क्रम में यह प्रतीत होने लगा कि भौतिक आनन्द क्षणिक है एवं स्थायी आनन्द तो ब्रह्म की प्राप्ति में है। इसलिये ऐसा प्रतीत होता है कि आत्मजिज्ञासुओं एवं मोक्षाकांक्षियों के लिये संन्यासजीवन का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग बन गया और बौद्ध धर्म के पूर्व परिव्राजकों के सम्प्रदाय का अभ्युदय हुआ।

बौद्ध साहित्य में अनेक तापस सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है। दीघनिकाय के सामञ्ञफलसुत्त में अक्रियावाद, देववाद, जड़वाद, अकृतवाद, अनिश्चिततावाद, चातुर्यामसंवर का वर्णन किया गया है। इन सम्प्रदायों के श्रेष्ठताक्रम से पूरण काश्यप, मक्खलिगोसाल, अजितकेसकम्बली, प्रकुध कात्यायन, संजयवेलट्ठिपुत्त एवं निगण्ठनाथपुत्त थे।[1] अचेलक, वस्त्ररहित, रजोजल्लिक, कीचड़वासी साधु, उदकावरोहक (जलवासी), वृक्षमूलिक (सदा वृक्ष के नीचे रहने वाले), उब्भट्ठक (सदा खड़े रहने वाले), पर्यायभक्तिक (बीच–बीच में निराहार रह भोजन करने वाले) मन्त्रअध्यापक, वेदपाठी तापस सम्प्रदायों का उल्लेख है।[2] ये बहुत ही कठिन मार्ग अपनाकर तपस्या करते थे।[3] शरीर को अत्यधिक ताड़ित करते थे। इनकी ये तपस्याएँ इनके जीवन के अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति के लिये होती थी। अचेलसुत्त में अचेल काश्यप के तपस्या से यह विदित होता है कि ये लोग जीवन भर अपने धर्म को अपनाते हुए नंगे रहते थे, सिर को मुंड़ाते थे और अन्य विहित क्रियाओं को करते थे।[4]

इस प्रकार बौद्ध साहित्य में विभिन्न प्रकार के तापसों का उल्लेख आया है जो विभिन्न प्रकार की तपस्याएँ करते थे। इन तापसों का पूर्ण विवरण नहीं मिलता परन्तु विभिन्न तापस सम्प्रदायों में विभक्त होने के पश्चात् भी इनके लक्ष्यों में एकता थी। इन्हें परिव्राजक और तापस शब्दों से अभिहित किया जाता था।

भक्ति सम्प्रदाय– बौद्ध साहित्य में तापस सम्प्रदाय के अलावा भक्ति–सम्प्रदायों का उल्लेख प्राप्त होता है। इस युग में शैव और वैष्णव सम्प्रदाय का अत्यधिक प्रभाव था।

शैव सम्प्रदाय– शिव अपने कल्याणकारी रूप के कारण पूज्य थे। इन्हें महेश्वर, शिव, वृषध्वज, रुद्र भी कहा गया है।[5] ये लोग शिवलिङ्ग की उपासना करते थे। बौद्ध पालि साहित्य में शैव सम्प्रदाय का वर्णन नहीं के समान है। केवल शिव देवपुत्र के रूप में ही प्रयुक्त हुआ है।[6] बाद में चलकर शिव विशिष्ट देव, देवाधिदेव, महादेव, महेश्वर के रूप में उद्धृत हुए हैं। जिनका उल्लेख संस्कृत बौद्ध साहित्य में, जिसकी रचना बाद में हुई है, प्राप्त होता है।

वैष्णव सम्प्रदाय– वैष्णव धर्म का प्रारम्भिक रूप भागवत धर्म के अन्तर्गत भगवान् वासुदेव के पूजन से दर्शित होता है। बाद में चलकर गुप्तकाल में वैष्णव धर्म का विशेष प्रभाव दिखायी पड़ता है। गुप्तकालीन राजा वैष्णव धर्मानुयायी थे। इन्होंने परमभागवत

---

१. *दीघनिकाय, सामञ्ञफलसुत्त, पृष्ठ १९–२२।*
२. *मज्झिमनिकाय, चूल अस्सपुर सुत्त, पृष्ठ १६७।*
३. *वही, महासीहनाद सुत्त, पृष्ठ ५०। दीघनिकाय, कस्सपसीहनाद सुत्त, पृष्ठ ६१–६२।*
४. *संयुक्तनिकाय, अचेल सुत्त, पृष्ठ ५७८, विनयपिटक, पृष्ठ २६।*
५. *दिव्यावदान २५/६, १/४, ३६४/२१–२२, सद्धर्मपुण्डरीक ८८/४।*
६. *संयुत्तनिकाय, भाग–१, सिवसुत्त, पृष्ठ ८५।*

की उपाधि भी धारण की। वैष्णव धर्म का उल्लेख संस्कृत बौद्ध साहित्य में प्राप्त होता है। विष्णु की भक्ति करने वालों को वैष्णव कहा गया।[१] विष्णु के अनेक रूपों राम, बलराम, कृष्ण का उल्लेख मिलता है।[२] पालि जातकों में दशरथजातक, कंसजातक आदि में राम-कृष्ण के नाम आये हैं; परन्तु वे देवता के रूप में नहीं, अपितु राजपुत्र के रूप में है। इस प्रकार बौद्ध साहित्य में शैव सम्प्रदाय एवं वैष्णव सम्प्रदाय के विषय में विशेष जानकारी नहीं मिलती, जबकि गुप्तकाल तक इन दोनों सम्प्रदायों का प्रभाव समाज में अत्यधिक व्याप्त था।

जैन सम्प्रदाय– बौद्ध धर्म और जैन धर्म का विशेष अध्ययन करने से इनके अन्तर्गत दोनों में अन्तर स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। बौद्ध साहित्यान्तर्गत जैन धर्म का जो उल्लेख मिलता है वह उल्लेख नाममात्र का है। जैन धर्मावलम्बियों को निगण्ठ या निर्ग्रन्थ कहा जाता था। जैन धर्म के २४वें तीर्थंकर निगण्ठनाथपुत्र[३] अथवा निग्रन्थ ज्ञातपुत्र[४] (महावीर) थे। जैन धर्मानुयायी जल को छानकर ग्रहण करते थे; क्योंकि वे सभी पापों का निवारण करना चाहते थे। पापों का निवारण कर पापरहित होना चाहते थे।[५] ये निर्ग्रन्थ लोग 'गतात्मा' (अनिच्छुक), 'मतात्मा' (संयमी) और 'स्थितात्मा' कहलाते थे।[६]

जैन धर्मावलम्बी अहिंसा, सुनृत, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इन पाँच महाव्रतों का पालन करते थे। जैन श्रमण या तो मुण्डित नग्न रहते थे अथवा श्वेत वस्त्र धारण करते थे। इनकी नग्नचर्या की तीव्र भर्त्सना की गयी थी।[७] महासच्चक सुत्त में सच्चक निगन्थपुत्त एवं भगवान् बुद्ध की वार्ता से यह विदित होता है कि ये लोग नग्न रहते थे और सामान्य रूप से शारीरिक कष्ट को महत्त्वपूर्ण साधना मानते थे। ये लोग काया की भावना को महत्त्वपूर्ण और चित्त की भावना को गौण मानते थे। इसीलिये काया को अधिक कष्ट देते थे।[८] ये लोग रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान को आत्मा के अधीन मानते थे और इसे नित्य समझते थे।[९]

दीघनिकाय के पासादिक सुत्त से यह ज्ञात होता है कि निगण्ठनाथपुत्त की मृत्यु पावा में हुई थी। उनके मरने पर उनके शिष्यों में तीव्र विवाद हुआ और इस विवाद के फलस्वरूप इस धर्म में दो सम्प्रदाय बन गये। प्रथम सम्प्रदाय को 'श्वेताम्बर'[१०] और द्वितीय सम्प्रदाय को 'दिगम्बर' कहा गया; क्योंकि श्वेताम्बर सम्प्रदाय के लोग वस्त्र धारण करते थे और दिगम्बर सम्प्रदाय के लोग नग्न रहा करते थे। इनका यह विवाद बहुत महत्त्वपूर्ण रहा। जैन धर्म को मानने वाले सङ्घ बनाकर रहते थे।[११] ये लोग जहाँ जाते थे एक साथ

१. *दिव्यावदान ३६६/२५।*
२. *सौन्दरनन्द १०/८, ९/१८।*
३. *सद्धर्मपुण्डरीक ३१/१३-२०।*
४. *दीघनिकाय, सामञ्ञफलसुत्त, पृष्ठ २१।*
५. *वही।*
६. *वही।*
७. *दिव्यावदान १०३/१-२, ८९/९*
८. *मज्झिमनिकाय, महासच्चक सुत्त, पृष्ठ १४७।*
९. *मज्झिमनिकाय, चूळसच्चकसुत्त, पृष्ठ १४०-४२।*
१०. *दीघनिकाय, पासादिकसुत्त, पृष्ठ २५२।*
११. *संयुक्तनिकाय, कुतूहलसालासुत्त, पृष्ठ ६१३।*

समूह रूप में ही जाया करते थे। जैन धर्म में अहिंसा पर अधिक बल दिया गया है।[1] इसके साथ ये लोग गृहस्थों में अपने अन्य चार आदर्शों का भी प्रचार करते थे।[2]

इस प्रकार बौद्ध साहित्य से यह ज्ञात होता है कि जैन धर्म भी उस समय का एक प्रबल सम्प्रदाय था, भले ही उसकी कुछ बुराइयों को लेकर इसकी निन्दा बौद्ध साहित्य में की गयी है। बौद्ध धर्म की प्रबलता तथा स्वयं इस सम्प्रदाय की कुछ मूलभूत कमियों के कारण क्रमशः इसका ह्रास होता गया।

बौद्ध धर्म

बौद्ध धर्म का उद्भव भारत के इतिहास में एक क्रान्तिकारी चरण है। भारतीय संस्कृति की जो धारा वेदों से प्रस्फुटित होकर अनवरत गति से चली आ रही ती, कालान्तर में उस धारा में शिथिलता आ गयी। उस शिथिलता को बौद्ध धर्म ने गति प्रदान की। बौद्ध धर्म के उद्भव से भारतीय चिन्तनपद्धति को एक नयी दिशा प्राप्त हुई। भगवान् बुद्ध ने जनकल्याण के लिये ही देशना दी। उनका 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' का पावन उद्घोष बौद्ध धर्म का मुख्य लक्ष्य रहा। बौद्ध धर्म तत्कालीन भारतीय समाज में अत्यधिक लोकप्रिय था। इसका प्रचार उस समय अनेक अन्य देशों में भी हुआ। बौद्ध साहित्य के द्वारा इस धर्म के विभिन्न पक्षों को समझा जा सकता है। त्रिपिटक तथा अन्य बौद्ध साहित्य भगवान् बुद्ध के उपदेशों एवं उनके द्वारा दिये गये सिद्धान्तों के प्रतिपादन में ही रचा गया। यहाँ संक्षिप्त रूप में बौद्ध साहित्य के आधार पर बौद्ध धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों का उल्लेख किया जायगा।

भगवान् बुद्ध ने कायक्लेश और कायसुख को त्यागकर मध्यम मार्ग अपनाना ही हितकर समझा जिसे 'मध्यमा प्रतिपदा' कहते हैं।[3] सब मार्गों में अष्टाङ्गिक मार्ग, सत्यों में चार (आर्यसत्य रूप) पद श्रेष्ठ हैं।[4] इस तरह का तथ्य बतलाते हुए उन्होंने प्रथम देशना ऋषिपत्तन मृगदाव, सारनाथ में दी जिसे 'धर्मचक्रप्रवर्तन' कहते हैं।

चार आर्यसत्य— उन्होंने संसार के प्राणिमात्र के दुःखों को देखकर उनके निवारण के लिये गृहत्याग किया और चिन्तन मनन के पश्चात् इन चार आर्यसत्यों को प्रतिपादित किया— (१) दुःख, (२) दुःखसमुदय, (३) दुःखनिरोध एवं (४) दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा।[5]

दुःख आर्यसत्य— शरीर और दुःख को एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार पृथ्वी में जल है, आकाश में वायु है, इसी प्रकार दुःख चित्त और शरीर में रहता है।[6] वेदना, रूष, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान ये पाँच उपादान स्कन्ध दुःख हैं।[7] क्योंकि रूप अनित्य हैं, वेदना अनित्य है, संज्ञा अनित्य है, विज्ञान अनित्य हैं, संस्कार अनित्य हैं।[8] जन्म के कारण ही जरामरण है, जन्म न होता तो किसी की कोई जाति न

---

१. संयुत्तनिकाय, शङ्खसुत्त, पृष्ठ ५८४।

२. वही, कुलसुत्त, पृष्ठ ५८५।

३. बुद्धचरित १५/३४, ललितविस्तर, ४१६/१९।

४. धम्मपद नवसंहिता, विनोबा भावे, पृष्ठ १०९।

५. संयुत्तनिकाय, दुक्ख सुत्त, पृष्ठ ३८९।

६. सौन्दरनन्द १६/११।

७. संयुत्तनिकाय, दुक्खसुत्त, पृष्ठ ३३०।

८. वही, पञ्चवग्गिय सुत्त, पृष्ठ ३५१।

होती। जन्म भव के कारण है, भव उपादान के कारण, उपादान तृष्णा के कारण, तृष्णा वेदना के कारण है, वेदना स्पर्श के कारण, नाम रूप के कारण स्पर्श है तो विज्ञान के कारण नामरूप तथा नामरूप के कारण विज्ञान है।[1] इस तरह जन्म दुःख का कारण है। जन्म, बुढ़ापा, मरण, शोक, प्रिय का वियोग, इच्छित वस्तु जो नहीं मिलती है—आदि ये सभी दुःख हैं।[2]

दुःखसमुदय आर्यसत्य— दुःख की उत्पत्ति का कारण तृष्णा है तो बार बार जन्म लेने वाली प्रीति और राग से युक्त स्थानों में गमन करती है।[3] काम, राग आदि दोनों से होने वाले कर्म दुःख के कारण है तृष्णा के कारण ही दुःख है। तृष्णा तीन रूपों में होती है। कामतृष्णा, भवतृष्णा, विभवतृष्णा।[4] भगवान् बुद्ध भिक्षुओं को उपदेश देते हुए कहते हैं—''भव (आवागमन) के होने से जन्म होता है, प्राणी वृद्ध होते हैं, मरते हैं, च्युत होते हैं। जो यह नाम रूप के प्रत्यय से विज्ञान, विज्ञान के प्रत्यय से नाम रूप, नाम रूप के प्रत्यय से षड़ायतन, षड़ायतन के प्रत्यय से स्पर्श, स्पर्श के प्रत्यय से वेदना, वेदना के प्रत्यय से तृष्णा, तृष्णा के प्रत्यय से उपादान, उपादान के प्रत्यय से भव, भव के प्रत्यय से जाति, जाति के प्रत्यय से जरा, मरण, शोक, परिदेव, दुःख और परेशानी होती है। इससे दुःखपुञ्ज की उत्पत्ति (समुदय) होती है।[5] इस प्रकार दुःख के समुदय का वर्णन किया गया है।

दुःखनिरोध आर्यसत्य— दुःखपुञ्ज की उत्पत्ति के स्रोतों का न रहना ही दुःखनिरोध है।[6] पाँच उपादानस्कन्धों का निरोध ही दुःखनिरोध है।[7] रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान अनित्य हैं। इनके न रहने पर कोई जीव नहीं रहता।[8] इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुये बुद्ध कहते हैं— ''नामरूप के निरोध से षडायतन का निरोध, षड़ायतन के निरोध से स्पर्श का निरोध, स्पर्श के निरोध से वेदना का निरोध, वेदना के निरोध से तृष्णा का निरोध, तृष्णा के निरोध से भव का निरोध, भव के निरोध से जन्म का निरोध, जन्म के निरोध से जरामरण, शोक, परिदेव, दुःख सभी निरुद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार सभी दुःखों का निरोध हो जाता है।[9] दुःखनिरोध से ही निर्वाण प्राप्त होता है।[10]

दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा आर्यसत्य— भगवान् बुद्ध ने सांसारिक सुख में जीवन व्यतीत करने वालों एवं कठोर तपस्या को सुखाने वाले तापसों के मार्ग को ठीक न मानते हुये सुख दुःख के उभय अन्तों (छोरों) को त्याग कर मध्यम मार्ग अपनाया। इस मध्यम मार्ग को ही आर्य अष्टांगिक मार्ग कहते हैं।[11]

---

१. दीघनिकाय, महानिदानसुत्त, पृष्ठ ११०।
२. वही, महासतिपट्ठानसुत्त, पृष्ठ १९५–९६।
३. सौन्दरनन्द १६/९।
४. दीघनिकाय, महापदानसुत्त, पृष्ठ १०३; संयुक्तनिकाय, अन्तसुत्त, पृष्ठ ३८९; दीघनिकाय, महासतिपट्ठानसुत्त १९६–९७।
५. दीघनिकाय, महापदानसुत्त, पृष्ठ १०४।
६. सौन्दरनन्द १६/२४–२७; दीघनिकाय, महासतिपट्ठानसुत्त, पृष्ठ १९७।
७. संयुत्तनिकाय, दुक्खसुत्त, ३८९।
८. संयुत्तनिकाय, अनुराधसुत्त, ३७२।
९. दीघनिकाय, महापदानसुत्त, पृष्ठ १०५।
१०. संयुत्तनिकाय, अनुराधसुत्त, ३७३।
११. संयुत्तनिकाय, दुक्खसुत्त, पृष्ठ ३८९; दीघनिकाय, महासतिपट्ठानसुत्त, पृष्ठ १९७; ललितविस्तर ४१७/१३।

अष्टाङ्गिक मार्ग

भगवान् बुद्ध ने मानव को दुःख से मुक्त करने के लिये अष्टाङ्गिक मार्ग का निरूपण किया। दुःख से मुक्ति पाना स्वयं एक कठिन कार्य है, परन्तु तथागत में इस दुरूह कार्य को सुलभ बनाने का प्रयास किया। इन्होंने दुःख से छुटकारा पाने के लिये आठ मार्गों का निरूपण किया। ये आठ मार्ग निम्नलिखित हैं—

(१) **सम्यग्दृष्टि—** सम्यग्दृष्टि से तात्पर्य दुःखविषयक, दुःखसमुदयविषयक, दुःखनिरोधविषयक, दुःखनिरोधगामिनीप्रतिपद्विषयक ज्ञान से है।[1]

(२) **सम्यक् सङ्कल्प—** सम्यक सङ्कल्प का तात्पर्य है कि निष्कामता (अनाशक्ति) का सङ्कल्प, अव्यापाद (अद्रोह) का सङ्कल्प और अहिंसा का सङ्कल्प है।[2]

(३) **सम्यग्वचन—** इसके अन्तर्गत झूठ, कटु वचन एवं प्रलाप (बकवास) का त्याग आते हैं।[3] तात्पर्य यह है कि वाणी पर नियन्त्रण ही सम्यग्वाक् है।

(४) **सम्यक्कर्मान्त—** ऐसा कर्म करना चाहिये जिससे प्राणियों को कष्ट न हो। हिंसा न करना, चोरी न करना, व्यभिचार को त्याग देना ही सम्यक्कर्मान्त है।[4]

(५) **सम्यगाजीव—** मिथ्या आजीव (झूठी जीविका) को छोड़कर सम्यक् आजीव से जीविका का चलाना ही 'सम्यगाजीव' है। यहाँ मिथ्या आजीविका से तात्पर्य भेष, मुखाकृति, हस्तादि के सञ्चालन या कपटपूर्ण बातें करके अथवा पाँच प्रकार की आजीविकाओं, जैसे— शस्त्रों का व्यापार, पशुओं का व्यापार, मांस का व्यापार, शराब का व्यापार, विष का व्यापार, जो हिंसात्मक मानी गयी हैं, से जीविका चलाने से है।

(६) **सम्यग्व्यायाम—** अच्छे कार्यों की वृद्धि एवं अकृत्य कार्यों को न करने से है। बुराइयों को न उत्पन्न होने देने के लिये उद्योग करना ही सम्यक् व्यायाम है।[5]

(७) **सम्यक्स्मृति—** कुशल विचारों का चिन्तन करना ही सम्यक् स्मृति है।[6]

(८) **सम्यक् समाधि—** कामवासना एवं अशुभ कर्मों से दूर होकर विचारयुक्त विवेक से उत्पन्न प्रीति सुख वाले प्रथम ध्यान को, द्वितीय ध्यान को, तृतीय ध्यान को, चतुर्थ ध्यान को प्राप्त कर, साधना करना ही सम्यक् समाधि कहते हैं। चित्त की एकाग्रता इसका लक्ष्य है।[7]

उपर्युक्त चार आर्य सत्यों को जानने वाला तथा अष्टाङ्गिक मार्ग का अनुसरण करने वाला व्यक्ति निर्वाण प्राप्त करता है। भगवान् बुद्ध ने सब मार्गों से अष्टाङ्गिक मार्ग को श्रेष्ठ बतलाया है। सत्यों में चार (आर्य सत्यरूप) पद श्रेष्ठ हैं। यही मार्ग विशुद्धि का मार्ग है, इसके अतिरिक्त दूसरा मार्ग नहीं है।[8] यह अष्टाङ्गिक मार्ग निर्वाण तक पहुँचाने वाला है। इसकी शरण उत्तम शरण है, क्योंकि इसी की शरण में आकर मनुष्य सब दुःखों से मुक्त होता है जैसा कि धम्मपद के निम्नलिखित पद से स्पष्ट होता है—

एतं खो सरणं खेमं एतं सरणमुत्तमं।
एतं सरणमागम्म सब्बदुक्खा पमुच्चति ॥[9]

---

१. दीघनिकाय, महासतिपट्ठानसुत्त, पृष्ठ १९७।
२. वही, पृष्ठ १९७।
३. वही, पृष्ठ १९७।
४. वही, पृष्ठ १९७।
५. वही, पृष्ठ १९७।
६. वही पृष्ठ १९७।
७. वही, पृष्ठ १९७।
८. धम्मपद नवसंहिता, विनोबा भावे, पृष्ठ १०९।
९. वही, पृष्ठ १०८।

शील समाधि एवं प्रज्ञा— बौद्ध साहित्य में प्रज्ञा, शील और समाधि का विशेष उल्लेख हुआ है। अष्टाङ्गिक मार्गों को प्रज्ञा, शील और समाधि के अन्तर्गत ही रखा गया है। जिसको प्रज्ञा सम्बन्धी मार्ग (सम्यग्दृष्टि, सम्यक् सङ्कल्प, सम्यग्व्यायाम), शीलसम्बन्धी मार्ग (सम्यग्वचन, सम्यक्कर्मान्त, सम्यगाजीविका) एवं समाधिसम्बन्धी मार्ग (सम्यक्स्मृति) में विभक्त किया गया है।[1]

प्रज्ञा— प्रज्ञा का अर्थ ज्ञान से है। 'प्रज्ञा' शब्द एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त है। कुशल चित्त से युक्त विपश्यना (तत्त्वसाक्षाद्दर्शन) ज्ञान को 'प्रज्ञा' की संज्ञा दी गयी है।

शील— 'शील' का तात्पर्य अच्छे कर्म करने से है। भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओं को दश शीलों का निरूपण करते हुए जीवहिंसा, चोरी और ब्रह्मचर्य, असत्य, मद्यपान, असमय भोजन, नृत्य-गान, माला गन्ध आदि से विरत, उच्च शय्या, महाशय्या से विरत, सोना-चान्दी के ग्रहण से विरत रहने को कहा है।[2] शील आचार से सम्बद्ध है। बौद्ध साहित्य में इसका विशद विवेचन है।

समाधि— 'समाधि' शब्द का अर्थ सम्यक् आधान होता है। चित्त की एकाग्रता को ही 'समाधि' कहते हैं। यह समाधि मुख्यतः दो प्रकार की है— (१) रूपसमाधि, (२) अरूपसमाधि।

प्रज्ञा, शील एवं समाधि का महत्व

प्रज्ञा, शील एवं समाधि तीनों का रहना मनुष्य के जीवन के लिये श्रेयष्कर है। जो मनुष्य प्रज्ञावान् हैं, शील पर प्रतिष्ठित हैं और समाधि से युक्त हैं, वे इस सांसारिक बन्धन से मुक्त हो जाते हैं।[3] शील से युक्त व्यक्ति में दुःख अङ्कुरित ही नहीं हो सकते। समाधि क्लेशों को रोकती है एवं प्रज्ञा दुःखों को वैसे ही समूल नष्ट कर देती है जैसे वर्षाकाल में नदी अपने किनारे के वृक्षों को उखाड़ फेंकती है। प्रज्ञा से नष्ट हुए दोष उसी तरह पुनः नहीं उत्पन्न होते जैसे वज्राग्नि (विद्युदुत्पात) से वृक्ष नहीं पनपते।[4] इस प्रकार बौद्ध धर्म में प्रज्ञा, शील और समाधि का महत्त्व अधिक है।

पञ्चशील— यह बौद्ध साधना का आधारभूत सिद्धान्त है। आचरण में इसे लाना भिक्खु-भिक्खुणियों का कर्त्तव्य था। पञ्चशील की पाँच बातें निम्नलिखित हैं—

(१) जीव हिंसा से विरत रहना, (२) चोरी से विरत रहना, (३) व्यभिचार से विरत रहना, (४) असत्य भाषण से दूर रहना, (५) मद्यपान से दूर रहना।

ये पाँच आचरण 'पञ्चशील' के नाम से जाने जाते हैं।[5] मानव जीवन को सदाचरण युक्त बनाने के लिये तथागत का यह पञ्चशील सर्वथा उपयुक्त है। इसका मानव जीवन में अत्यधिक महत्त्व है।

त्रिरत्न— बौद्ध धर्म में बुद्ध, धम्म और सङ्घ को 'रत्न' माना गया है। इसे त्रिरत्न भी कहा जाता है।[6] इन तीनों की शरण में जाने की प्रतिज्ञा इस प्रकार है—

(१) बुद्धं शरणं गच्छामि। (२) धम्मं शरणं गच्छामि। (३) सङ्घं शरणं गच्छामि।

---

१. सौन्दरनन्द १६/३१-३३।

२. दीघनिकाय, महावग्ग, पृष्ठ ४७।

३. विशुद्धिमार्ग, निदानकथा, पृष्ठ १।

४. सौन्दरनन्द १६/३४-३७।

५. महावस्तु भाग-३, ३६८/११-१३।

६. ललितविस्तर, २१८/१७।

इसके महत्त्व को दिखाते हुए धम्मपद में निम्नलिखित पद कहा गया है—

''यो वे बुद्धं च धम्मं च सङ्घं च सरणं गतो ।
चत्तारि अरियसच्चानि सम्मप्पञ्ञाय पस्सति ॥''[1]

प्रतीत्यसमुत्पाद— प्रतीत्यसमुत्पाद बौद्ध दर्शन का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। प्रतीत्यसमुत्पाद में दुःख के कारणों का बोध कराने वाली १२ शृङ्खलाओं का वर्णन है। इस सूत्र के अनुसार कोई भी कार्य विना कारण के नहीं हो सकता।[2] इसकी दुरूहता के सन्दर्भ में जब आनन्द ने यह कहा कि 'यह कितना भी गम्भीर क्यों न हो, परन्तु इसे मैंने जान लिया', तो भगवान् बुद्ध कहते हैं— ''ऐसा मत कहो! आनन्द! यह प्रतीत्यसमुत्पाद गम्भीर है और गम्भीर सा दिखता भी है। इस धर्म के न जानने से यह प्रजा (जनता) उलझे सूत सी, गांठें पड़ी रस्सी सी, पतन को प्राप्त हो संसार से पार नहीं हो सकती।''[3] इससे प्रतीत्यसमुत्पाद का महत्त्व प्रत्यक्ष और स्पष्ट हो जाता है। प्रतीत्यसमुत्पाद की १२ कड़ियां है जो निम्नलिखित हैं—

(१) अविद्या	(२) संस्कार	(३) विज्ञान	(४) नामरूप
(५) षडायतन	(६) स्पर्श	(७) वेदना	(८) तृष्णा
(९) उपादान	(१०) भव	(११) जाति	(१२) मरण, शोक

इस का विस्तृत विवेचन हमें बौद्ध साहित्य में देखने को मिलता है जरामरण का कारण जन्म है, जन्म का कारण भव है, भव का कारण उपादान है, उपादान के कारण तृष्णा है, तृष्णा का कारण वेदना है, वेदना का कारण स्पर्श है, स्पर्श का कारण नामरूप है और नामरूप का कारण विज्ञान है।[4] संस्कार भी अविद्या के कारण है और अविद्या संस्कार का कारण है।[5] अविद्या के निरोध से संस्कार का निरोध और संस्कार के निरोध से विज्ञान का निरोध उत्पन्न होता है । इस प्रकार प्रत्येक के निरोध से पूर्व का निरोध स्वयं हो जाता है।

निर्वाण

तथागत के धर्म और विनय का लक्ष्य निर्वाण ही है। दुःखों से मुक्ति पाना एवं ज्ञान की प्राप्ति ही निर्वाण का दूसरा नाम है। यह संसार मृग–तृष्णा के सदृश है। इस मृग–तृष्णा को, प्रज्ञा एवं समाधि के माध्यम से समाप्त किया जा सकता है। तथागत ने निर्वाण मार्ग का निर्माण कर जगत् का पथ–प्रदर्शन किया। बौद्ध साहित्य में निर्वाण का उल्लेख बहुत बार आया है। मज्झिमनिकाय में यह कहा गया है कि—

''आरोग्यपरमा लाभा, निब्बानं परमं सुखं।
अट्ठङ्गिको च मग्गानं, खेमं अमतगामिनं'' ति॥[6]

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि अन्तिम सुख का नाम ही 'निर्वाण' है। निर्वाण के सम्बन्ध में तथागत ने कहा है कि ''भिक्षुओ! वह निर्वाण आयतन है जहाँ न पृथ्वी है, न जल है, न तेज, न वायु, न आकाशानन्त्यायतन, न विज्ञाननन्त्यायतन, न लोक है न परलोक, न प्रकाश देने वाले सूर्य एवं चन्द्रमा ही हैं। उस निर्वाण को मैं न अगति ही कहता

१. धम्मपद, नवसंहिता, विनोवा भावे, पृष्ठ १०८।
२. सद्धर्मपुण्डरीक १३/५, २५१/१८; अवदानशतक, भाग–२, २३/१; दीघनिकाय, महानिदानसुत्त, पृष्ठ ११०।
३. दीघनिकाय, महानिदानसुत्त, पृष्ठ ११०।
४. दीघनिकाय, महानिदानसुत्त, पृष्ठ ११०।
५. ललितविस्तर, ४४५/१२।
६. मज्झिमनिकाय २/२०१।

हूँ न गति ही, वह न तो कहीं ठहरा है न प्रवर्तित ही होता है; परन्तु यह वह निर्वाण पद है जो दु:खों का अन्त है।''[1] निर्वाण एक परमानन्द पद की स्थिति है जिसे मोक्ष का रूप दिया जा सकता है। ब्राह्मण धर्म में जीवन का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष ही है। कामना से भय उत्पन्न होता है। यदि व्यक्ति कामना को नष्ट कर निष्काम हो जाय तो उसका निर्वाण हो जाय।[2]

निर्वाण के सम्बन्ध में धम्मपद में एक पद इस प्रकार वर्णित है कि– ''शरद् ऋतु में खिले कुमुद को मनुष्य जिस तरह हाथ से सहज ही काट डालता है उसी तरह अपने विषय में जो स्नेह है उसे काट डाल, शान्ति मार्ग को बढ़ाता चल, सुगत (बुद्ध) ने निर्वाण ही (लक्ष्य) बताया है।''[3] इससे स्पष्ट होता है कि निर्वाण जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। परमपद निर्वाण की प्राप्ति संस्कारों के पूर्ण शमन से होती है।

निर्वाण के सम्बन्ध में मिलिन्द के पूछने पर नागसेन कहते हैं कि ''महाराज! निर्वाण में सुख ही सुख है, दु:ख का लेश भी नहीं रहता।''[4] इसके अतिरिक्त मिलिन्द और नागसेन के प्रश्नोत्तर निर्वाण को और भी स्पष्ट कर देते हैं। निर्वाण क्लेशों से अलिप्त कामतृष्णा, भवतृष्णा और विभवतृष्णा की प्यास को दूर करता है। वह सभी दु:खों का अन्त कर देता है। निर्वाण न उत्पन्न होता है, न जीर्ण होता है, न मरता है, न आवागमन करता है। वह चारों से नहीं चुराया जा सकता, दूसरों पर निर्भर नहीं रहता, स्वच्छन्द, खुला और अनन्त है, दुर्लभ है। इसमें शीलगन्ध है। इसके विविध गुणों का विस्तार मिलिन्दप्रश्न में है।[5]

निर्वाण शान्त सुख और प्रणीत है। सन्मार्ग पर चलकर बुद्ध उपदेश के अनुसार संसार के सभी संस्कारों को देखते हुये कोई प्रज्ञा से निर्वाण का साक्षात्कार करता है। विघ्नरहित होने से, निरुपद्रव होने से, निर्भय होने से, शान्त होने से, कुशल होने से, सुख होने से, प्रसन्न होने से, नम्र होने से, शुद्ध होने से तथा शील पालन करने से निर्वाण का दर्शन हो सकता है।[6] इस प्रकार निर्वाण एक अलभ्य वस्तु होते हुए भी प्रज्ञा शील एवं समाधि सम्पन्न व्यक्ति के लिये लभ्य है। इससे जगत् के कष्टों का निवारण हो सकता है और मनुष्य अपने जीवन के अन्तिम उद्देश्य प्राप्त कर सकता है।

लोक–धर्म

लोकधर्म का तात्पर्य समाज की उन सभ्यताओं से है जिनका किसी सम्प्रदाय के सिद्धान्तों या धर्म–ग्रन्थों से सीधा सम्बन्ध नहीं होता फिर भी वे लोक जीवन में साम्प्रदायिक धर्म के सामान्य साँचे के भीतर ही परिगणित होते हैं। लोक–धर्म के अन्तर्गत सामाजिक सम्बन्धों, लोक–विश्वासों, स्वप्नफल, शकुन, अपशकुन, वस्त्र, भवन, खान पान, शयन आदि की धारणाओं से ग्रहण किया जाता है। लोकधर्म के पीछे सामाजिक अन्धविश्वास और परम्परा से चली आ रही रूढ़ियां सदैव विद्यमान रहती है। लोकधर्म को लोकरीति और लोकमत भी कहा जाता है।

बौद्ध साहित्य के अध्ययन से तत्कालीन समाज में प्रचलित लोकधर्म का पता

---

१. उदान, पृष्ठ १६२।

२. विनोवा भावे, धम्मपद नवसंहिता, पृष्ठ १११।

३. वही, पृष्ठ ११३।

४. मिलिन्दप्रश्न, (अनुवादक–भिक्षु जगदीश काश्यप), पृष्ठ ३८४।

५. वही, पृष्ठ ३८८–३९६।

६. वही, पृष्ठ ३९७।

चलता है। उस समय के समाज में कुछ ऐसी मान्यताएँ, अन्धविश्वास एवं रूढ़ियाँ विद्यमान थीं जिसका भगवान् बुद्ध ने खण्डन किया फिर भी वे समाज में विद्यमान रही।

तत्कालीन समाज में किसी भी मङ्गल–कार्य को करने के लिये लोग *नक्षत्रों की स्थिति* पर विचार करते थे। ब्राह्मणों द्वारा शुभ मुहूर्त बताने पर ही मङ्गलकार्य का प्रारम्भ होता था, जैसा कि नक्खत्त जातक में कुछ ग्रामवासियों ने आजीवक से पूछा– ''भन्ते! आज हमारी एक मङ्गलक्रिया है। कौन नक्षत्र अच्छा है?''[१] इस प्रसङ्ग से यह विदित होता है कि ग्राम के लोग शुभ मुहूर्त में ही कार्य करते थे। इसका विरोध भी तथागत द्वारा यह कहकर किया गया कि किसी भी विशेष नक्षत्र का विचार न रखते हुए कार्य की सिद्धि ही कार्य का नक्षत्र है।[२] नानछन्द जातक में एक ब्राह्मण ने नक्षत्र देखकर यह जाना कि हमारा राजा शत्रु के हाथ में पड़ गया और उसने राजा की जान बचायी। वह ब्राह्मण नक्षत्र और ग्रह का ज्ञाता था। राजा ने उसे बहुत सा धन दिया।[३] नक्षत्रों के ज्ञाता ब्राह्मणों को 'मौहूर्तिक' कहा जाता था। ऐसे ब्राह्मणों का समाज में उस समय अच्छा स्थान था। समाज में इस तरह की मान्यताएँ प्रचलित थीं।

उस समय *शकुन और अपशकुन* पर भी विचार किया जाता था। मङ्गलजातक में एक ब्राह्मण स्नान करके जब वस्त्र पहनने के लिये मांगा तो देखा कि वह वस्त्र चूहों ने काट दिया है और उसे यह विश्वास हुआ कि यह अमाङ्गलिक है, अतः उसने वस्त्र को घर से बाहर श्मशान घाट पर फेंक दिया। इससे स्पष्ट होता है कि उस समय चूहों का कपड़ा काटना अपशकुन माना जाता था। इस तरह के और भी बहुत से शकुन, अपशकुन सम्बन्धी विश्वास समाज में विद्यमान थे।

स्वप्न–विचार भी किया जाता था। इसके भी उदाहरण प्राप्त होते हैं। शुभ और अशुभ स्वप्न पर समाज में विचार किया जाता था।[४] महासुपिन जातक में कोशल महाराज ने रात्रि को सोते समय सोलह महास्वप्न देखे और इन स्वप्नों के सम्बन्ध में जब आचार्यों से पूछा तो आचार्यों ने उन्हें बताया कि आपका स्वप्न अमाङ्गलिक है जिससे राज्य को खतरा है, जीवनसम्पत्ति तथा भोगसम्पत्ति को खतरा है। अतः आपको इसे अमाङ्गलिक बनाने के लिये यज्ञ करना होगा।[५] इसमें सोलह स्वप्नों पर विचार भी किया गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि स्वप्नविचार से स्वप्न का शुभ और अशुभ होना जाना जाता था।

उस समय मङ्गलरूप पर विशेष ध्यान दिया जाता था। महामङ्गलजातक में यह बताया गया है– ''मङ्गल रूप देखना मङ्गल है। कोई आदमी प्रातः काल उठकर सर्वश्वेत बैल को, गर्भिणी स्त्री को या रोहित मछली को देखता है, गाय का ताजा घी, नये कपड़े अथवा दूध देखता है, इससे बढ़कर मङ्गल नहीं है।

सुन्दर शब्द सुनना मङ्गल है; जैसे– 'बढ़', 'भोजन कर', 'खा' आदि शब्दों का सुनना मङ्गल है। प्रातःकाल ही उठकर पृथ्वी का स्पर्श करना, गीले गोबर का स्पर्श करना, हरित तृण का स्पर्श करना, रोहित मछली को स्पर्श करना, सोने चाँदी का स्पर्श करना तथा भोजन का स्पर्श करना मङ्गल है।''[१] इस प्रकार मङ्गल दृष्ट माङ्गलिक, श्रुत

---

१. जातक, भाग–१, नक्खत्त जातक, पृ॰ ३८०।

२. वही, पृष्ठ ३८१।

३. जातक भाग–३, नानछन्द जातक, पृष्ठ १४६–४८।

४. जातक भाग–१, मङ्गल जातक, पृष्ठ ५२९।

५. वही, महासुपिन जातक, पृष्ठ ४८०–८९।

माङ्गलिक एवं स्पर्श माङ्गलिक तीन प्रकार से विभक्त जनमानस में प्रचलित था। इस तरह के विश्वास लोक में प्रचलित थे।

वृक्षपूजा का प्रचलन भी समाज में था। आयचित्तभत जातक में व्यापारी व्यापार के लिये जाते समय अर्थसिद्धि के लिये इष्टदेव को बलि चढ़ाते थे। इसी प्रसङ्ग में एक गाँव में, एक कुटम्बी में ग्रामद्वार पर खड़े ग्रोध वृक्ष देवता की मनौती मानकर बिना विघ्न बाधा के वापस लौटने पर मनौती पूरी करनी चाही, परन्तु वृक्ष देवता ने उसे रोक दिया।[2] इसी तरह मत्तकभत्त जातक में वृक्ष देवता की कथा आयी है।[3] पलास जातक में ब्राह्मण ने पलासनिवासी वृक्ष देवता को अपनी सेवा से प्रसन्न किया।[4] इसी तरह के और भी प्रसङ्ग प्राप्त होते हैं जिसमें वृक्षों की पूजा का उदाहरण मिलता है।[5] यह भी एक लोकधर्म था। उस समय जनसाधारण में एक विश्वास प्रचलित था कि वृक्ष में देवता अथवा वृक्षों पर देवता या प्रेत आत्माओं का निवास होता है।

भूतप्रेतसम्बन्धी मान्यताओं का भी प्रचलन तत्कालीन समाज में था। सुतनु जातक में एक यक्ष का वर्णन मिलता है जो अपने पहले के अकुशल कर्म के कारण यक्ष योनि में पैदा हुआ। सुतनु ने माण्डव यक्ष को उसके पूर्व कर्म की याद दिलाई।[6] प्रेतात्माओं को ही यक्ष कहा जाता था।[7] ये डराने वाले होते थे। इनका निवासस्थान द्वीप, घनघोर वन, मरुस्थल एवं वृक्ष होता था।[8] श्लेषलोम यक्ष जङ्गल में ही रहता था। संयुत्तनिकाय में सन्दक यक्ष, सुचिलोम यक्ष, मणिभद्र यक्ष, सानु यक्ष, प्रियङ्कर माता यक्षिणी, पुनर्वसु माता यक्षिणी, शिवक यक्ष, आळवक यक्ष का उल्लेख मिलता है।[9] इन यक्षों में यक्षिणियाँ भी थी इनको भगवान् बुद्ध या उनके शिष्यों से वार्तालाप करते हुए दिखलाया गया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन समाज में यक्षों की पूजा होती थी एवं लोग उनके कुकृत्यों से डरते थे।

समाज में भूतों एवं यक्षों से रक्षा करने के लिये मन्त्र का प्रयोग होता था। जैसा कि दीघनिकाय के आटानाटिय सुत्त में कहा गया है कि यक्षों से रक्षा के लिये महायज्ञों, सेनापतियों, महासेनापतियों को पुकारना चाहिये, जिनके नाम निम्नलिखित हैं– इन्द्र, सोम, वरुण, भारद्वाज, प्रजापति, चन्दन, कामश्रेष्ठ, घन्डु और निर्घन्डु।....पर्जन्य, सुमन, सुमुख, दधिमुख, मणि, मणिचर सेरिसिक।।[10]

उपर्युक्त उद्धरण से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि भूत–प्रेत भगाने के लिये मन्त्रों का अत्यधिक प्रचलन था।

बौद्ध साहित्य में *नरक की अवधारणा* भी स्पष्ट की गयी है इसका वर्णन विशेष रूप से मिलता है। नरक की अवधारणा समाज को नियन्त्रित करने के लिये है। अच्छे कर्म

---

१. जातक भाग–४, महामङ्गल जातक, पृष्ठ २७५।

२. जातक भाग–१, आयचित्त भत्त जातक, पृष्ठ २६७।

३. वही, मत्तक मत्त जातक, पृ० २६४।

४. जातक भाग–३, पलास जातक, पृष्ठ १९२।

५. जातक भाग–३, वियग्ध जातक, पृष्ठ ८१; जातक भाग–४, कोटिसिम्बलि जातक, पृष्ठ ५७।

६. जातक भाग–३, सुतनु जातक, पृष्ठ ४७३।

७. संयुक्तनिकाय भाग–१, पियंकरसुत्त, पृष्ठ १६७।

८. जातक भाग–१, पञ्चावुध जातक, पृष्ठ ४००।

९. संयुत्तनिकाय भाग–१, यक्ष संयुत्त, पृष्ठ १६४–१७१।

१०. दीघनिकाय, आटानाटियसुत्त, पृष्ठ २८०।

न करने पर नरक में नाना प्रकार की यातनाएँ उठानी पड़ती है, ऐसा विश्वास लोगों में व्याप्त था। देवदूतसुत्त में नरक का भयावह वर्णन किया गया है।[1] नरक में पद्म नरक, अब्बुद नरक, निब्बुध नरक, अटट नरक, कुमुद नरक, सौगन्धिक नरक, उत्पन्ल नरक, पुण्डरीक नरक हैं।[2] इसके अतिरिक्त संजीव, कालासूत, सहान्त, रौरव, महारौरव, तपन, प्रतापन, अवीचि, हहव, हुहुव आदि नरकों का भी उल्लेख मिलता है। यह वर्णन इस बात की तरफ भी इंगित करता है कि समाज में नरक का भय अत्यधिक था। नरक की कल्पना मनुष्य के व्यवहार को नियन्त्रित करने के लिये थी।

इस तरह बौद्ध साहित्य में वर्णित समाज में लोकधर्म का जो रूप प्रचलित था वह वैदिक समाज के लोकधर्म का ही विकसित रूप था। इस प्रकार के लोकधर्मसम्बन्धी विश्वास एवं रूढ़ियाँ परवर्ती मध्यकालीन समाज में प्रचलित रही थीं और आधुनिक भारत के अपढ़ ग्रामीण समाज में उसी तरह प्रचलित हैं जैसे प्राचीन युगों में थी। आदिम मानव समाज में जो टोटका, जादू, टोना, बलि आदि प्रथाएँ प्रचलित थीं उन्हीं से धर्म का विकास हुआ था। वे समाज में अपने मूल रूप में सदैव वर्तमान रही हैं।

---

१. मज्झिमनिकाय, देवदूतसुत्त, पृष्ठ ५४१–५४४।

२. संयुत्तनिकाय, कोकालिकसुत्त, पृष्ठ १२४।

उपसंहार

उपसंहार

इस ग्रन्थ के पिछले अध्यायों में बौद्ध साहित्य में वर्णित भारतीय समाज के विविध पक्षों पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने का यह उद्देश्य रहा है कि इतिहास के उपेक्षित पक्ष (सामाजिक इतिहास) पर प्रकाश डाला जाय और भारतीय समाज के विकास की टूटी हुई कड़ियों को जोड़कर उसकी नैरन्तर्यपूर्ण एकता की अवधारणा को पुष्ट किया जाय। विदेशी इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास को मनमाने ढंग से तोड़ मोड़ कर उपस्थित करने का प्रयास किया इसमें इनका उद्देश्य यह प्रमाणित करना था कि भारत एक ऐसा देश रहा है जिस पर सदैव बाहरी अथवा विदेशी जातियों ने आक्रमण कर न केवल अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित किया, अपितु उन्होंने अपनी संस्कृति और धर्म को भी यहाँ के पूर्ववर्ती निवासियों पर बलपूर्वक आरोपित किया। इस तरह भारतीय समाज कभी भी जातीय, धार्मिक और सांस्कृतिक एकता के सूत्र में बद्ध नहीं था। इसीलिये उन्होंने भारत को एक उपमहाद्वीप कहकर उसे विभिन्न जातियों, धर्मों और संस्कृतियों का एक 'अद्भुत संग्रहालय' सिद्ध करना चाहा; किन्तु वास्तविकता सर्वथा इसके विपरीत है।

विदेशी इतिहासकारों ने इतिहास के स्रोतों को देखने की जो दृष्टि अपनायी वह सर्वथा स्थूल और भारतविरोधी थी। उन्होंने यूनानी, अरबी, फारसी और चीनी साहित्य के स्रोतों को ही अपना मूल आधार बनाया और भारतीय साहित्य की विशाल परम्परा की पूर्णतया उपेक्षा की। उन्होंने स्थूल शिलालेखों और स्फुट अभिलेखों को तो महत्त्व दिया किन्तु वैदिक वाङ्मय, पौराणिक साहित्य, बौद्ध साहित्य और जैन साहित्य के साक्ष्यों की ओर बहुत कम ध्यान दिया। इसका कारण यह था कि वे वैदिक संस्कृत, पालि और प्राकृत भाषा से अधिकतया अपरिचित थे। इस दिशा में अंग्रेज, जर्मन और प्राच्य संस्कृतविदों और भाषा वैज्ञानिकों के पक्षपातपूर्ण वक्तव्यों को ही इतिहास–लेखन का आधार बनाया परिणामस्वरूप उन्होंने भारतीय इतिहास की जो रूपरेखा निर्मित की वह मूल में ही त्रुटिपूर्ण हो गयी और वे किसी भी प्रकार मानने को तैयार नहीं थे कि भारतीय समाज की एक अखण्ड और दीर्घकालिक सांस्कृतिक परम्परा रही है जो वैदिक काल से लेकर आज तक अनवरुद्ध रूप से प्रवाहित होती आ रही है।

अतः वे भारत के प्राचीन निवासियों को असभ्य और असंस्कृत मानते थे जिन्हें उनकी दृष्टि में पश्चिम से आये लोगों ने ही समय समय पर सभ्यता और संस्कृति का पाठ पढ़ाया। यह समान धारणा भारतीयों में परतन्त्रता और हीनता की मनोवृत्ति उत्पन्न करने के लिये ही निर्मित की गयी थी। भारतीय साहित्य के अज्ञान के कारण ही उन्हें इतिहास–सम्बद्ध तथ्यों की कल्पना करनी पड़ी जो सर्वथा निराधार है। उदाहरण के लिये उनकी यह धारणा द्रष्टव्य है कि भारत का इतिहास गौतम बुद्ध के काल से प्रारम्भ होता है। बौद्ध साहित्य में जिस समाज का चित्रण हुआ है वह इतना विकसित था कि उसके आधार पर यह कल्पना भी नहीं की जा सकती कि उसके पूर्व भारत का कोई इतिहास ही नहीं था अथवा यहाँ का समाज अविकसित एवं असभ्य था। यदि सैन्धव सभ्यता का पता न लगा होता तो सम्भवतः उनकी उपर्युक्त धारणा आज भी सत्य मानी जाती। पुरातत्त्वसम्बन्धी

उपलब्धियों के कारण यह आवश्यकता प्रतीत हुई कि प्राचीन भारतीय वाङ्मय, विशेषकर वैदिक और पौराणिक साहित्य, के आधार पर उन पुरातात्त्विक खोजों का आकलन किया जाय तथा भारत के आद्य इतिहास की रूपरेखा निर्मित की जाय। यदि ई०पू० चतुर्थ और तृतीय शताब्दी में भारत के निवासी अत्यन्त उन्नत सैन्धव सभ्यता का विकास कर सकते थे तो क्या उसके बाद गौतम बुद्ध के काल तक वह सभ्यता उत्तरोत्तर ह्रासशील होकर नष्ट हो गयी? इस प्रश्न का उत्तर हमें भारतीय वाङ्मय से मिल सकता है यदि हम ऋग्वेद से लेकर त्रिपिटक तक के साहित्य का क्रमबद्ध अनुशीलन करें तो हमें भारतीय इतिहास के राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक पक्ष का विकासमान और क्रमबद्ध रूप स्पष्ट दिखायी पड़ सकता है।

बौद्ध साहित्य में भारतीय समाज का जो चित्र प्रस्तुत किया गया है वह भारत के आधुनिक इतिहासकारों की आँख खोलने वाला है। त्रिपिटक का सङ्कलन पहली शताब्दी तक हो चुका था उनमें इतिहाससम्बन्धी जो साक्ष्य हैं वे रामायण और महाभारत के इतिहास की ओर इङ्गित करते हैं। इसी प्रकार रामायण एवं महाभारत में जो साक्ष्य हैं वे सैन्धव वैदिक काल के इतिहास की ओर स्पष्ट अंगुलिनिर्देश करते दिखायी पड़ते हैं। अतः स्वतन्त्र भारत के इतिहासकारों का कर्त्तव्य है कि वे प्राचीन भारतीय साहित्य एवं पुरातात्त्विक उत्खनन का तुलनात्मक अध्ययन करके भारत के आद्य इतिहास की रचना करें।

प्रस्तुत ग्रन्थ इसी दिशा में एक लघु प्रयास है। यह एक प्रकार से भारत के आद्य इतिहास की भूमिका है। यदि हम भारत का आदि इतिहास बुद्ध के काल से प्रारम्भ कर परवर्ती युगों की ओर आते हैं तो हमें भारत के बुद्धपूर्व अज्ञात इतिहास को जानने के लिये बौद्ध काल से प्रारम्भ करके पूर्ववर्ती युगों की ओर अग्रसर होना पड़ेगा। इस तरह बौद्ध साहित्य भारत के आद्य इतिहास और ज्ञात इतिहास के सन्धिस्थल का साहित्य है। इसी कारण इसका महत्त्व बहुत अधिक है। इससे हमें पाँचवीं शती ई०पू० से लेकर ईसा की आठवीं शताब्दी तक के सामाजिक इतिहास का ज्ञान होता ही है साथ ही बुद्धपूर्व के ३००० वर्षों के इतिहास की ओर बढ़ने का दिशा–बोध भी प्राप्त होता है। यदि बौद्ध साहित्य हमें इतिहास की सामग्री दे सकता है तो वैदिक साहित्य, उपनिषद् ग्रन्थ, सूत्र साहित्य, पुराण साहित्य और रामायण, महाभारत का विशाल साहित्य भी तत्कालीन इतिहास की प्रभूत सामग्री प्रदान करने में पूर्णतया समर्थ है। इस इतिहास का अनुशीलन करना मेरे भावी जीवन का लक्ष्य है। प्रस्तुत ग्रन्थ उसी लक्ष्य की ओर बढ़ने का प्रथम चरण है।

परिशिष्ट

स्रोत ग्रन्थ

पालि एवं संस्कृत बौद्ध साहित्य

अभिधर्मकोष	:	सं० राहुल सांकृत्यायन, काशी विद्यापीठ, वाराणसी
अवदानशतक, भाग–१	:	सं० जे.एस. इस्पेयर, प्र० सेन्ट पिट्सवर्ग, १९०२
अवदानशतक, भाग–२	:	–वही–, १९०९
उदान	:	सं. महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, रंगून, १९३७
अङ्गुत्तरनिकाय (प्रथम भाग)	:	अनु० भदन्त आनन्द कौसल्यायन, प्र० महाबोधिसभा, कलकत्ता, १९६३
अङ्गुत्तरनिकाय (द्वितीय भाग)	:	–वही–
अङ्गुत्तरनिकाय (तृतीय भाग)	:	–वही–
करुणापुण्डरीक	:	सं. राय शरच्चन्द्रदास बहादुर तथा शरत् चन्द्र शास्त्री, प्र० बुद्धिस्ट टैक्स्ट सोसाइटी, कलकत्ता, १८९८
जातक (प्रथम भाग)	:	अनु० भदन्त आनन्द कौसल्यायन, प्र० हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सम्वत् २०१३
जातक (द्वितीय भाग)	:	–वही–
जातक (तृतीय भाग)	:	–वही–
जातक (चतुर्थ भाग)	:	–वही–
जातक (पंचम भाग)	:	अनु० भदन्त आनन्द कौसल्यायन, प्र० हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सम्वत् २०१३
जातक (षष्ठ भाग)	:	–वही–
जातक	:	अनु० कावेल्स, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी, १८९५–१९०७
जातकमाला	:	अनु० सूर्यनारायण चौधरी, प्र० मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, वाराणसी, पटना
जातक अट्ठकथा	:	सं० धर्मरक्षित, १९५१
थेरी गाथा	:	अनु० भरत सिंह उपाध्याय, प्र० नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६०
थेरगाथा	:	अनु० भिक्षु जगदीश कश्यप, नालन्दा
दिव्यावदान	:	सं० पी० एल० वैद्य, प्र० मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा
दीपवंस	:	सं० एवं अनु० ओल्डेनवर्ग, विलियम्स एण्ड नारगेट, लन्दन, एडिनवर्ग, १८७९
दीघनिकाय	:	अनु० भिक्षु राहुल सांकृत्यायन एवं भिक्षु जगदीश काश्यप
दीघनिकाय (पालि)	:	सं० भिक्षु जगदीश काश्यप, प्र० पालि प्रकाशनमण्डल, नालन्दा, बिहार सरकार

दीघनिकाय (पालि) (द्वीतय भाग) : –वही–

दीघनिकाय (पालि) (तृतीय भाग) : –वही–

धम्मपद (नव संहिता) : सं० विनोवा भावे, अनु० कुन्दरीवाण

बुद्धचर्या : अनु० राहुल सांकृत्यायन, प्र० महाबोधि सभा, सारनाथ वाराणसी

बुद्धचरित (प्रथम भाग) : अनु० सूर्यनारायण चौधरी, प्र० संस्कृत भवन कठौतिया, पूर्णिया, १९५५

बुद्धचरित (द्वितीय भाग) : –वही– १९५३

बोधिचर्यावतार : अनु० शान्तिभिक्षु शास्त्री, प्र० बुद्धविहार, लखनऊ, १९५५

महावस्तु : स० सेनार्ट, पेरिस, १८८२

महापरिनिब्बानसुत्त : अनु० भिक्षु धर्मरक्षित, प्र० ज्ञानमण्डल लि०, काशी

मज्झिमनिकाय : अनु० त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन, प्र० महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी, १९६४

महावंश : अनु० भदन्त आनन्द कौसल्यायन, प्र० हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

महावस्तु अवदान (भाग–३) : सं. ई० सेनार्ट, प्र० पेरिस, १८८२–१८९९

ललितविस्तर (भाग–२) : सं० एस. लेफ्मेन, प्र० हाल ए०एम० १९०२–१९०८

ललितविस्तर : सं० राजेन्द्रलाल मित्रा, प्र० एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, कलकत्ता

ललितविस्तर : सं० पी० एल० वैद्य, दरभंगा

पेतवत्थु : सं० राहुल सांकृत्यायन

इतिवुत्तक : सं० विंडिस, आक्सफोर्ड, १९३९

विनयपिटक : अनु० राहुल सांकृत्यायन, प्र० महाबोधिसभा, वाराणसी, १९३५

विशुद्धिमार्ग : अनु० भिक्षु धर्मरक्षित, प्र० महाबोधिसभा, वाराणसी

सद्धर्मपुण्डीक : अनु० राममोहन दास, प्र० बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना

सद्धर्मपुण्डरीक : सं० नलिनाक्षदत्त, प्र० एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता

सुत्तनिपात : अनु० भिक्षु धर्मरक्षित, प्र० महाबोधिसभा, वाराणसी,

सौन्दरनन्द (प्रथम भाग) : सं० हरप्रसाद शास्त्री, कलकत्ता, १९१०

सौन्दरनन्द (द्वितीय भाग) : सं० तथा अनु० सूर्यनारायण चौधरी, प्र० संस्कृतभवन, कठौतिया, कूर्णिया, बिहार, १९०५

सौन्दरनन्द (तृतीय भाग) : –वही–

संयुत्तनिकाय (प्रथम भाग) : अनु० भिक्षु जगदीश काश्यप एवं त्रिपिटिकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित, प्र० महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी

संयुत्तनिकाय (द्वितीय भाग) : –वही–

संस्कृत ग्रन्थ

ऋग्वेद सायणभाष्य, : चौखम्भा संस्कृत प्रकाशन, वाराणसी

कौटिलीय अर्थशास्त्रम् : अनु० वाचस्पति गैरोला, प्र० चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी

मनुस्मृति : टीकाकार—हरगोविन्द शास्त्री, प्र० चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी

उपनिषद् : प्रकाशन—गीताप्रेस, वि० १९१८

हिन्दी ग्रन्थ

आचार्य बुद्धघोष : भिक्षु धर्मरक्षित, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९५६

गौतम बुद्ध : आनन्द के. कुमार स्वामी, अनु० देवेन्द्र चन्द्र, प्रकाशन विभाग, सूचना प्रसारण मंत्रालय, भारत, १९६६

दिव्यावदान में संस्कृति का स्वरूप : डॉ० श्याम प्रकाश, प्रगति प्रकाशन, आगरा, १९७०

पालि साहित्य का इतिहास : भरत सिंह उपाध्याय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग १९५७

पाणिनिकालीन भारतवर्ष : डॉ, वासुदेव शरण अग्रवाल, बनारस, स.० २०१२

प्राचीन भारतीय साहित्य की भूमिका : रामजी उपाध्याय, देवभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, १९६६

प्राचीन राजवंश और बौद्धधर्म : डॉ. अच्युतानन्द घिल्डियाल, विवेक घिल्डियाल बन्धु, वाराणसी, १९७५

प्राचीन भारत में जनतन्त्र : डॉ. देवीदत्त शुक्ल, हिन्दी समिति, लखनऊ, १९७५

प्राचीन भारत में जनपद राज्य : डॉ. सुदामा मिश्र, काशी विद्यापीठ, वाराणसी, १९७२

प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास : डॉ, जयशंकर मिश्र, बिहार हिन्दी ग्रन्थ एकादमी, पटना १९७१

प्राचीन भारतीय वेशभूषा : डॉ. मोतीचन्द्र, प्रयाग, सं० २००७

प्राचीन नेपाल का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास : डॉ. श्रीराम गोयल, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी १९७३

प्राचीन भारतीय साहित्य (प्रथम खण्ड) : विन्टरनित्ज, अनु० लाजपत राय, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी

प्राड्मौर्य विहार : डॉ. देवसहाय त्रिवेदी, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना, १९५४

बुद्ध और बौद्ध धर्म : ले० आचार्य चतुरसेनशास्त्री, प्र० भारती प्रकाशन, लखनऊ, १९६४

बुद्धकालीन समाज और धर्म	:	डॉ. मदनमोहन सिंह, प्र० बिहार हिन्दी ग्रन्थ एकादमी, पटना, १९७२
बुद्धकालीन भारतीय भूगोल	:	ले०–डॉ. भरतसिंह उपाध्याय, प्र० हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं० २०१८
बुद्धकालीन राजगृह	:	ले० अनन्तकुमार, बिहार हिन्दी ग्रन्थ एकादमी, पटना १९७४
बौद्ध संस्कृति का इतिहास	:	ले० डॉ. भागचन्द्र चैन, प्र० आलोक प्रकाशन, नागपुर, १९७२
बौद्ध भारत	:	अनु० ध्रुवनाथ चतुर्वेदी, प्र० किताब महल, इलाहाबाद १९५८
बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास	:	ले० डॉ. गोविन्द्र चन्द्र पाण्डेय, प्र० हिन्दी समिति, उ०प्र० लखनऊ, १९६३
बौद्ध धर्म एवं विहार	:	ले० हवलदार तिवारी, सहृदय प्र० विहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना
बौद्ध एवं जैन आगमों में नारी–जीवन	:	डॉ. कोमलचन्द्र जैन, जैन धर्म प्रचारक, समिति, अमृतसर, १९६१
बौद्ध दर्शन और वेदान्त	:	डॉ. चन्द्रधर शर्मा, स्टूडेन्ट फ्रेन्ड्स, वाराणसी, १९४९
बौद्ध धर्म और दर्शन	:	आचार्य नरेन्द्रदेव, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९५६
भगवान् बुद्ध और उनका धर्म	:	भीमराव रामजी अम्बेडकर, अनु० भदन्त आनन्द कौसल्यायन, भारती बौद्ध शिक्षा परिषद्, श्रावस्ती, १९७०
भारत की सामाजिक क्रान्ति	:	डॉ. रामजी उपाध्याय, रामनारायण लाल बेनीमाधव, इलाहाबाद, १९६२
भारतवर्ष का इतिहास	;	प्रो० रामदेव, गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार, १९११
भारतीय कला	:	डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, वाराणसी, १९६६
भारतीय संस्कृति की रूपरेखा	:	पृथ्वीकुमार अग्रवाल, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी (द्वितीय संस्करण), १९७०
यौधेयों का इतिहास	:	ए.बी.एल. अवस्थी, लखनऊ, १९६१
बैदिक साहित्य एवं संस्कृति	:	श्री बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, वाराणसी, १९६७
बैदिक साहित्य और संस्कृति	:	वाचस्पति गैरोला, समवर्तिका प्रकाशन, इलाहाबाद, १९७१
संस्कृत बौद्ध साहित्य में भारतीय जीवन	:	डॉ. अंगने लाल, कैलास प्रकाशन, लखनऊ, १९६८
हड़प्पा	:	केदारनाथ शास्त्री, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, १९५९
हिन्दू राजतंत्र	:	डॉ. काशीप्रसाद जायसवाल, अनु० रामचन्द्र वर्मा, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं० २०२२
हिन्दू सभ्यता	:	डॉ. राधाकुमुद मुखर्जी

हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप
विकास : डॉ. शम्भुनाथ सिंह, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी
हिन्दी साहित्य की भूमिका : आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई

अंग्रेजी ग्रन्थ

ए स्टडी ऑफ दी महावस्तु
इट्स सप्लिमेन्ट्स : बी.सी.ला. कलकत्ता, १९३०
एग्रीकल्चर एण्ड एग्रीकल्च-
रिस्ट्स इन एन्सियन्ट इण्डिया : आर. गंगोपाध्याय, १९३२
ऐस्पेक्ट्स ऑफ महायान : एन. दत्त. ल्यूजेक एण्ड कं०, १९३०
अभिधम्म लिट्रेचर इन वर्मा : स० ज० ओंग, सन् १९१०–१२
ए हिस्ट्री ऑफ ऐन्सियेन्ट
लिट्रेचर : मैक्समूलर, लन्दन, १९६०
एन्सिएन्ट इण्डिया ऐट ए
ग्लान्स : स्वामी तत्वानन्द, कलकत्ता, १९६२
ऐन्सियन्ट इण्डियन हिस्ट्री
एण्ड कल्चर : बी०जी० गोखले, लखनऊ, १९७०
बुद्धिस्ट इण्डिया : रायस डेविस, लन्दन, १९०३
बुद्धिज्म इट्स हिस्ट्री एण्ड
लिट्रेचर : रायस डेविस, लन्दन, १८९६
बुद्धिस्ट हाइब्रिड संस्कृत : फ्रेंकलिन ऐण्ड गर्टन, बनारस, १९५४
बुद्धिज्म एण्ड बुद्धिस्ट
लिट्रेचर इन सेन्ट्रल एशिया : क्षणिका साह, कलकत्ता, १९७०
बुद्धिज्म इन चाइना : के.के. एस. चेन, न्यू जर्सी, १९६४
बुद्ध मार्क्स ऐण्ड गॉड : ट्रेवोर लिंग, मैकमिलन, लन्दन, १९६६
बुद्धिज्म इन ईस्ट एशिया : सुकुमारदत्त
कास्ट सिस्टम ऑफ नार्दर्न
इण्डिया : जी.एस. धूर्ये, न्यूयार्क, १९५०
सिविलाइजेशन इन ऐन्सियेन्ट
इण्डिया : नन्दलाल दे, इण्डोलाजिकल बुक हाउस, वाराणसी, १९७२
एजुकेशन इन ऐन्सियेन्ट
इण्डिया : अ०स० अल्तेकर, वाराणसी, १९४४
अर्ली, बुद्धिस्ट स्क्रिप्चर्स : ई.जे. टामस, लन्दन, १९३५
अर्ली, मोनेस्टिक बुद्धिज्म : नलिनाक्ष दत्त, कलकत्ता, १९४१
फूड ऐण्ड ड्रिंक्स इन ऐन्सियेन्ट
इण्डिया : ओमप्रकाश, दिल्ली, १९६१

हिस्ट्री ऑफ पालि लिट्रेचर	:	डॉ. विमलचरण लाहा, लन्दन, १९३३
हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र	:	पा० बे० पाण्डेय, पूना, १९३०
हिस्ट्री ऑफ बुद्धिस्ट थाट	:	ई०जे० टामस, लन्दन, १९५३
हिस्ट्री ऑफ कास्ट्स इन इण्डिया	:	एस.बी. केतकर, न्यूयार्क, १९०९
मैनुअल ऑफ इण्डियन बुद्धिज्म	:	श्री कर्ण, स्ट्रैस वर्ग, १८९६
मैनुस्कृप्ट रिमेन्स ऑफ बुद्धिस्ट लिटरेचर	:	रुडोल्फ होर्नटे, आक्सफोर्ड, १९१६
क्षत्रिय क्लेन्स इन बुद्धिस्ट इण्डिया	:	बी.सी. ला. कलकत्ता, १९२२
लिट्रेरी हिस्ट्री ऑफ संस्कृत बुद्धिज्म	:	जी.के. नरीमैन, बम्बई, १९२०
आउट लाइन्स ऑफ बुद्धिज्म	:	मि० राइस डेविड् ज, लन्दन, १९३४
पालि लिट्रेचर ऐण्ड लैंग्वेज	:	डॉ. विलियम गायगर, कलकत्ता, १९४३
सम क्षत्रिय ट्राइब्स इन ऐन्सियेन्ट इण्डिया	:	बी.सी.ला, कलकत्ता, १९२४
शूद्राज इन एन्सियेन्ट इण्डिया	:	आर. एस. शर्मा, दिल्ली, १९५८
सोर्सेज ऑफ इण्डियन हिस्ट्री	:	के. ए. एन. शास्त्री, मद्रास, १९६१
स्लेवरी इन एन्सियेन्ट इण्डिया	:	डी. आर. चनन, बम्बई, १९६०
सोसाइटी ऐट दी टाइम ऑफ बुद्ध	:	नरेन्द्र वांगले, बम्बई, १९६६
सोसल लाइफ इन ऐन्सियेन्ट इण्डिया	:	एच. सी. चकलाधर, कलकत्ता, १९२९
दी सोसल आर्गनाइजेशन इन नार्थ	:	रिचर्ड फिक, वाराणसी, १९७२
ईस्ट इण्डिया (इन बुद्धिस्ट टाइम	:	रिचर्ड फिक, वाराणसी, १९७२
दी सिविलाइजेनशन इन इण्डिया	:	लुइस रेना, कलकत्ता, १९५७
दी रिलिजन ऑफ इण्डिया	:	मेक्स बेवर
दी इकोनामिक लाइफ ऑफ नार्दन इण्डिया	:	लल्लन जी गोपाल, वाराणसी, १९६५
दी ह्यूमेन्स ऑफ ऋग्वेद	:	टी. एच. ग्रिथ
दी पालि लिट्रेचर ऑफ सीलोन	:	जी०पी० मलल स्वेकर
दी हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिट्रेचर	:	डॉ. विण्टरनित्जं, कलकत्ता, १९३३
दी पालि लिट्रेचर ऑफ वर्मा	:	नेविल वोल्ड, लन्दन, १९०९

दी संस्कृत लिट्रेचर इन नेपाल : राजेन्द्रलाल मित्र, कलकत्ता, १९७१

शोध पत्र–पत्रिकाएँ

दी महाबोधि, महाबोधि सोसाइटी, कलकत्ता
बिब्लियोग्रफेबुद्धिके भाग ७, ८
''आजकल'', दिल्ली
''धर्मदूत'', सारनाथ
''भारती'', वाराणसी
''पुराकल्प'', समकालीन प्रकाशन, वाराणसी
''आज'' दैनिक, वाराणसी